www.abdpindia.net

ISSN 0974-8849

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष-69

अंक-1

जनवरी-मार्च, 2023

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

वर्ष-69 अंक-1 जनवरी-मार्च, 2023

Printed by : Satyam Publication, Delhi & Patna, 09386365631

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

पदाधिकारीगण

अध्यक्ष

प्रो. जटाशंकर, आचार्य एवं अध्यक्ष (से.नि.), दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002, मो. : 09415634523, 09450961736, ई-मेल : profjatashankar@gmail.com

कार्यकारी अध्यक्ष

प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल, कुलपति, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, मो. : 07007243163

उपाध्यक्ष

प्रो. औतार लाल मीणा, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, जयनारायण व्यास वि.वि. जोधपुर, मो. : 09414295615

डॉ. शिवानी शर्मा, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, पंजाब वि.वि., चण्डीगढ़, मो. : 09814481575

सचिव

प्रो. ज्योति स्वरूप दुबे, डी.के. 5/176 दानिश कुंज, कोलार रोड, भोपाल-462042 (म.प्र.), मो. : 09425187989, email-jsdubey2010@gmail.com

संयुक्त सचिव

प्रो. रवीन्द्र के. एस. चौधरी, विश्वविद्यालय, आचार्य, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग सिदो कान्हु मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका-814110 (झारखण्ड) मो.-9470120853

डॉ. नमिता निम्बालकर, दर्शनशास्त्र विभाग, मुम्बई वि.वि. मो. : 09819389567

डॉ. राजेश्वर यादव, दर्शनशास्त्र विभाग, लखनऊ वि.वि., मो. : 09415789303

कोषाध्यक्ष

प्रो. दिलीप चारण, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, नवरंगपुरा अहमदाबाद, मो. : 09825148840

प्रधान सम्पादक

प्रो. रमेशचन्द्र सिन्हा, 201-202, सप्तर्षि अपार्टमेंट, राजकिशोरी कम्पलेक्स, कंकड़बाग, पटना-800020 (बिहार), मो. : 09334306254, 09234302879, ई-मेल : rcsinha22@gmail.com

सम्पादक

डॉ. शैलेश कुमार सिंह, 401, रामपरीप्रभा मैन्सन, आनंदपुरी, वेस्ट बारिंग कैनाल रोड, पटना-800001, मो. 09431821099, ई-मेल : drsingh_7@hotmail.com

डॉ. श्यामल किशोर, साकेतपुरी, बाजार समिति, राजेन्द्र नगर, पटना-800016, मो. 8210244310, ई-मेल : shyamalkishore11@gmail.com

सम्पादक का आग्रह

- कृपया संदर्भ मूल पुस्तक के आधार पर दें।
- आलेख के साथ सी.डी. अवश्य दें तथा आलेख (PageMaker 5.0 or Adobe Page Maker 6.5/7.0 अथवा MS Word format में Font-Kruti Dev 010 (हिन्दी) में होनी चाहिए, तभी छपने के लिए विचारार्थ सम्पादक मंडल के पास प्रेषित किया जायेगा।
- आलेख में तर्कपूर्ण बातों को प्रस्तुत करें तथा अपने अभिमत को स्पष्ट करें।
- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और पुनरावृत्ति यदि तर्क को पुष्ट करता है तभी दें। दार्शनिक पक्ष पर अधिक बल दें।
- संदर्भ ग्रन्थ का उल्लेख सावधानी से और यथोचित स्थान पर करें।
- प्रचलित स्थापनाओं से मतभेद होने पर तर्कपूर्ण रूप में अपनी बातों को रखें।
- भाषा की सरलता एवं शुद्धता पर ध्यान दें।
- आलेख ज्यादा से ज्यादा 3000 शब्दों में होना चाहिए।
- संदर्भ-सूची आलेख के अन्त में दें।
- वैसा ही आलेख छपने के लिए सम्पादक मंडल के पास दें जो अन्यत्र नहीं छपा हो।
- संदर्भ देते समय ध्यातव्य है कि लेखक का नाम, पुस्तक का शीर्षक, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन का स्थान तथा वर्ष और अन्त में पृष्ठ संख्या अवश्य दें।
- अन्ततः अपना पूरा पता, मोबाइल, फोन और ई-मेल दें।
- आलेख में प्रस्तुत विचार लेखक के हैं। सम्पादक की सहमति/असहमति का प्रश्न नहीं उठता है।

www.abdpindia.net

ISSN 0974-8849
अभिनिर्देशित
(Peer Reviewed)

दार्शनिक त्रैमासिक

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

वर्ष-69 अंक-1 जनवरी-मार्च, 2023

प्रधान सम्पादक

डॉ. रमेश चन्द्र सिन्हा

पूर्व अध्यक्ष, आई.सी.पी.आर., नई दिल्ली
प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सम्पादक

डॉ. शैलेश कुमार सिंह
आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग
ए. एन. कॉलेज, पटना
(पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना)

डॉ. श्यामल किशोर
अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
टी.पी.एस. कॉलेज, पटना
(पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना)

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

www.abdpindia.net

ISSN 0974-8849
अभिनिर्देशित
(Peer Reviewed)

दार्शनिक त्रैमासिक

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

वर्ष-69 **अंक-1** **जनवरी-मार्च, 2023**

लेखकों के विचार उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति है।

प्रतियाँ : 300
: 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्'
प्रकाशक : प्रो. ज्योति स्वरूप दूबे
सचिव,
अखिल भारतीय दर्शन परिषद्
मुद्रक : सत्यम् प्रकाशन
बहादुरपुर, पटना – 800016
मो. 9386365631, 7004979511
E-mail : satyampublication22@gmail.com

संरक्षक मंडल

- प्रो. रामजी सिंह, भागलपुर
- प्रो. सोहन राज तातेड़, राजस्थान
- प्रो. महेश सिंह, आरा
- प्रो. राजकुमारी सिन्हा, राँची
- प्रो. जे. एम. दवे, दिल्ली
- प्रो. गुणेश विष्णु पारनेकर, पारनेर
- प्रो. यू. सी. दूबे, वाराणसी
- डॉ. अजय तिवारी, रायपुर

सम्पादक मण्डल

- डॉ. रमाशंकर आर्य, पटना
- डॉ. राजेश कुमार सिंह, पटना
- डॉ. किस्मत कुमार सिंह, आरा
- डॉ. ज्योति शंकर सिंह, पटना
- डॉ. शिवानी शर्मा, चंडीगढ़
- डॉ. नागेन्द्र मिश्र, पटना
- डॉ. वीणा कुमारी, पटना
- डॉ. विजय कुमार, मुजफ्फरपुर
- डॉ. अरविन्द विक्रम सिंह, जयपुर
- डॉ. हेमलता मोरे, पूणे
- डॉ. गायत्री शर्मा, रायपुर
- डॉ. सुधांशु शेखर, मधेपुरा

परामर्श मण्डल

- डॉ. सभाजीत मिश्र, गोरखपुर
- डॉ. आर. के. देसवाल, कुरुक्षेत्र
- डॉ. ई. आर. मठवाले, पूर्णा (ज.)
- डॉ. अवधेश कुमार सिंह, बेगूसराय
- डॉ. आर.पी. श्रीवास्तव, मुजफ्फरपुर
- डॉ. भगवंत सिंह, रायपुर
- डॉ. विजय कांत दुबे, ज्ञानपुर, भदोही

विधि सलाहकार

श्री राकेश मालवीय, नई दिल्ली

विशिष्ट सदस्य

- प्रो. सोहन राज तातेड़, राजस्थान
- प्रो. रामजी सिंह, भागलपुर
- प्रो. सुधा चौधरी, उदयपुर
- प्रो. पी. शेषाद्रि, मुम्बई
- डॉ. अनिता महतो, पूर्णिया
- डॉ. हेमलता मोरे, पुणे
- डॉ. सुधांशु शेखर, मधेपुरा
- डॉ. रजनी श्रीवास्तव, लखनऊ
- डॉ. शीलेन्द्र एस. शर्मा, राजकोट
- प्रो. राजकुमारी सिन्हा, राँची
- प्रो. ऋषिकान्त पाण्डेय, इलाहाबाद
- डॉ. यामिनी सहाय, हजारीबाग
- श्रीमती रेखा यादव, अजमेर
- डॉ. मुरली मनोहर पाठक, गोरखपुर
- प्रो. शैल कुमारी, मुजफ्फरपुर
- डॉ. धर्मेन्द्र कुमार, दिल्ली
- डॉ. शिवपरसन सिंह, आरा
- डॉ. शैलेन्द्र कुमार सिंह, बोधगया

www.abdpindia.net

ISSN 0974-8849
अभिनिर्देशित
(Peer Reviewed)

दार्शनिक त्रैमासिक

UGC Care Listed Journal : Group-I, Sl. No.-4

वर्ष-69 अंक-1 जनवरी-मार्च, 2023

अनुक्रमणिका

1. सत्याग्रह : ये रास्ता नहीं परछाइयों के चलने का
डॉ. सरोज कुमार वर्मा 1–14
2. चेतना और कृत्रिम बुद्धि : एक दार्शनिक विवेचन
प्रो. नन्दिनी सिंह 15–25
3. प्राचीन भारत में शिक्षा–विमर्श *प्रो. बिनोद कुमार चौधरी* 26–34
4. बौद्ध संस्कृत साहित्य में पारमिता
(ललित विस्तर के विशेष परिप्रेक्ष्य में) *प्रो. रूबी कुमारी* 35–43
5. गाँधी–अंबेडकर : संवाद एवं समझौता *डॉ. सुधांशु शेखर* 44–68
6. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के विशेष सन्दर्भ में
आत्मबोध की अवधारणा *डॉ. कृष्ण चौधरी* 69–74
7. वैदिक दर्शन में गुरु–शिष्य परम्परा : एक अवलोकन
डॉ. राज गोपाल 75–80
8. गौतम बुद्ध के अनुसार वर्ण व्यवस्था की प्रासंगिकता
डॉ. उषा किरण 81–87
9. प्रयोजनवाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन *डॉ. अजय कुमार सिंह* 88–93
10. देरिदा की विसंरचना और भारत की वर्त्तमान परिस्थितियाँ
डॉ. राजेश कुमार चौरसिया 94–112
11. सामाजिक चेतना के विकास में शिक्षा दर्शन की उपयोगिता
(विवेकानंद के विशेष सन्दर्भ में) *डॉ. प्रियंका तिवारी* 113–119
12. प्रौद्योगिकी दर्शन : एक नीतिशास्त्रीय समीक्षा *डॉ. कुमारी सुमन* 120–125
13. भारतीय चिन्तन परंपरा में मनुष्य का उद्देश्य
डॉ. मो. जियाउल हसन 126–134
14. पातंजल योगदर्शन में मनोविकारों का स्वरूप *डॉ. लीला कन्याल* 135–143

15. वर्त्तमान संदर्भ में उपनिषद् की आचार मीमांसा ***डॉ. शोभा रानी*** 144–149
16. वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में बौद्ध चिंतन की प्रासंगिकता ***डॉ. प्रिया कुमारी दुबे*** 150–161
17. श्रीमद्भगवद्गीता के परिप्रेक्ष्य में सदगुणी अवस्था प्राप्ति का तार्किक विश्लेषण ***डॉ. हेमचन्द्र कुमार*** 162–167
18. वाक्यार्थबोध भट्ट मीमांसा के सन्दर्भ में ***डॉ. पूजा सिन्हा*** 168–173
19. श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा की अमरता की अवधारणा ***डॉ. आफरीन बानो*** 174–181
20. भारतीय दर्शन का नास्तिक–आस्तिकभेदाधार का समीक्षात्मक अध्ययन ***विनोद कुमार गुप्ता*** 182–192
21. महामारी काल में परिणामवादी नैतिकता की अनुप्रयुक्तता की अधिमानता ***रविश कुमार एवं डॉ. पूर्णेन्दु शेखर*** 193–210
22. सांख्य–योग दर्शन में चेतना एवं अंतःकरण के मध्य अंतर्संबंध की समीक्षा ***विनीत मिश्र*** 211–220
23. गाँधी दर्शन में सामाजिक–कार्य की अवधारणा ***प्रदीप कुमार मंडल*** 221–229
24. अद्वैतवादी दृष्टिकोण से 'अहम्–ब्रह्मास्मि' का भाषा विश्लेषण ***विकास कुमार*** 230–237
25. श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीनामसंकीर्त्तन का दार्शनिक पर्यालोचना ***देबाशीष मण्डल*** 238–247
26. सार बनाम अस्तित्व (पश्चिमी दर्शन : प्लेटो और कीर्केगार्ड के विशेष संदर्भ में) ***हर्ष सिंह*** 248–256
27. कार्ल पॉपर का विज्ञान दर्शन, मिथ्याकरण का सिद्धांत एवं वैज्ञानिक पद्धति : एक समीक्षात्मक अध्ययन ***सुजाता कुमारी सिंह*** 257–263
28. विहंगम योग की दार्शनिक पृष्ठभूमि ***इन्दु प्रकाश मिश्र*** 264–276
29. एपिक्यूरस और चार्वाक दर्शन का सुख के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन ***भव्यता चौहान*** 277–283
30. श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ ***आभाष आर्य*** 284–289
31. बौद्ध धर्म में मानवतावाद ***सुष्मिता बनर्जी*** 290–295
32. वेद वाङ्गमय में आयु तत्त्वमीमांसा ***मधु कुमारी एवं डॉ. नागेन्द्र मिश्र*** 296–300
33. महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में निहित नैतिक मूल्य : एक दार्शनिक विवेचना ***प्रियंका यादव*** 301–306
34. स्वामी विवेकानंद की मानव–निर्माण शिक्षा : एक अध्ययन ***अंकित समाधिया*** 307–311

❑

संपादकीय...

वर्तमान समय की चुनाव संस्कृति के मध्य 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्' की पत्रिका 'दार्शनिक त्रैमासिक' को प्रस्तुत करते हुए हर्ष हो रहा है। कश्मीर की वादियों में दार्शनिक विमर्श एक संयोग है। दार्शनिक क्रिया समाज में व्याप्त सांस्कृतिक दशा को प्रतिबिम्बित करता है। ईशावास्य उपनिषद् के मंत्र को ध्यान में रखते हुए दार्शनिक विमर्श निर्लिप्त भाव से किया जाना श्रेयस्कर है। इस सम्पादकीय को लिखते समय मेरे मानस पटल पर ऐसा ही भाव चित्रित है। ईशावास्य उपनिषद् के मंत्र 'न कर्म लिप्यते नरेः' से प्रेरणा लेकर अपना कार्य करना चाहिए। भारतीय ज्ञान परम्परा आंशिक सत्य के बजाय पूर्ण सत्य की बात करता है। दार्शनिक क्रिया अंश की जगह समग्र पर आधारित है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ऐसे ही श्रेष्ठ कर्मों की ओर बढ़ने के लिए उन्मुख रहता है। इस प्रति में अध्येताओं के अनेक महत्वपूर्ण आलेख हैं। प्रो. सरोज कुमार वर्मा द्वारा रचित 'सत्याग्रह : ये रास्ता नहीं परछाइयों के चलने का' एक श्रेष्ठ कोटि का दार्शनिक एवं साहित्यिक आलेख माना जा सकता है। डॉ. नन्दिनी सिंह ने 'चेतना और कृत्रिम बुद्धि : एक दार्शनिक विवेचन' जैसा विशुद्ध दार्शनिक लेख लिखा है। इसलिए हम कह सकते हैं कि 'दार्शनिक त्रैमासिक' में सम्पादक मडल अधिवेशन में प्रस्तुत उत्कृष्ट आलेखों को स्थान देते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्ट करना चाहता हूँ कि संपादक मंडल निर्लिप्त भाव से कार्य करता है। पूर्व और परिचित के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर हम दार्शनिक क्रिया का स्वागत करते हैं। डॉ. राजेश कुमार चौरसिया का आलेख 'देरिदा की विसरंचना और भारत की वर्तमान परिस्थितियाँ' की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। 'दार्शनिक त्रैमासिक' के सम्पादक मंडल के सदस्यों को मैं साधुवाद देता हूँ कि उनका निर्णय किसी भी

तरह के पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं होता। दार्शनिक क्रिया वही श्रेष्ठ होती है जो पूर्वाग्रह मुक्त हो। डॉ. मो. जियाउल हसन के आलेख 'भारतीय चिंतन परम्परा में मनुष्य का उद्देश्य' एक बेहतरीन उदाहरण है। इस संकलन को शुद्ध करने का दायित्व सम्पादक मंडल के सदस्य प्रो. राजेश कुमार सिंह, अध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय, पटना ने सम्पादित किया है। उन्हें साधुवाद देतु हुए हर्ष हो रहा है। ससमय से पत्रिका को प्रकाशित करने के लिए सत्यम् प्रकाशन के डॉ. नीरज प्रकाश को धन्यवाद।

मैं 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्' के पदाधिकारियों एवं सम्पादक मंडल के सदस्यों को धन्यवाद प्रेषित करता हूँ। इस अंक को भेंट करते हुए हर्ष हो रहा है।

31 मार्च, 2023

रमेश चन्द्र सिन्हा
प्रधान सम्पादक
दार्शनिक त्रैमासिक
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

सत्याग्रह : ये रास्ता नहीं परछाइयों के चलने का

*डॉ. सरोज कुमार वर्मा**

> ''सत्याग्रह ऐसी तलवार है, जिसके दोनों ओर धार है। उसे चाहे जैसे काम में लिया जा सकता है। जो उसे चलाता है और जिस पर वह चलायी जाती है, वे दोनों सुखी होते हैं। वह खून नहीं निकालती, लेकिन उससे भी बड़ा परिणाम ला सकती है।'' — **गांधी, 'हिन्द स्वराज्य'**

गांधी यों तो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के महानायक हैं, परन्तु उनका नायकत्व पूरी दुनिया स्वीकार करती है। यह स्वीकार तत्कालीन समय से अभी ज्यादा है, क्योंकि अपने बौद्धिक विमर्शों और नैतिक आह्वानों के बावजूद हमने जैसी जीवन–सारणी ईजाद कर ली है; वह हमें जीने के लिये मुक्त आकाश नहीं देती, बल्कि रोज–रोज ऐसे नये कफसों का निर्माण करती है, जिसमें कैद होकर या तो हम उड़ना भूल जाते हैं या उनमें तड़फड़ाते रहते हैं या फिर बाहर निकलने के प्रयास में तीलियों से टकरा कर लहूलुहान हो जाते हैं। गांधी ऐसे कफसों को तोड़ने के सूत्र बताते हैं। लेकिन गांधी की खासियत सिर्फ इतना ही नहीं है। ऐसे सूत्र और कइयों ने बताये हैं। गांधी की खासियत इसमें है कि वे सिर्फ इन सूत्रों की जुगाली नहीं करते, औरों को उपदेश भर नहीं देते; बल्कि स्वयं इन्हें व्यवहार में उतार कर दूसरों को व्यवहार में उतारने के लिये प्रेरित करते हैं। यथार्थ ही सांकलें सिर्फ सिद्धांतों की बुदबुदाहट से नहीं टूटतीं। उन्हें काटने के लिये व्यवहार की रेती चाहिये होती है। गांधी अपने व्यवहार से अपने सांकल काट कर वह रेती उपलब्ध कराते हैं, जिससे दूसरे भी अपने सांकल काट सकें। सत्याग्रह व्यवहार की ऐसी ही रेती है, जिससे तत्कालीन गुलामी की सांकल काटी गयी थी, शोषण

* *आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.आर.ए. बिहार वि.वि., मुजफ्फरपुर, बिहार*

के कफस तोड़े गये थे और आज भी उसका प्रयोग करके अभी भी गुलामी की सांकल काटी जा सकती है, शोषण के कफस तोड़े जा सकते हैं।

इसलिये कि सत्याग्रह गांधी द्वारा इजाद की गयी स्वराज्य–प्राप्ति की वह प्रविधि है, जो सत्य और अहिंसा पर आधारित है। चूंकि गांधी ताउम्र राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय रहे, परन्तु, क्योंकि वे मूलतः आध्यात्मिक व्यक्ति थे, इसलिए सत्य और अहिंसा उनके सभी कार्य–व्यापारों की आधारभूमि थी। इसी कारण वे एक ऐसी विधि इजाद करना चाहते थे, जो सत्य और अहिंसा पर आधारित हो तथा जिसका इस्तेमाल राजनीति से लेकर नैतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में किया जा सके। सत्याग्रह ऐसी ही प्रविधि है, जिसके द्वारा राजनैतिक स्वराज्य से लेकर आत्मिक स्वराज्य तक की प्राप्ति हो सकती है।

(I)

यद्यपि कि गांधी के पूर्व इतिहास में इस सत्याग्रह का कोई जिक्र नहीं है, क्योंकि इतिहास हिंसा, संघर्ष और वर्चस्व जैसी अस्वाभाविक बातों को दर्ज करता है; प्रेम, अहिंसा और सत्य आदि स्वाभाविक बातों को दर्ज नहीं करता। इसके अतिरिक्त इतिहास राजाओं–महाराजाओं की लिप्साओं, दुश्मनियों और इनके कारण होने वाले युद्धों को अपने में समेटता है; संतोष, सहयोग और सह–अस्तित्व के साथ रहने वाली आम जनता को तरजीह नहीं देता, इसीलिए इतिहास में सत्याग्रह का कोई उल्लेख नहीं है; परन्तु गांधी के अनुसार इसका अस्तित्व हमेशा से रहा है, क्योंकि यह आत्मबल है, दयाबल है, प्रेम–बल है। यदि यह बल नहीं होता और केवल मार–काट से ही दुनिया का आरंभ हुआ होता, तो यह दुनिया कब की खत्म हो गयी होती। आज एक भी आदमी जिंदा नहीं बचा होता। मगर आज भी दुनिया और दुनिया में रहने वाले लोग बचे हुए है, यह इस बात का प्रमाण है कि सत्याग्रह सदा से संसार में मौजूद रहा है। स्वयं गांधी के शब्दों में– ''दुनिया में इतने लोग आज भी जिंदा हैं, यह बताता है कि दुनिया का आधार हथियार–बल पर नहीं है, परन्तु सत्य, दया या आत्मबल पर है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि दुनिया लड़ाई के हंगामें के बावजूद टिकी हुई है। इसलिय लड़ाई के बल के बजाय दूसरा ही बल उसका आधार है।''[1] यह बल सत्य और अहिंसा का है और सत्याग्रह इन्हीं पर आधारित है।

सत्य और अहिंसा पर आधारित होने के कारण ही गांधी इसे कमजोरों का हथियार नहीं मानते, जैसा कि निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) को माना जाता है। निष्क्रिय प्रतिरोध अंग्रेज अल्पमत, मताधिकारविहीन और शस्त्रहीन कमजोर प्रजा द्वारा पसंद नहीं आनेवाले कानून के विरोध में किया जाता है। इसमें

यद्यपि प्रजा उस कानून के खिलाफ विद्रोह नहीं करती, परन्तु उसे स्वीकार भी नहीं करती और इस अस्वीकार के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सजा को भुगत लेती है। इंग्लैंड में तब शिक्षा–संबंधी कानून के विरूद्ध और स्त्रियों के मताधिकार के लिए इस निष्क्रिय प्रतिरोध का सहारा लिया गया था। परन्तु गांधी का सत्याग्रह ऐसा नहीं है। इसलिए जब एक सभा में इसकी व्याख्या निष्क्रिय प्रतिराध के अर्थ में की गई, तो गांधी को इसका विरोध करके 'सत्याग्रह' शब्द की ईजाद करनी पड़ी। अपनी 'आत्मकथा' में गांधी इस संबंध में लिखते हैं– ''सत्याग्रह शब्द से पहले उस वस्तु की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति के समय तो यह क्या है, मैं खुद नहीं समझ सका था। उसे गुजराती में 'पैसिव रेजिस्टेन्स' इस अंग्रेजी नाम से सब समझने लगे। जब गोरों की एक सभा में मैंने देखा कि पैसिव रेजिस्टेन्स का तो संकुचित अर्थ किया जाता है, वह निर्बलों का ही हथियार माना जाता है; उसमें द्वेष की गुंजाइश है और उसका अंतिम स्वरूप हिंसा में प्रकट हो सकता है, मुझे उसका विरोध करना पड़ा और हिन्दुस्तानियों के संग्राम का सच्चा स्वरूप समझाना पड़ा। तब हिन्दुस्तानियों को अपने संग्राम का परिचय देने के लिये नये शब्द की योजना करनी पड़ी।''[2]

इसके लिये गांधी को एक प्रतियोगिता आयोजित करनी पड़ी, जिसमें मगन लाल गांधी ने सत–आग्रह की संधि करके 'सदाग्रह' नाम भेजा। यह नाम यद्यपि कि गांधी को पंसद आया, परन्तु चूंकि सत्य के भीतर शांति का समावेश मानकर आग्रह करने से उसमें बल उत्पन्न होता है, इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'द्' का 'त्' करके उसमें 'य' जोड़ कर 'सत्याग्रह' नाम बना दिया। इससे गांधी के अनुसार सत्याग्रह में निहित सत्य और शांति से उत्पन्न होने वाले बल का पता चलता है। इस प्रकार गांधी यह स्पष्ट कर देते हैं कि सत्याग्रह निर्बलों का नहीं बल्कि बलवानों का हथियार है। इसीलिए वे 'हिन्द स्वराज्य' में कहते हैं– ''सत्याग्रह सबसे बड़ा सर्वोपरि बल है। वह जब तोपबल से ज्यादा काम करता है तो फिर कमजोरों का हथियार कैसे माना जायेगा? सत्याग्रह के लिए जो हिम्मत और बहादुरी चाहिए, वह तोप का बल रखने वाले के पास हो ही नहीं सकती। ..... आप क्या मानते हैं? तोप चलाकर सैकड़ों को मारने में हिम्मत की जरूरत है या हंसते–हंसते तोप के मुंह पर बंध कर धज्जियां उड़ने देने में हिम्मत की जरूरत है? खुद मौत को हथेली में रख कर जो चलता–फिरता है वह रणवीर है या दूसरों की मौत को अपने हाथ में रखता है वह रणवीर है? यह निश्चित मानिये कि नामर्द आदमी घड़ी भर के लिये भी सत्याग्रही नहीं रह सकता।''[3]

गांधी ऐसा इसलिए कहते हैं कि सत्याग्रही होने के लिए ब्रह्मचर्य, निर्धनता, सत्य और निर्भयता का पालन अनिवार्य है। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करने से व्यक्ति वीर्यवान नहीं रहता, उसका मन कमजोर हो जाता है और वह हमेशा विषय–वासना में उलझा रहता है। इसी तरह धन के लोभ में पड़ा रहने वाला सदा संपदा–संग्रह में ही लगा रहता है। फिर जो सत्य का पालन नहीं करता उसमें सत्य का बल भी नहीं आता। और भयभीत आदमी किसी हिंसा–अत्याचार का सामना ही नहीं कर सकता। अतः सत्याग्रही बनने के लिए इन सबसे मुक्त होकर ऊपर की चार शर्तों का पालन आवश्यक है। जो इन शर्तों का पालन करता है, उसी में इतनी शक्ति आती है कि वह अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनकर किसी भी परिस्थिति का दृढ़तापूर्वक सामना कर पाता है। कांतिशाह इसीलिए सत्याग्रह को स्वराज्य की पूंजी प्राप्त करने का अमूल्य साधन मानते हुए लिखते हैं – ''सत्याग्रह एक अमूल्य साधन है। जो मनुष्य मनुष्यत्व को समझता है, जिसको खुदा का डर है, वह दूसरे से डरेगा नहीं। उसे अन्य के बनाये हुए कायदे बांधते नहीं। अगर लोग एक बात सीख लें कि अन्यायी लगने वाले कायदों को स्वीकार करना नार्मदानगी है तो फिर हमें किसी का जुल्म बंधन में नहीं डाल सकता। फिर, आप चाहें तो हमें काट डाले, मर्जी में आये तो तोप से उड़ा दें परन्तु हमें जो पसंद नहीं है, वे आप करेंगे तो उसमें हम आपकी मदद नहीं करेंगे और हमारी मदद के बिना आपसे एक कदम रखा नहीं जायेगा। स्वराज की यही पूंजी है।''[4]

स्वराज की इस पूंजी को प्राप्त करने के लिए गांधी ने सत्याग्रह का पहला प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में खूनी कानून को निरस्त करने के लिए किया। खूनी कानून का असली नाम एशियाटिक एक्ट है, जो दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तानियों के विरूद्ध बनाया गया था। यह कानून दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले हिन्दुस्तानियों के परवाने (अनुमति–पत्र) से संबद्ध था। इस कानून के मुताबिक दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले प्रत्येक हिन्दुस्तानी स्त्री, पुरूष और बच्चे को, वहां रहने के लिए, वहां के एशियाटिक विभाग से, परवाना लेना था। इस परवाने के लिए दिये जाने वाले आवेदन में हर आवेदनकर्ता को अपना नाम, पता, जाति, उम्र आदि लिखने के साथ–साथ अधिकारी के सामने अपनी सभी अंगुलियों और अंगूठे की छाप देनी थी। इसके लिए एक तिथि निश्चित की गयी थी और जो हिन्दुस्तानी इस अवधि के भीतर आवेदन नहीं देता, उसे अपराधी तो माना ही जाना था, उसका दक्षिण अफ्रीका में रहने का अधिकार भी रद्द हो जाना

था। इतना ही नहीं, इस परवाने को, कोई भी पुलिस अधिकारी जब, जहॉ मांगता, उसे दिखाना था और इस परवाने की जांच के लिए किसी भी पुलिस अधिकारी को, किसी भी हिन्दुस्तानी के घर में, प्रवेश करने का भी अधिकार था। कुल मिलाकर यह एक ऐसा कानून था, जैसा पूरी दुनिया में कहीं भी किसी स्वतंत्र मानव के लिए नहीं बनाया गया था। इसीलिए गांधी को लगा, जैसा कि वे लिखते हैं – ''..... कि अगर यह बिल पास हो गया और हिन्दुस्तानियों ने कायर बनकर उसे स्वीकार कर लिया, तो दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानी कौम के पैर जड़ से उखड़ जायेंगे।''[5] इसी कारण इस कानून को 'खूनी कानून' की संज्ञा दी गई थी, जिसे निरस्त करने के लिए गांधी को सत्याग्रह करना पड़ा था। सत्याग्रह की यह पहली लड़ाई 1906 से 1914 यानी कुल आठ वर्षों तक चली थी, जिसमें गांधी को पांच बार में 19 महीने तक जेल में रहना पड़ा था और उनकी पत्नी कस्तूरबा को भी सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जेल जाना पड़ा था। तभी तो कांति शाह लिखते हैं – ''दक्षिण अफ्रीका सत्याग्रह की प्रथम प्रयोगशाला बना। वहां रंगभेद तो नहीं खत्म हुआ, परन्तु वहां की हिन्दुस्तानी कौम की कुछ मांगें सत्याग्रह के इस नये मार्ग से मनवा सके। अन्याय का प्रतिकार करने का एक नया मार्ग खोजा गया। एक अल्पसंख्यक बिना मताधिकारवाली, तिरस्कृत तथा अपमानित गरीब प्रजा गोरे शासनतंत्र के सामने सीना तानकर खड़ी रह सकी और अपनी न्यायोचित मांगें प्राप्त कर सकी। लोगों ने बेबसी दूर कर दी, स्वेच्छा से कष्ट सहन किये, एक अनोखे आत्मविश्वास का अनुभव किया, एक नये साधन की खोज हुई और ऐसी श्रद्धा पैदा हुई कि यह साधन दलित, पीड़ितों के अन्याय मिटाने के लिये उपयोगी हो रहा। इस तरह गांधीजी सत्याग्रह के इस नये मार्ग से प्रयत्न करते रहे..।''[6] तब जाकर हिन्दुस्तानियों को राहत देने वाला इन्डियन्स रिलीफ बिल बन सका था, जिससे हिन्दुस्तानियों की जीत हुई थी।

(II)

भारत में ऐसी जीत दिलाने वाली सत्याग्रह की पहली लड़ाई चंपारण में लड़ी गई। चंपारण बिहार का एक जिला है, जहां 'तिनकठिया प्रथा' को खत्म करने के लिये यह लड़ाई लड़ी गयी थी। वैसे इस लड़ाई की नींव 1915 में गांधी के भारत लौटने के बाद गुजरात के वीरमगांव में ही पड़ गयी थी। वहां की जनता को जकात की प्रथा के कारण बहुत कष्ट झेलना पड़ा रहा था। इसलिए जब मोतीलाल दरजी ने गांधी को इसकी सूचना दी, तो उन्होंने बंबई–सरकार और भारत–सरकार से इस संबंध में पत्र–व्यवहार किया और अंततः लार्ड चेम्सफोर्ड से मिलने के बाद जकात–प्रथा का अंत हो गया। गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' में

इस जीत को सत्याग्रह की नींव माना है। उन्होंने लिखा है– ''लार्ड चेम्सफोर्ड से जब मैंने बात की तो उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया। उन्हें वीरमगांव के बारे में कुछ मालूम न था। मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनकर उसी वक्त टेलीफोन करके वीरमगांव के कागज मंगाये। यदि मेरे बयान के विरूद्ध अधिकारियों को कोई एतराज न हुआ तो चुंगी रद कर देने का वचन दिया। इस मुलाकात के बाद कुछ ही दिनों में जकात उठ जाने की खबर मैंने अखबार में पढ़ी। मैंने इस जीत को सत्याग्रह की नींव माना।''[7] इस नींव को गिरमिट–प्रथा के अंत से और मजबूती मिली। गिरमिट–प्रथा नेटाली गिरमिटियों के कर से जुड़ी हुई थी। नेटाली गिरमिटियों पर लगाया गया तीन पौंड का कर 1914 में ही रद्द कर दिया गया था, परन्तु 1917 तक यह प्रथा बंद नहीं हुई थी। इसलिए बंबई की एक सभा में 31 जुलाई 1917 के पूर्व इस प्रथा को बंद करने का प्रस्ताव लिया गया और श्रीमती जाईजी पिटीट के परिश्रम से स्त्रियों का एक शिष्टमंडल वायसराय से मिला, जिसका अच्छा प्रभाव पड़ा और 31 जुलाई से पहले ही गिरमिट–प्रथा बंद हो गयी। गांधी ने इसके बंद नहीं होने पर सत्याग्रह करने की योजना बनाई थी, परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। इसीलिए गांधी ने इस लड़ाई में सत्याग्रह की तैयारी से ही विजय मिलने की बात कही है। परन्तु चूंकि इस लड़ाई के बारे में सार्वजनिक आंदोलन की जरूरत पड़ी थी, इसलिए उन्होंने गिरमिट–प्रथा के रद्द करने की बात को वीरमगांव की जकता–प्रथा के रद्द करने से अधिक महत्वपूर्ण माना है। उनके शब्दों में – ''यह भेद याद रखने जैसा है कि इस लड़ाई के बारे में सार्वजनिक आंदोलन की जरूरत पड़ी थी। गिरमिट प्रथा को रद्द करने की बात वीरमगांव की जकात रद्द करने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थी।''[8] चंपारण का सत्याग्रह पूर्व की इन्हीं दो सत्याग्रहों के प्रयास की मजबूत नींव पर खड़ा हो पाया था। इसीलिए गांधी ने सत्याग्रह की लड़ाई के क्रम का उल्लेख करते हुए चंपारण की लड़ाई को तीसरे स्थान पर रखा है। उन्होनें लिखा है –''तीसरी लड़ाई चंपारण की थी। उसका विस्तृत इतिहास राजेन्द्र बाबू ने लिखा है। उसके लिये सत्याग्रह करना पड़ा, केवल तैयारी काफी साबित नहीं हुई। परन्तु विरोधी पक्ष का स्वार्थ कितना बड़ा था? यह बात उल्लेखनीय है कि उस सत्याग्रह में चंपारण के लोगों ने खूब शांति रखी। इसका साक्षी मैं हूं कि सारे ही नेताओं ने मन से, वचन से और काया से संपूर्ण शांति रखी। यही कारण है कि चंपारण की यह सदियों पुरानी बुराई छह मास में दूर हो गयी।''[9]

चंपारण में सत्याग्रह की लड़ाई 'तीनकठिया प्रथा' को खत्म करने के लिए लड़ी गयी थी। 'तिनकठिया प्रथा' वह प्रथा थी जिसमें चंपारण के किसानों को अपनी 20 कट्ठे (एक एकड) की जमीन में 3कट्ठा में नील की खेती निलहों के लिए करनी पड़ती थी। ऐसा करना उनकी बाध्यता थी और 3/20 का यह अनुपात कुल जमीन पर लागू होता था। इससे वहां के किसान बहुत परेशान रहते थे और उन्हें बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। इसकी जानकारी चंपारण के एक किसान राजकुमार शुक्ल ने गांधी को लखनऊ की महासभा में दी और स्वयं चंपारण आकर वहां के किसानों का दुख देख लेने का आग्रह किया। उनके बार–बार के आग्रह पर, जो उन्होंने गांधी के लखनऊ से कानपुर तक की यात्रा में साथ रह कर किया था, गांधी ने उनसे चंपारण आने का वायदा किया और अप्रैल 1917 में वहां गये भी। गांधी कलकत्ता से राजकुमार शुक्ल के साथ 9 अप्रैल को चलकर पहले पटना गये और वहां से ट्रेन से चलकर 10 अप्रैल की आधी रात में मुजफ्फरपुर पहुंचे। यहां साढ़े चार दिनों तक रह कर आचार्य जे.बी. कृपलानी, रामनवमी प्रसाद, दरभंगा से आये ब्रजकिशोर बाबू तथा पुरी–यात्रा से लौट आने वाले राजेन्द्र बाबू के साथ विचार–विमर्श किया और उसके बाद 15 अप्रैल के अपराह्न में मुजफ्फरपुर से चलकर मोतिहारी पहुंचे। वहां उन्होंने रात्रि–विश्राम गोरखबाबू के घर किया और 16 अप्रैल की सुबह धरणीधर प्रसाद को साथ लेकर मोतिहारी से 5 मील दूर कोटवा जिले के जसौलीपट्टी गांव में नील की खेती करने वाले किसान पर हुये जुल्म को देखने निकले। अभी वे आधे रास्ते में ही गये थे कि तत्कालीन कलेक्टर डब्लू. बी. हॉकाक ने उन्हें जिला छोड़ने की नोटिस भेजी। गांधी ने जिला छोड़ने से इंकार कर दिया। तब उन्हें जिला छोड़ने का हुक्म नहीं मानने के कारण अदालत में हाजिर होने का सम्मन मिला। गांधी 18 अप्रैल को अदालत में हाजिर होकर कलेक्टर का हुक्म नहीं मानने की वजह के संबंध में अपना बयान दिया। उन्होंने कहा – ''मैं इस प्रदेश में जनसेवा और देशसेवा के उद्देश्य से ही आया हूँ। रैयत से निलहे न्याय का बर्ताव नहीं करते। इस कारण उनकी मदद के लिए आने का मुझसे प्रबल आग्रह किया गया; इसी से मुझे आना पड़ा है। सब बातों को जाने–समझे बिना में उनकी मदद कैसे कर सकता हूँ? अतः मैं इस प्रश्न का, संभव हो तो सरकार और निलहों की सहायता लेकर, अध्ययन करने आया हूँ। मेरा कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है और मेरे आने से लोगों की शांति भंग होगी और खून–खराबी होगी, यह मैं नहीं मान सकता। मेरा दावा है इस बारे में मुझे यथोचित अनुभव है।..... अतः स्वेच्छा से चम्पारण छोड़ना संभव नहीं है।

इस धर्मसंकट में मुझे चम्पारण से हटाने की जिम्मेदारी मैं सरकार पर डालने को मजबूर हो गया।...

मुझे आप जो सजा देना चाहते हैं उसे कम कराने की नीयत से यह बयान मैं नहीं दे रहा हूँ। मुझे यह महज जता देना था कि आज्ञा का उल्लंघन करने में मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नहीं है, बल्कि मेरा हृदय जिस बड़े कानून को स्वीकार करता है अर्थात् अंतरात्मा की आवाज, उसका अनुसरण करना है।''[10] गांधी के इस बयान, अधिकारियों के साथ उनके विनम्र व्यवहार तथा उनके साथ हजारों की संख्या में आये लोगों के सम्मिलित प्रभाव से गांधी के जिला छोड़ने का हुक्म वापस ले लिया गया और उन्हें आधिकारिक मदद के आश्वासन के साथ जांच करने की अनुमति दे दी गयी।

इसके बाद गांधी छः महीने तक चंपारण में रहकर स्थिति की जांच करते रहे और किसानों की दुख–गाथायें लिखते रहे। किसानों की दुख–गाथायें खुफिया पुलिस के समाने लिखी जा रही थी और इसमें सहयोग करने के लिए उनके साथ ब्रजकिशोर बाबू, राजेन्द्र बाबू, शंभू बाबू, अनुग्रह बाबू, रामनवमी बाबू तथा कृपलानी जी भी थे। इस छः महीने में गांधी ने वहां अवंतिका बाई, आनंदी बाई, छोटे लाल, सुरेन्द्रनाथ, अपने लड़के देवदास, महादेव देसाई और उनकी पत्नी दुर्गा बहन, नरहरि पारीख तथा उनकी पत्नी मणि बहन एवं अपनी पत्नी कस्तूरबा को बाहर से बुलाकर बच्चों के लिए पाठशालाएं खोलने तथा गोखले की सोसायटी से डॉ. देव को बुलाकर दवा–इलाज और सफाई कराने का काम भी किया। वे इन सब कामों के लिए कुछ दिन और वहां रहना चाहते थे। परन्तु छः महीने बाद ही जांच बंदकर बिहार छोड़ देने का सरकारी पत्र मिला। इस पत्र के पीछे निलहों का हाथ था। लेकिन गांधी ने इस पत्र के जवाब में जांच अभी और चलने और जांच के पूरी हो जाने के बाद भी किसानों की तकलीफें दूर नहीं हो जाने तक बिहार नहीं छोड़ने की बात लिखी। इसके बाद गवर्नर एडवर्ड गेट ने उन्हें बुलाकर खुद जांच–कमिटी नियुक्त करने का इरादा जाहिर किया और उसमें उन्हें सदस्य होने का निमंत्रण दिया। गांधी ने कमिटी के दूसरे नाम देखकर अपने साथियों से सलाह–मशविरा करते रहने की स्वतंत्रता की शर्त के साथ जांच–कमिटी का सदस्य होना स्वीकार किया और अपना यह इरादा भी जाहिर कर दिया कि कमिटी का सदस्य बनकर भी वे किसानों के हिमायती बने रहेंगे और जांच के बाद संतोष न होने पर किसानों की रहनुमाई अवश्य करेंगे। गांधी की ये सभी शर्तें मान ली गयीं और फ्रेंकस्लाई की अध्यक्षता में कमिटी गठित कर

दी गई। इस जांच–कमिटी ने किसानों की सभी शिकायतों को सही माना। इसलिये उसने निलहों द्वारा गलत ढंग से लिए हुये पैसों को लौटाने के साथ–साथ 'तिनकठिया प्रथा' को निरस्त करने की सिफारिश कर दी। इस प्रकार जैसा कि गांधी अपनी 'आत्मकथा में लिखते हैं–''तिनकठिया कानून, जो सौ साल से चला आ रहा था, टूटा और उसके साथ निलहों का राज्य अस्त हुआ। रैयत जो दबी हुई रहती थी उसे अपनी शक्ति का कुछ ज्ञान और नील का दाग धोये नहीं धुलता– यह वहम दूर हो गया।''[11]

इस वहम के दूर होने और निलहों के राज्य के अस्त होने से भारत के स्वतंत्रता–संग्राम की क्षितिज पर यकीन का एक नया सूरज उगा, जिसकी चमकती रोशनी में आगे की यात्रा तय की गयी। इसीलिए क्रम में तीसरा होने के बावजूद स्वतंत्रता–संग्राम के इतिहास में चम्पारण–सत्याग्रह का स्थान प्रथम है और इसका महत्व सर्वोपरि है। यह वह रनवे है, जहां दक्षिण अफ्रीका से दौड़ता हुआ सत्याग्रह का विमान आजादी की लड़ाई के आकाश में ऊंची उड़ान भरता है। इसलिए कांतिशाह यह लिखते हैं कि –''चंपारण ने हिन्दुस्तान को प्रथम बार सत्याग्रही शक्ति का परिचय कराया। सौ साल पुरानी एक अन्यायी व्यवस्था रद्द हुई। चंपारण ने समग्र देश को सत्याग्रह की संभावनाओं का पहला पाठ दिया. ....।''[12] यह पाठ इसलिए महत्वपूर्ण हो सका कि इसमें जीत दो स्तरों पर मिली। एक गांधी द्वारा जिला छोड़ने का आदेश नहीं मानने के स्तर पर और दूसरा 'तिनकठिया प्रथा' बंद कराने के स्तर पर। इन दो स्तरों पर मिली जीत के कारण ही चंपारण का सत्याग्रह आजादी आंदोलन के मार्ग पर मील का पत्थर बन सका।

(III)

इसलिये यहां से पता लेकर सत्याग्रह की लड़ाई अहमदाबाद मजदूरों का वेतन बढ़ाने पहुंची। वहां अंबालाल साराभाई के मील के मजदूर बहुत दिनों से अपना वेतन बढ़ाने की मांग कर रहे थे, जिसे मालिक द्वारा स्वीकृत नहीं किया जा रहा था। इस संबंध में जब अनसूयाबाई ने गांधी को पत्र लिखा तो गांधी अहमदाबाद गये। वहां जांच करने पर उन्हें मजदूरों की मांग सही लगी। इसलिये उन्होंने मजदूरों को शांतिपूर्ण ढंग से हड़ताल करने की सलाह दी। यह हड़ताल 21 दिनों तक चली। इसके बाद मजदूर ढीले पड़ने लगे और गांधी को उनके द्वार शांति भंग करने की आशंका होने लगी। तब उन्होंने स्वयं उपवास करने का निर्णय लिया। यह उपवास तीन दिनों तक चला। तब मिल मालिक ने अनसूयाबाई

से समझौता करने का मशविरा किया। इसके बाद पंच चुने गये और मजदूरों की हड़ताल टूटी। इस प्रकार यहॉ भी सत्याग्रह की लड़ाई सफल हुई।

यह सफलता खेड़ा में भी मिली। खेड़ा में अकाल पड़ने के कारण फसल मारी गई थी। इसलिये वहां के पाटीदारों का लगान माफ किया जाना जरूरी था। परन्तु सरकार इसके लिये तैयार नहीं थी। तब गांधी ने नड़ियाद अनाथाश्रम में डेरा डाल कर सत्याग्रह की लड़ाई शुरू की। आरंभ में तो पाटीदारों ने इस लड़ाई में खूब हिम्मत दिखाई और सरकार की कार्रवायी भी नरम रही। परन्तु बाद में सरकार की कार्रवायी भी सख्त होती गयी और पाटीदार भी थकने लगे। तभी नड़ियाद के तहसीलदार ने समर्थ पाटीदारों द्वारा लगान अदा कर दिये जाने पर गरीबों का लगान मुल्तवी कर देने का संवाद भेजा। तब गांधी ने सारे जिले के लिए इस संबंध में कलेक्टर से बात की। कलेक्टर ने उन्हें इस तरह का आदेश पहले ही निकाल दिये जाने की सूचना दी। इस प्रकार यहां भी पाटीदारों को सफलता मिली। परन्तु गांधी को यह सफलता पूर्ण नहीं लगी, क्योंकि गरीब कौन है, इसका निर्णय करने का अधिकार जनता को नहीं मिला। इसलिये गरीबों का बचना इसमें संभावित ही रहा। फिर भी इस लड़ाई का परिणाम यह जरूर निकला कि गुजरात के किसानों में जागृति आई और सत्याग्रह ने गुजरात में अपनी जड़ें जमा ली।

इसके बाद रौलट एक्ट के विरूद्ध हड़ताल की गयी, खिलाफत आंदोलन में सत्याग्रह का सहारा लिया गया, असहयोग आंदोलन हुआ, 1930 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के तहत नमक का कानून तोड़ने के लिए दांडी यात्रा की गई, 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन हुआ और आजादी के बाद भी सांप्रदायिक दंगों की आग बुझाने के लिए गांधी को नोआखाली, कलकत्ता, दिल्ली और बिहार दौड़–दौड़ कर सत्याग्रह करना पड़ा। इनके अतिरिक्त बीच में सवर्ण हिन्दुओं के मंदिर में अस्पृश्यों को प्रवेश दिलाने जैसे सामाजिक मसलों को दूर करने के लिए वायकोम सत्याग्रह भी करना पड़ा। इन सभी मामले में कमोवेश सफलता भी मिली।

(IV)

परन्तु इन तमाम सफलताओं के बाद और बावजूद गांधी संतुष्ट नहीं हो सके, क्योंकि ये अपेक्षित सफलता नहीं थी। सत्याग्रह से वे जैसी सफलता चाहते थे, वैसी नहीं मिल सकी थी। इसका एक उदाहरण तो चौरीचौरा कांड ही है। 1 फरवरी 1922 को सरकार को जनता के दमन, नेताओं की गिरफ्तारी तथा

सामूहिक संहार आदि अत्याचार संबंधी अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए पत्र लिखते हुए यह चेतावनी दे दी गयी थी कि यदि 7 दिनों में ऐसा नहीं हुआ तो सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया जायेगा। यह पत्र गांधी द्वारा लिखा गया था। परन्तु 7 दिनों के पूर्व ही चौरीचौरा में 5 फरवरी को कांग्रेस के जुलूस को पुलिस द्वारा रोके जाने से उत्तेजित जनता ने थाने में आग लगाकर 21 सिपाहियों का जला दिया था। इससे दुखी होकर गांधी ने आंदोलन ही स्थगित कर दिया था। इसके पूर्व अहमदाबाद और खेड़ा के सत्याग्रह में भी गांधी को दोष दिखायी दिया था, इसलिए उन्हें यह लिखना पड़ा कि ''..... खेड़ा जिले में तथा ऐसे दूसरे लोगों को कानून का सविनय भंग करने के लिए आवाहन करने में मैंने जल्दबाजी करने की गलती की थी और यह भूल मुझे पहाड़ जैसी जान पड़ी।''[13]

यद्यपि गांधी ने यह बात खेड़ा और उसके पूर्व के सत्याग्रह के संबंध में लिखी है, परन्तु संभवतः यह भूल गांधी से अंत–अंत तक होती रही, क्योंकि उनके शिष्य और सहयोगी सत्याग्रह के मूल अर्थ और तलीय मर्म को कभी नहीं समझ पाये। इसके सिवा और भी मामलों में गांधी से उनकी सहमति नहीं थी। तभी तो गांधी को 1925 में कांग्रेस का अध्यक्ष पद छोड़ना पड़ा और पद छोड़ते वक्त यह कहना पड़ा कि 'इन पढ़े–लिखों के दिमाग के साथ मेरा मूलभूत मतभेद है।' बाद में 1934 में उन्होंने कांग्रेस की प्राथमिक सदस्यता से भी इस्तीफा दे दिया। हालांकि इस्तीफे के बाद भी द्वितीय विश्वयुद्ध से उपजी परिस्थितिजन्य मजबूरी के कारण 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की बागडोर गांधी के हाथ में रही, परन्तु यह गांधी के नेतृत्व का आखिरी आंदोलन था। इसके बाद राजनीति और राजनेताओं ने गांधी को त्याग दिया। शायद आजादी की आसन्न सुबह के कारण अब उन्हें गांधी की जरूरत नहीं रह गयी थी। इसीलिए अब वे आजादी देने वाले लार्ड माउंटबेटन के साये में सिमट रहे थे, जैसा कि 'पूर्णाहुति' में प्यारेलाल लिखते भी हैं –''जागृत रूप से या अनजान में समग्र पुराना नेतामंडल, बाह्य आवकाश में आकाशगंगा के तारामंडलों की तरह, अगोचर रीति से एक अन्य सूर्य की कक्षा में –नये वाइसरॉय लार्ड माउंटबेटन की कक्षा में खिंचा जा रहा था। कुछ समय से वे तथा गांधीजी अलग–अलग भूमिकाओं से कार्य कर रहे थे और इसके कारण उनके सोच–विचार, उनकी दृष्टि तथा उनके झुकाव को अलग–अलग रूप मिला था। उनकी भूतपूर्व प्रेरणामूर्ति तथा उनके बीच का अंतर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। अनाड़ी बूढ़े को ऊंचे आसन पर बिठाया गया, उसकी प्रतिभा के लिए तथा उसकी 'अचूक सूझ' के लिये उसकी प्रशंसा की गयी, उसकी सलाह ली गयी।

आदरपूर्वक उसकी बात सुनी गयी और फिर उसको एक कोने में रख दिया गया।''[14]

इसीलिए विभाजन जैसे मुद्दों पर भी उन्हें अंधेरे में रखा गया, उनकी नहीं सुनी गयी। यद्यपि कि यह इतिहास का अनसुलझा प्रश्न है कि आजादी से पहले और आजादी के बाद भी हर छोटे–बड़े मसले पर सदा सत्याग्रह के लिए तत्पर गांधी ने विभाजन जैसे संवेदनशील, नकारत्मक और दूरगामी प्रभाव वाले मुद्दे पर सत्याग्रह क्यों नहीं किया? कहा जाता है कि तब उन्हें हाशिये पर डाल दिया गया था, उनकी कुछ नहीं सुनी जा रही थी; लेकिन तब तो सत्याग्रह की और आवश्यकता थी, क्योंकि जिस प्रविधि से लगातार विरोधियों से निबटा जा रह था, उसे अपनों के विरूद्ध अपनाया ही जाना चाहिए था और आजादी के बाद सांप्रदायिक दंगों को शांत करने के लिए गांधी ने अपनाया भी था। परन्तु विभाजन के मुद्दे पर गांधी द्वारा सत्याग्रह न किया जाना क्या सत्याग्रह के सीमित होने का प्रमाण है? क्या इसका प्रमाण है कि इससे विशिष्ट परिस्थितियों में सीमित समाधान ही मिल सकता है, सभी परिस्थितियों में सदैव इससे सफलता नहीं मिल सकती। हालांकि अंतिम प्रयास के रूप में गांधी ने माउंटबेटन को एक वैयक्तिक पत्र लिख कर मुल्क का विभाजन करने के बजाय किसी एक पक्ष को सत्ता सौंप कर चले जाने की बात कही थी, ताकि बाद में इसे अपने स्तर पर सुलझाया जा सके; लेकिन इसके लिए गांधी के अपने ही लोग तैयार नहीं थे। कांतिशाह के शब्दों में –''परन्तु ऐसा कोई भी कदम उठाने की तैयारी माउंटबेटन से भी अधिक कांग्रेस के नेताओं की बिल्कुल ही नहीं थी। इसलिए इस प्रस्ताव पर गंभीरता से सोच–विचार नहीं किया गया।''[15]

(V)

परन्तु ऐसा होना तो सत्याग्रह की सफलता पर और सवाल खड़े करता है, क्योंकि सत्याग्रह के द्वारा गांधी जिस ह्रदय–परिवर्तन की बात करते थे, वह उनके नेहरू जैसे खास अपने लोगों का नहीं हो पाया; और विनोवा जैसे लोगों का हुआ भी तो वे राजनीति से पृथक होकर सामाजिक और रचनात्मक कार्यों में लग गये। उल्लेखनीय है कि 1940 में वैयक्तिक सत्याग्रह के लिए, सत्याग्रह के जीवंत प्रतीक के तौर पर, प्रथम व्यक्ति के रूप में गांधी ने विनोवा का ही चयन किया था। नेहरू, पटेल और राजेन्द्र प्रसाद जैसे लोगों के रहते विनोवा का यह चयन भी क्या सत्याग्रह के विशिष्ट परिस्थिति में सीमित सफलता दिला पाने में सक्षम होने का सूचक है? क्योंकि तब विनोवा रचनात्मक कार्यों मे संलग्न अल्पज्ञात

व्यक्ति थे। आज भी देश में चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन तथा जर्मनी के पर्यावरण संरक्षण के ग्रीन आंदोलन जैसे छोटे और सामाजिक आंदोलन सत्याग्रह से प्रेरित–प्रभावित हैं, जिनका सीमित प्रभाव दिखायी देता है; मगर आतंकवाद जैसे बड़े राजनैतिक और व्यापक मुद्दों के विरूद्ध सत्याग्रह की कोई सुगबुगाहट कहीं सुनाई नहीं देती। तो क्या यह मान लिया जाये कि बड़े, व्यापक और राजनैतिक मामलों में सत्याग्रह की सफलता संदिग्ध है और कि सामूहिक स्तर पर इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता है?

संभवतः ऐसी बात नहीं है। गांधी ने स्वतंत्रता–संग्राम में राजनैतिक स्तर पर इसका सामूहिक प्रयोग करके जब सफलता प्राप्त की थी, जिसका उदाहरण चंपारण सत्याग्रह है, तो आगे भी इससे सफलता प्राप्त की जा सकती है। लेकिन हॉ! इसकी प्रक्रिया में एक परिवर्तन किया जाना अपेक्षित है। वह यह कि सत्याग्रह के द्वारा हृदय–परिवर्तन नहीं हो सकता, जिसका हृदय–परिवर्तन हो गया हो, उसके द्वारा सत्याग्रह किया जा सकता है। गांधी तथा विनोबा इसके सबल प्रमाण हैं, क्योंकि इन लोगों का हृदय–परिवर्तन पहले हो चुका था, इसलिए वे सत्याग्रह कर सके; वरना सत्याग्रह के द्वारा गांधी के नेहरू, पटेल जैसे शिष्यों का भी हृदय–परिवर्तन नहीं हुआ। अब चूंकि हृदय परिवर्तन एक वैयक्तिक घटना है, इसलिए एकबारगी किसी समूह का नहीं हो सकता। लेकिन धीरे–धीरे, एक–एक करके, यह परिवर्तन हो सकता है। इसलिए सत्याग्रह अनवरत चलेनवाली लंबी प्रक्रिया है, इसका अपेक्षित परिणाम देर से पर्याप्तता में मिल सकता है, मिल पाता है। गांधी ने भी अपनी पहाड़ जैसी भूल में जिस दोष का जिक्र किया है, वह जल्दबाजी ही है।

इसलिए सत्याग्रह के प्रभाव और परिणामों का विश्लेषण–मूल्यांकन करने के साथ–साथ अपने हृदय–परिवर्तन के लिए मुकम्मल और ईमानदार प्रयास किया जाना चाहिए। यह प्रयास शायद प्रतिबद्ध रूप से गांधी के रहते भी नहीं किया गया, वरना गांधी की आशा के विरूद्ध परिणाम नहीं आये होते। लेकिन आज गांधी हमारे बीच नहीं हैं, इसलिए उनके सपनों को साकार करने का दायित्व हमीं पर है। हमारी परंपरा में हृदय–परिवर्तन के बहुत सारे व्यावहारिक उपक्रम हैं, जिनमें से प्रार्थना जैसे एक उपक्रम का प्रयोग गांधी भी करते थे। इस तरह की और कई साधनात्मक प्रणालियां हैं, जिनके द्वारा स्व का बोध हो सकता है, सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। इस स्व–बोध और सत्य–साक्षात्कार की अनिवार्य निष्पति के रूप में जब हृदय–परिवर्तन होगा तो उसकी नींव पर खड़ी होने वाली

सत्याग्रह की इमारत कभी कमजोर नहीं होगी। सत्याग्रह–विषयक किसी भी विमर्श की सफलता और सुफलता भी तभी सिद्ध होगी। इसलिए अंत में शहरयार की इन पंक्तियों को उद्धृत करना सार्थक होगा कि –

''सियाह रात नहीं लेती है नाम ढलने का
यही तो वक्त है सूरज तिरे निकलने का
यहां से गुजरे हैं, गुजरेंगे हम–से अह्ले–वफा
ये रास्ता नहीं परछाइयों के चलने का।''

संदर्भ

1. गांधीजी, ''हिन्द–स्वराज'', नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, दिसम्बर 2005, पृ. 60
2. मोहनदास करमचंद गांधी, ''सत्य के प्रयोग अथवा आत्म–कथा'', सस्ता साहित्य मंडल, 97, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली–110001, 2003, पृ.–300
3. गांधीजी, ''हिन्द स्वराज'', पृ. 64
4. कांति शाह, ''हिन्द स्वराज : एक अध्ययन'', सर्व सेवा संघ–प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी–221001, सितम्बर, 2009, पृ. 30
5. गांधीजी, ''दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास'', नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, जनवरी 2007, पृ. 112
6. वही, पृ. 71–72
7. मोहनदास करमचंद गांधी, ''सत्य के प्रयोग अथवा आत्म–कथा'', पृ. 353
8. गांधीजी, ''दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास'' (प्रास्ताविक),पृ.8
9. उपरिवत्, पृ.9
10. मोहनदास करमचंद गांधी, ''सत्य के प्रयोग अथवा आत्म–कथा'', पृ. 382–83
11. उपरिवत्, पृ. 392
12. वही, पृ. 73
13. मोहनदास करमचंद गांधी, ''सत्य के प्रयोग अथवा आत्म–कथा'', पृ. 429
14. कांति शाह की पुस्तक ''हिन्द स्वराज : एक अध्ययन'' के पृ. 88 से उद्धृत
15. वही, पृ.89

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

चेतना और कृत्रिम बुद्धि : एक दार्शनिक विवेचन

*प्रो. नन्दिनी सिंह**

चेतना का प्रत्यय दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिये सदैव ही जिज्ञासा का विषय रहा है। हम प्रतिपल चेतन क्रियाओं को अभिव्यक्त करते हैं। हमारी बौद्धिक क्षमता, भाषिक प्रयोग, तर्क करने की योग्यता यहाँ तक कि हमारे बोलने, चलने, विभिन्न शारीरिक–मानसिक गतिविधियों में चेतना परिलक्षित होती है, किंतु चेतना वास्तव में क्या है? उसकी तत्वमीमांसीय स्थिति क्या है? चेतना भौतिक है अथवा उससे भिन्न है? जैसे अनेक प्रश्न चेतना के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं और आज भी निरुत्तरित हैं। विगत कुछ दशकों में संज्ञानात्मक विज्ञान (Cognitive Science) के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों यथा मनोविज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान, जीवशास्त्र, तर्कशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि के सम्मिलित प्रयास से चेतना के रहस्य को समझने का प्रयास किया जा रहा है। पुनः विज्ञान एवं तकनीक के विकास ने चेतना विषयक इस अध्ययन को एक और भी दिशा दी है।

आज वैज्ञानिक न केवल ऐसी मशीनें और रोबोट्स बनाने में संलग्न हैं जो मनुष्य की तुलना में अधिक सक्षम ढ़ंग से काम कर सकें बल्कि वे मनुष्य की बौद्धिक क्षमता से युक्त कृत्रिम बुद्धि के निर्माण में प्रयासरत हैं। अत्याधुनिक मशीनों एवं तकनीक जैसे सोफिया ह्यूमनौएड रोबोट, ऐलेक्सा, चैट–जी पीटी, आदि के आगमन ने इस बात को और बल दिया है। जिसका परिणाम यह है कि वैज्ञानिक अब चेतन मशीनों के निर्माण का दावा कर रहे हैं। इस प्रकार के दावों को बेहतर समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि कृत्रिम बुद्धि से हमारा वास्तविक तात्पर्य क्या है? और साथ ही चेतना से हम क्या समझते हैं? तभी हम वैज्ञानिकों के दावे के विषय में किसी युक्तिसंगत दार्शनिक निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं।

श्रीमती दूर्गावती देवी स्मृति महिला पुरस्कार प्राप्त आलेख-2022 67वाँ अधिवेशन, अ.भा.द.प.

* *दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी*

प्रस्तुत लेख में कृत्रिम बुद्धि के सामान्य परिचय के उपरान्त जॉन और सर्ल तथा डेविड चैमर्स के चेतना विषयक मत के सन्दर्भ में चेतना के स्वरूप को समझने की चेष्टा की जायेगी। दोनों ही इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण नाम है और वर्तमान में चेतना विषयक शोध पर अध्ययनरत हैं। चेतना की चर्चा से पूर्व कृत्रिम बुद्धि अर्थात AI (Artificial Intelligence) को समझना अनिवार्य है जिसका दावा वैज्ञानिकों द्वारा किया जा रहा है।

कृत्रिम बुद्धि की अवधारणा इस सोच पर आधारित है कि किसी भी तंत्र में दी गई सूचना पर कार्य करना (Process) ही वस्तुतः 'विचार' (Thinking) करना है। इस सोच की पृष्ठभूमि हॉब्स और लॉक जैसे अनुभववादी दार्शनिकों के चिन्तन में निहित है जिनका मानना है कि मनुष्य की बुद्धि वस्तुतः साफ स्लेट या कोरे कागज की तरह है। उसमें कुछ भी आंतरिक (Internal) नहीं है। उसे वही ज्ञान होता है, जिसकी सूचना इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रिय प्रदत्त (Sense Data) के रूप में उसे प्राप्त होता है। बुद्धि इस इन्द्रिय प्रदत्त पर ही कार्य करती है जिससे हमें जगत् का ज्ञान होता है। अन्य शब्दों में विचार करना, जानना, संज्ञान के रूप में कोई रहस्यमयी आंतरिक घटना घटित नहीं होती है, बल्कि सक्षम तंत्र में कुछ सूचनाओं को और साथ ही कुछ निर्देशों को भरने से एक पूर्णतः यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा जानने, पहचानने की क्रिया घटित होती है।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण कार्य गणितज्ञ Alan Turning द्वारा किया गया जो Turning Test[1] के नाम से प्रसिद्ध है जिनका प्रयास था कि किसी कम्प्यूटर को इतनी सूक्ष्मता से प्रोग्राम किया जाये कि उससे प्रश्न पूछे जाने पर वह इतनी दक्षता से उत्तर दे कि यह जानना असम्भव हो जाये कि प्रश्नों के उत्तर मशीन दे रही है अथवा कोई मनुष्य। सम्भवतः Turning Test के आधार पर जाँचें तो आज Chat Gpt बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होगा। ऐसे में यह विचारणीय प्रश्न हो जाता है कि मनुष्य की बुद्धि और कृत्रिम बुद्धि में क्या अंतर है। यहाँ कृत्रिम बुद्धि की निम्न 4 प्रकार की संकल्पनाओं पर विचार करना अनिवार्य है–

(1) प्रतिक्रियात्मक कृत्रिम बुद्धि (Reactive AI)
(2) सीमित–स्मृति कृत्रिम बुद्धि (Limited Memory AI)
(3) मनस–सिद्धान्त कृत्रिम बुद्धि (Theory of Mind AI)
(4) स्वचेतन कृत्रिम बुद्धि (Self Aware AI)[2]

प्रतिक्रियात्मक कृत्रिम बुद्धि AI का सबसे मूलभूत स्वरूप है। क्योंकि जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह दी गई परिस्थितियों में प्रतिक्रिया मात्र करता है। 1985 में निर्मित डीप ब्लू नामक सुपर कम्प्यूटर (H.B.M. निर्मित) जिसने 1997 में विश्व

में प्रथम स्थान के शतरंज खिलाड़ी गैरी कैस्परोव से शतरंज मैच जीता को AI के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है। प्रतिक्रियात्मक कृत्रिम बुद्धि उसी तरह से प्रतिक्रिया करती है जैसा उसे प्रोग्राम किया गया होता है। उसमें इनपुट के अनुरूप आउटपुट देने की योग्यता होती है। स्वयं से कुछ सीखने अथवा अतीत और भविष्य से जुड़ा कुछ ग्रहण करने जैसी क्षमता नहीं होती है।

सीमित–स्मृति–कृत्रिम बुद्धि की विशेषता है कि यह भरे गये डेटा अथवा सूचना को स्मरण रखता है और अनुभव से उसे हर बार सुधारता भी है। ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य के मस्तिष्क में जुड़े स्नायुतंत्र प्राप्त सूचना पर काम करते हैं, उन्हें स्मरण रखते हैं और अनुभव आधारित सुधार भी करते हैं। आजकल गहन शिक्षण डेटा (Deep learning tools) में इसका प्रयोग किया जाता है। इसमें कृत्रिम बुद्धि के अनुकूल वातावरण बनाया जाता है जिससे निर्धारित मॉडल्स स्वयं शिक्षित होते हैं। टेस्ला (Tesla) द्वारा स्वचालित कार (self driving cars) आदि इसी तकनीक पर विकसित किये जा रहे हैं।

मनुष्य की तरह जब मशीन में निर्णय लेने की क्षमता आ जायेगी तब इस प्रकार की कृत्रिम बुद्धि को मनसयुक्त माना जायेगा। ऐसी मशीनों में भावनाओं को समझने, तद्नुरूप निर्णय लेने की और व्यवहार करने की क्षमता आ जायेगी। यद्यपि अभी यह निर्मित नहीं हो सका है किंतु 2016 में बनी सोफिया रोबोट में ऐसे कुछ लक्षण होने का दावा किया गया है। सोफिया ने कुछ भावनाओं को पहचानकर तद्नुरूप व्यवहार किया है, लेकिन वैज्ञानिकों को अभी इसमें बहुत सफलता नहीं मिली है।

कृत्रिम बुद्धि का अंतिम स्वरूप स्वचेतन मशीनें होंगी। जब मशीनें न केवल दूसरों की भावनाओं और मनःस्थितियों को समझ सकेंगी बल्कि अपनी मनःस्थितियों को भी पहचान पायेंगी। तब उसमें मनुष्य के स्तर की चेतना, बुद्धि, इच्छायें, भावनायें एवं आवश्यकतायें होंगी।

यदि हम इस स्तर की कृत्रिम बुद्धि प्राप्त कर लेते हैं तो एक पाँचवें प्रकार की कृत्रिम बुद्धि की सम्भावना भी बनती है जिसे हम मनुष्य की बुद्धि का अतिक्रमण करने वाली कृत्रिम बुद्धि कह सकते हैं और इससे आगे अन्य सम्भावित प्रश्न बनेंगे।

इस प्रकार उपर्युक्त 4 प्रकार के AI स्वरूपों पर विचार करें तो प्रथम 3 कृत्रिम बुद्धि के प्रारूप कहीं न कहीं मशीनों के बेहतर से बेहतर इनपुट– आउटपुट की संकल्पना पर आधारित हैं। मनस की क्रियाविधि (Functionality) और उसकी

गणनात्मक (Computational) क्षमता को मशीन में अनूदित (Translate) या प्रतिरूपांतरित (Duplicate) करने का प्रयास कर रहे हैं और इसे वे कृत्रिम बुद्धि की संज्ञा दे रहे हैं किंतु चौथे स्तर पर जहाँ मशीनों में स्वचेतना की बात की जा रही है वहाँ वैज्ञानिकों का दावा है कि मनस की बाह्य रूप से परिलक्षित होने वाली गणनात्मक क्रियाविधि अथवा इनपुट के अनुरूप आउटपुट की क्षमता को अधिक सूक्ष्मता से मशीनों में रूपांतरित करने पर उसमें मनुष्य जैसी आंतरिक वैयक्तिक चेतना विकसित हो जायेगी। यहाँ कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते हैं–

(1) चेतना मूलतः क्या है?

(2) चेतना की तत्वमीमांसा क्या है ?

(3) क्या चेतना वैयक्तिक है ? अथवा कोई सार्वभौमिक प्रत्यय है? अथवा कुछ अन्य।

ध्यातव्य है कि सुप्रसिद्ध मनस दार्शनिक **डेनिएल डेनेट** ने अपनी पुस्तक Consciousness Explained में चेतना विषयक इस अस्पष्टता का परिचय दिया है जहाँ वे कभी उसे ''मानव चेतना'', कभी ''हमारे जैसी चेतना'', कभी ''पूर्ण अर्थ में चेतना'' जैसे शब्दों से अभिहित कर रहे हैं।[3]

(4) क्या चेतना को जिस नितांत वैयक्तिक रूप से हम अनुभव करते हैं उसे उसी रूप में शाब्दिक अभिव्यक्ति दे सकते हैं अथवा यह केवल अनुभूति का विषय है।

(5) क्या मनस की क्षमतायें जिन विविध रूपों में व्यक्त होती हैं चेतना मात्र उतनी है अथवा यह केवल उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है। इत्यादि

इन प्रश्नों के उत्तर के बाद ही हम किसी दार्शनिक निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं कि क्या कृत्रिम रूप से चेतना बुद्धि निर्मित हो सकती है? अथवा क्या मशीनें कभी चेतन हो सकेंगी आदि।

सुविदित है कि विगत कुछ दशकों में मनस दर्शन में चेतना विषयक अध्ययन विशेष रूप से संज्ञानात्मक विज्ञान के माध्यम से किया जा रहा है जिसमें जॉन आर. सर्ल एवं डेविड चैमर्स का नाम कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिकों में आता है। कृत्रिम बुद्धि अथवा मशीन में चेतना की सम्भावना विषयक इसचर्चा को इन दोनों दार्शनिकों के सन्दर्भ में समझने का प्रयास प्रस्तुत लेख में किया जायेगा।

वस्तुतः कृत्रिम बुद्धि की सम्भावना इन दो प्रश्नों के उत्तर की अपेक्षा रखती है–

(i) किस प्रकार मशीन में मनस (Mind) सम्भव है?

(ii) एवं मनुष्य, बुद्धि की क्रियाविधि से जो चेतन क्षमतायें बाह्य रूप से प्रदर्शित करता है हम उसके अतिरिक्त किसी आंतरिक मनस के विषय में क्यों सोचते हैं क्या यह वास्तव में राइल के मशीन में प्रेत की संकल्पना जैसा नहीं है?

हम प्रायः मनुष्य की बौद्धिक क्षमता को एक उच्चस्तरीय तंत्र द्वारा इनपुट के अनुकूल आउटपुट देने के रूप में देखते हैं और इसी कारण ऐसी ही क्षमता द्वारा मशीन में कृत्रिम बुद्धि विकसित करने का दावा करते हैं किंतु मनुष्य और मशीन के इनपुट–आउटपुट क्षमता में बहुत महत्वपूर्ण अंतर है। मनुष्य की इस क्षमता में एक अर्थ और तात्पर्य एवं कारण जुड़ा होता है जबकि मशीन में हम यह नहीं देखते और क्या अधिक आधुनिक प्रोग्रामिंग से यह क्षमता विकसित हो सकती है, यह सन्देहास्पद है। यहाँ जॉन आर. सर्ल का उल्लेख अनिवार्य है जो मनुष्य के इस दावे को नकारते हैं कि मानवीय बुद्धि जैसी कृत्रिम बुद्धि अथवा उच्चस्तरीय चेतना बनायी जा सकती है। वे अपने एक लेख "Mind Brain and Program"[4] में कृत्रिम बुद्धि विषयक दो अवधारणायें देते हैं–

(1) कृत्रिम बुद्धि की कमजोर अवधारणा (Weak AI)

(2) कृत्रिम बुद्धि की सशक्त अवधारणा (Strong AI)[5]

उनके अनुसार व्यावहारिक उद्देश्य के लिये हम मनुष्य की बुद्धि के गणनात्मक पक्ष को अथवा उसकी क्रियाविधि को मशीन की ऐसी ही क्षमता में विकसित कर सकते हैं यह कृत्रिम बुद्धि की अपेक्षाकृत कमजोर धारणा है। जबकि कृत्रिम बुद्धि की सशक्त अवधारणा मानती है कि एक उन्नत प्रकार से प्रोग्राम किये गये कम्प्यूटर के पास मनस या चेतना हो सकती है। सर्ल इस दूसरी विचारधारा का खण्डन करते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रसिद्ध ''चाइनीज रूम आर्ग्यूमेन्ट'' नामक वैचारिक प्रयोग दिया है जिसके अनुसार वह स्वयं को एक ऐसे कक्ष में बंद बताते हैं जिसमें चीनी भाषा से सम्बद्ध कुछ प्रतीक और निर्देश सम्बन्धी एक पुस्तक जो अंग्रेजी में है दी गयी है। उन्हें स्वयं चीनी भाषा का कोई ज्ञान नहीं है। अब अगर कमरे के बाहर से कोई व्यक्ति उन्हें चीनी भाषा में लिखकर कुछ प्रश्न पूछे तो अंग्रेजी की निर्देश पुस्तिका पढ़कर वे चीनी प्रतीकों में से सही प्रतीक चुनकर उसका जवाब बाहर के व्यक्ति को भेज सकते हैं। कमरे के बाहर खड़ा व्यक्ति सोच सकता है कि वह एक चीनी भाषी व्यक्ति से बात कर रहा है। इस स्थिति में Turning Test के हिसाब से देखें तो यदि कोई कम्प्यूटर प्रोग्राम किसी मनुष्य को यह विश्वास दिला दे कि वह मनुष्य से बात कर रहा है ना कि किसी कम्प्यूटर से तो कहा जा सकता है कि वह सोच सकता है। जबकि चाइनीज रूम आर्ग्यूमेन्ट यह दावा करता है कि कमरे में बैठा व्यक्ति कितने भी सही जवाब क्यों ना दे ले,

नहीं कहा जा सकता कि उसे चाइनीज आती है। वह केवल निर्देश के आधार पर सूचनात्मक प्रतिक्रिया कर रहा है।

पुनः सशक्त AI के दावों के विरूद्ध, जॉन आर. सर्ल अपने एक उद्‌बोधन Consciousness in Artificial Intelligence[6] (गूगल टॉक) में चेतना के सम्बन्ध में वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के अंतर को तथा ज्ञानमीमांसात्मक (Epistemic) और सत्तामीमांसात्मक (Ontological) के अंतर को स्पष्ट करते हैं।

उनके अनुसार जब हम किसी भी विषय में ज्ञान सम्बन्धी दावा करते हैं तब इसके दो सन्दर्भ हो सकते हैं–

(1) ज्ञानमीमांसीय वस्तुनिष्ठता

(2) ज्ञानमीमांसीय आत्मनिष्ठता

यदि हम कहते हैं कि 'क' की मृत्यु 2020 में हुई है तो यह एक ज्ञानमीमांसीय वस्तुनिष्ठ दावा है। लेकिन यदि हम कहते हैं कि 'क' एक अच्छा मनुष्य था तो यह एक ज्ञानमीमांसीय आत्मनिष्ठ दावा है।

इसी प्रकार सत्तामीमांसीय दृष्टि से अस्तित्व सम्बन्धी भी दो दावे हो सकते हैं–

(1) वस्तुनिष्ठ सत्तामीमांसा

(2) आत्मनिष्ठ सत्तामीमांसा

पर्वत, पेड़, मनुष्य, नदियाँ सब सत्ता की दृष्टि से वस्तुनिष्ठ हैं। लेकिन द्वन्द्व, पीड़ा आदि सत्ता की दृष्टि से आत्मनिष्ठ हैं। इन्हें एक व्यक्ति विशेष के द्वारा वैयक्तिक रूप से अनुभूत किया जाता है।

इस अंतर को ध्यान में रखना इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि ऐसे बहुत से प्रत्यय हैं जो सत्तामीमांसीय दृष्टि से आत्मनिष्ठ हैं, लेकिन ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से वस्तुनिष्ठ है जैसे चेतना। पुनः यहॉ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वस्तुनिष्ठ विज्ञान द्वारा आत्मनिष्ठ चेतना का अध्ययन सम्भव नहीं है? सर्ल कहते हैं कि यह Fallacy of Ambiguity है। विज्ञान निश्चित रूप से ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से वस्तुनिष्ठ है किंतु यह किसी अन्य ज्ञानमीमांसीय रूप से वस्तुनिष्ठ एवं सत्ता मीमांसीय दृष्टि से आत्मनिष्ठ प्रत्यय (चेतना) के अध्ययन की सम्भावना को समाप्त नहीं कर देता है। अतः सर्ल के अनुसार चेतना का अध्ययन विज्ञान द्वारा किया जा सकता है। हम एक ज्ञानमीमांसीय रूप से वस्तुनिष्ठ चेतना के विज्ञान पर बात कर सकते हैं लेकिन स्मरण रखना होगा कि चेतना सत्ता या अस्तित्व की दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिष्ठ है और इस आत्मनिष्ठता को हम मशीन में रूपान्तरित नहीं कर सकते।

पुनः एक अन्य अंतर की ओर वह ध्यान आकृष्ट करते हैं–

(1) प्रेक्षक स्वतंत्र (Observer-Independent)

(2) प्रेक्षक सापेक्ष (Observer-Relative)

पर्वत, अणु, वृक्ष आदि प्रेक्षक स्वतंत्र प्रत्यय हैं जो देखने वाले की दृष्टि से स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं लेकिन पैसा, सम्पत्ति, शादी, विश्वविद्यालय का अस्तित्व देखने वाले की दृष्टि पर निर्भर हैं। इन सबमें सत्तामीमांसीय आत्मनिष्ठता है।

संज्ञानात्मक विज्ञान में हम जो कुछ भी पढ़ते हैं जैसे चेतना, बुद्धि, स्मृति, प्रत्यक्ष, विचार, सबके दो सन्दर्भ हैं– एक प्रेक्षक स्वतंत्र और दूसरा प्रेक्षक सापेक्ष।

अब यदि चाइनीज रूप आर्ग्यूमेन्ट में कमरे में बैठे व्यक्ति की स्थिति देखें तो उसे पूरी तरह व्याकरण और वाक्य रचना नियम बताने वाले निर्देश दिये गये थे जिसके आधार पर वह चीनी भाषा में पूछे गये प्रश्नों का उसी भाषा में उत्तर दे रहा था। उसे उन प्रतीकों में छिपे अर्थ का ज्ञान नहीं था और जैसा कि उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन भी मानते हैं। भाषा का अर्थपूर्ण प्रयोग एक निश्चित जीवनशैली में पले–बढ़े होने की अपेक्षा रखता है[7] जो स्वभावतया उस कक्ष में बैठे व्यक्ति को प्राप्त नहीं है। अतः सर्ल कहते हैं कि मशीन अथवा कम्प्यूटर व्याकरण और वाक्य रचना की प्रोग्रामिंग करते हैं वे शब्दों में निहित अर्थ की प्रोग्रामिंग नहीं कर सकते। यह मनुष्य उपयुक्त और अनिवार्य स्थितियों में खुद विकसित करता है। सर्ल कहते हैं कि Syntax (व्याकरण) को Semantics (अर्थ) नहीं माना जा सकता।

पुनः जब हम कृत्रिम बुद्धि की बात करते हैं तो बुद्धि के दो सन्दर्भ और अर्थ हो सकते हैं–

(i) प्रेक्षक– स्वतंत्र अर्थ

(ii) प्रेक्षक– सापेक्ष अर्थ

उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति के पास एक कुत्ता और एक कम्प्यूटर है। निश्चित रूप से वह व्यक्ति अपने कुत्ते से अधिक बुद्धिमान है। दोनों में एक जैसी आंतरिक (Intrinsic) बुद्धि है पर मनुष्य में कुत्ते से अधिक है। व्यक्ति का कम्प्यूटर भी बुद्धिमान है लेकिन उसी अर्थ में नहीं उसके पास आंतरिक बुद्धि नहीं है। हम कम्प्यूटर को देखकर उसमें सत्तामीमांसीय रूप से वस्तुनिष्ठ बुद्धि का दावा नहीं कर सकते। सर्ल कहते हैं कि डीप ब्लू कम्प्यूटर ने भले ही दुनिया के नं. एक शतरंज खिलाड़ी को खेल में हरा दिया लेकिन यह उसकी आंतरिक (Intrinsic) बुद्धि नहीं थी, बल्कि प्रेक्षक सापेक्ष दृष्टि से हम उसमें केवल ज्ञानमीमांसीय वस्तुनिष्ठ बुद्धि को स्वीकार कर सकते हैं। सर्ल के शब्दों में–

"All the Intelligence is in the eye of the beholder, it is all observer relative."[8] लेकिन जब तक व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये इस तरह की प्रेक्षक सापेक्ष, कृत्रिम बुद्धि का हम प्रयोग कर रहे हैं हमें इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि बुद्धि आंतरिक है अथवा प्रेक्षक स्वतंत्र है, लेकिन समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम गणनात्मक, क्रियात्मक क्षमता को बुद्धि मानकर कृत्रिम चेतना का दावा करते हैं।

वस्तुतः मशीन द्वारा प्रेक्षक सापेक्ष गणनात्मक क्षमता और मनुष्य की प्रेक्षक स्वतंष गणनात्मक एवं क्रियात्मक क्षमता में जो मौलिक अंतर है वह चेतना का अंतर है। सभी प्रेक्षक–सापेक्ष प्रत्यय पशु अथवा मानवीय चेतना का परिणाम है, चेतना स्वयं इनका परिणाम नहीं है।

इस प्रकार सर्ल उन दार्शनिकों की श्रेणी में आते हैं जो चेतना को उसकी विशिष्ट वैयक्तिक प्रकृति के कारण विशेष मानते हैं। उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति की चेतना का अस्तित्व केवल प्रथम पुरुष के सन्दर्भ में है जिस तक दूसरे की पहुँच सम्भव नहीं है। सम्भवतः थॉमस नेगल का प्रसिद्ध लेख What is it to be like a bat[8] इसी बात की ओर संकेत करता है कि हम कभी भी किसी चमगादड़ के रूप में होने को नहीं समझ सकते। शायद इसीलिये हम कार्टून के चरिषों को चाहे वे पशु ही क्यों ना हों मनुष्य की तरह व्यवहार करते, सोचते–समझते दिखाते हैं। चेतना के सम्बन्ध में हमारा सारा अध्ययन वर्तमान में मस्तिष्क के स्नायुतंत्र के अध्ययन पर आधारित और उस तक सीमित है लेकिन सर्ल का मानना है कि हर वैज्ञानिक व्याख्या कारणात्मक सम्बन्धों अथवा क्यों प्रश्नों के उत्तर देती हो आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिये हम जानते हैं कि गुरुत्वाकर्षण से भौतिक शरीर पृथ्वी के केन्द्रिय ध्रुव की ओर आकृष्ट होता है। किंतु यह नहीं जानते कि क्यों होता है। अतः चेतना जैसे विषय को लेकर मानवीय बुद्धि की सीमायें हैं हमें उसे विकास प्रक्रिया में भौतिक स्नायुतंष से उद्भूत गुण के रूप में देखना होगा जो स्वयं भौतिक नहीं है। वस्तुतः उसे श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता ऐसा करने का हमारा प्रयास ही व्यवहारवाद, क्रियावाद, कृत्रिम चेतना आदि रूपों में परिणत होता है।

ऐसा ही एक प्रयास वर्तमान में मनस–दर्शन से जुड़े सबसे महत्वपूर्ण एवं चर्चित दार्शनिक डेविड चैमर्स का है। जो न्यूयौर्क में Centre for Mind, brain and Consciousness के प्रमुख हैं। चैमर्स का मनस–दर्शन को सबसे बड़ा योगदान चेतना विषयक सरल समस्या और कठिन समस्या (Easy and Hard-Problem of Consciousness)[9] का विभाजन है। उनके अनुसार मनस किस

प्रकार बाह्य वातावरण से संवेदनायें ग्रहण करके उन पर कार्य करता है। हमारा बोलना, देखना, स्मरण आदि प्रक्रिया चेतना के सरल प्रश्नों से जुड़ा है जिसका उत्तर संज्ञानात्मक विज्ञान द्वारा दिया जा रहा है अथवा दिया जा सकता है, किंतु मनस माष इतना नहीं है। कोई भौतिक (मस्तिष्क) तंष कैसे एक विषयी, ज्ञाता बन सकता है? मानसिक घटनायें कैसे घटित हो रही हैं? क्यों वह बाह्य व्यवहार में कारणात्मक रूप से जुड़ी हैं? हमारे हर अनुभव में एक गुणात्मक विशिष्टता कैसे जुड़ जाती है यह चेतना विषयक कठिन प्रश्न है। चैमर्स चेतना के सम्बन्ध में प्राकृतिक द्वैतवादी Natural Dualistic View[11] मत देते हैं। चैमर्स के अनुसार चेतना को समझने के लिये भौतिकी के वर्तमान नियम पर्याप्त नहीं है अतः हमें मौलिक वैज्ञानिक नियमों के आरम्भिक स्तर पर एक अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक–भौतिक (Psychophysical Law) नियम स्वीकारना होगा जो मस्तिष्क की भौतिक प्रक्रिया और चेतन अनुभवों की उत्पत्ति में विद्यमान सम्बन्ध की विवेचना कर सके। चेतना विषयक इस रहस्यात्मकता को स्वीकार करने के बाद भी चैमर्स वैज्ञानिकों के AI विषयक दावे को अस्वीकार नहीं करते। इस विषय में वह संगठनात्मक अपरिवर्तनीयता के नियम (The Principle of Organizational invariance)[12] को स्वीकारते हैं। जिसके अनुसार यदि हम सूक्ष्म स्तर पर स्नायु तंत्र का अध्ययन करें तो हम निर्धारित कर सकते हैं कि उसकी बनावट व्यवहार को कैसे जन्म देती हैं और यदि हम मस्तिष्क की कोशिका को कम्प्यूटर चिप से बदल दें और वे चिप मस्तिष्क की स्नायु कोशिका जैसा व्यवहार करे तो उससे भी सम्बन्धित व्यवहार सम्भव होगा। उनका दावा है कि चेतना, सूक्ष्म–क्रियात्मक–संगठन से उत्पन्न होती है। अतः वे मानते हैं कि कोई भी तंत्र जिसमें चेतन अनुभव है उसके क्रियात्मक संगठन को किसी दूसरे तंत्र में निर्मित करने पर वह गुणात्मक दृष्टि से एक समान अनुभव को जन्म देगा। यही संगठनात्मक अपरिवर्तनीयता का नियम है। लेकिन ठीक वैसे ही जैसे चेतना भौतिक (मस्तिष्क) से उत्पन्न होकर भी स्वयं भौतिक नही है ठीक वैसे ही वह मस्तिष्क की स्नायुतंत्रकीय संगठन से उत्पन्न होकर भी उस संगठन से निगमित (supervene) नहीं है। तात्पर्य मात्र इतना है कि किसी तंत्र में यदि अमुक क्रियात्मक संगठन है तो उसमें चेतन अनुभव भी है। वे उससे उत्पन्न नहीं हैं। अतः यदि कम्प्यूटर अथवा मशीन में हम किसी जैव रासायनिक तत्व (जैसा कि सर्ल का दावा है) के स्थान पर कम्प्यूटर चिप के द्वारा मस्तिष्क का क्रियात्मक संगठन बना ले तो उसके साथ चेतन अनुभव स्वतः जुड़ जायेगा। चैमर्स इसे क्रियात्मक अन्यूनीकरण (Non Reductive Functionalism)[13] कहते हैं।

- कृत्रिम बुद्धि अथवा मशीन में चेतन अनुभव की सम्भावना को स्वीकार करने वाले डेनिट चेतन अनुभव को चेतना विषयक कठिन समस्या मानते हैं, उसे भौतिक नियम की समझ से बाहर की वस्तु बताते हैं, उसे समझने के लिये प्राकृतिक स्तर पर मनोवैज्ञानिक भौतिक नियमों की स्वीकृति की बात भी करते हैं और साथ ही कृत्रिम बुद्धि को भी स्वीकार करते हैं किंतु क्या वास्तव में यह एक स्वतो व्याघात नहीं हैं।
- संज्ञानवाद की समस्त उपलब्धियों के बाद भी चेतना की कठिन समस्या हमारे लिये एक अबूझ पहेली है।
- चेतना का प्राकृतिक प्रत्यय अपने उपलब्ध रूप में हमारे लिये अभी भी अबूझ है फिर हम किस आधार पर कृत्रिम रूप से चेतन मशीनों को बनाने का दावा कर सकते हैं?
- क्या हम यह कहना चाहते हैं कि चेतना अथवा सृष्टि बस सांयोगिक रूप से (Randomly) उत्पन्न है अतः हम मस्तिष्क के स्नायु तंत्र की क्रियात्मकता को कम्प्यूटर चिप की यथावत् क्रियात्मकता से बदल दें तो हमें चेतना प्राप्त हो जायेगी? क्या प्रकृति के तत्व हमें ऐसे ही सांयोगिक और एकाएक उत्पन्न हुये लगते हैं?

वस्तुतः यहाँ मैं अपनी बात को जॉन आर. सर्ल की इस बात के साथ समाप्त करना चाहूँगी जहाँ वे अपनी पुस्तक The Rediscovery of Mind में कहते हैं कि 'शोध के लिये स्वयं को सम्भाव्य रूप से सर्वज्ञ मानना उचित है लेकिन इसे तथ्य बताना धोखे की तरह है।'[14] कम से कम चेतना के विषय में सर्वज्ञता का दावा ऐसा ही है।

पुनः उनके शब्दों में 'यह मानना एक त्रुटि है कि जो कुछ भी अस्तित्ववान है वह मानवीय बुद्धि द्वारा ग्राह्य है।'[15]

अतः हमारे पास दो विकल्प बचते हैं या तो हम मान लें कि अपने ज्ञान की सीमा का बोध भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। परन्तु यदि हम इससे संतुष्ट नहीं है और सकारात्मक उत्तर चाहते हैं तो हम भारतीय दार्शनिक दृष्टि के अनुरूप यह स्वीकार कर लें कि बुद्धि ही ज्ञान का एकमात्र साधन नहीं है बल्कि अन्य उन्नत साधन भी है जिन्हें साधना से विकसित किया जा सकता है और जिसके द्वारा वह भी ग्राह्य है जो मानवीय बौद्धिक स्तर पर बोधगम्य नहीं है।

किन्तु स्मरणीय है कि यह भी प्रथम पुरुष के सन्दर्भ में अनुभूत किया जाने वाला ज्ञान होगा जिस तक दूसरे किसी की पहुँच सम्भव नहीं है।

संदर्भ

1. Thompson Mel, Philosophy of Mind,Hodder Education, 338, Euston Road, London Road London, 2001, p.65
2. Marr Bernard. "The 4 Types of Artificial Intelligence" Youtubeuploaded by Marr Bernard 17th June 2021, https://www.youtube.com/watch?v=Whpcb-gCIBY
3. Lockwood Michael, Dennet's Mind, in Hannay Alastin (Ed.) Inquiry, Scandinanian University Press, Qslo, Norway, Vol. 36 March, 1993, p.66
4. Searl R. John,"Mind Brain and Program",David M. Rosenthal(Ed.) The Nature of Mind, Oxford University Press, 1991
5. वही पृ.सं. 509
6. Searl R. John "Consciousness in Artificial Intelligence" Youtube,uploaded by Talks at Google, 4th December 2015 https://www.youtube.com/watch?v=rHKwIYsPXLg&t=1784s
7. Ludwig Wittgenstein, Philosophical Investigation, Basil Blackwell Ltd. Oxford , UK, 1995,p.174
8. Consciousness in Artificial Intelligence, John Searle, Talks at Google
9. Thomas Nagel, What is it like to be a Bat? David M. Rosenthal(Ed.) The Nature of Mind, Oxford University Press,1991, p.422-428
10. David J. Chalmers, The Conscious Mind, Oxford University Press, Oxford,1996, p.24
11. वही पृ. 123
12. वही पृ. 247–248
13. वही पृ. 249
14. Searle John R. The Rediscovery of the Mind, The MIT Press London, England,1995, p.24
15. वही पृ. 23

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

प्राचीन भारत में शिक्षा–विमर्श

प्रो. बिनोद कुमार चौधरी *

मानव जीवन में शिक्षा का महत्त्व सर्वविदित है। अन्य प्राणियों के साथ मनुष्य ने विकास की लम्बी यात्रा पूरी की है। इस यात्रा–क्रम में अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य ने जो सर्वांगीण विकास प्राप्त किया है उसके आधारभूत कारणों में शिक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती रही है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तु का यह कथन कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" मनुष्य के जीवन में शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट कर देता है। जहाँ अन्य प्राणियों के नवजात शिशु बिना शिक्षा के ही अनेक क्रियाएँ स्वतः करने लगते हैं, वहीं मनुष्य का नवजात शिशु सीखने की अनिवार्य प्रक्रिया से होकर ही जीवन के विविध क्षेत्रों में कुशलता प्राप्त करता है। शिक्षा से प्राप्त संस्कार की महत्त्वपूर्ण भूमिका किसी से छिपी नहीं है। भर्तृहरि ने इसी को धर्मनाम से महत्त्व देते हुए कहा है.

"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणां।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः।"[1]

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये सभी क्रियाएँ मनुष्य एवं अन्य प्राणियों में समान रूप से पायी जाती है। मनुष्य को इन प्राणियों से भिन्न बनाने वाला तथ्य धर्म या सीखे गए संस्कार हैं जो मनुष्य इन संस्कारों से रहित हैं, वे पशुओं के समान हैं। निम्नलिखित कथन में भी लगभग इन्हीं शब्दों में शिक्षा या विद्या का प्रशस्तिगान किया गया है–

विद्या नामनरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी, विद्यागुरूणां गुरूः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते नहिधनं, विद्याविहीनः पशुः।[2]

** दर्शनशास्त्र विभाग, नव नालन्दा महाविहार, सम विश्वविद्यालय, नालन्दा*

अर्थात् विद्या मनुष्य का विशेष स्वरूप है, यह प्रच्छन्न और गुप्त धन है। जो विद्या से रहित है, वह वस्तुतः पशु है।

विश्व की समस्त प्राचीन सभ्यताओं का विकास भिन्न–भिन्न प्राचीन समाजों के बीच सक्रिय पारस्परिक अन्तःसंवादों की सुदीर्धकालीन प्रक्रिया से गुजरकर ही हुआ है। कहीं भी और कभी भी प्राचीन सभ्यता का विकास सामाजिक आदान–प्रदान से जनित शिक्षा की गहरी प्रक्रिया द्वारा ही संभव हुआ है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आज की समुन्नत संचार प्रणाली के समुन्नत वातावरण में रहने वाले आधुनिक मानव–समाज के विकास की जो लम्बी यात्रा मनुष्य ने पूरी की उसमें सबसे अधिक शिक्षा का महत्त्व है और आगे भी रहेगा। वस्तुतः शिक्षा की महत्ता सभी कालों और सभी क्षेत्रों में समान रूप से रही है। शिक्षा के बिना हम कभी भी आज की समुन्नत स्थिति तक नहीं जा सकते थे।

भारत की सभ्यता और संस्कृति विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। विश्व के प्राचीनतम शिक्षा केन्द्रों में भारत के शिक्षा–केन्द्र निःसंदेह रूप से अन्यतम है। साथ ही प्राचीन भारतीय साहित्य में किया गया शिक्षा–विषयक चिन्तन भी अत्यन्त समृद्ध है। देश और काल की परिस्थितियों में अनेक भिन्नताएं हो जाने पर भी प्राचीन भारत की शिक्षा विषयक विचारधारा तथा प्राचीन शिक्षा केन्दों के सुचारू संचालन आदि की कुछ बातें आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है। यह देखा जा रहा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त शिक्षा–प्रणाली को व्यवस्थित रूप देने हेतु अनेक प्रयास किए गए तथा विशेषज्ञों की समितियाँ गठित की गई। किन्तु उन सभी से अपेक्षित सफलताएँ प्राप्त नहीं हो सकीं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें से एक विदेशी शिक्षा–प्रणाली पर अत्यधिक निर्भरता भी हो सकती है। यह सर्वविदित है कि अंग्रेजों ने अपनी प्रशासनिक सुविधाओं तथा भारतीयों को मानसिक रूप से अपने अधीन रखने की एक सुनिश्चित योजना के तहत ही आधुनिक शिक्षा–पद्धति स्वतंत्रता–प्राप्ति से पूर्व प्रचलित की थी। आज भी लगभग वही शिक्षा–प्रणाली भारत में थोड़ी बहुत अन्तर के साथ प्रचलित है। आवश्यकता है कि हम अपनी मानसिक संस्कृति तथा समकालीन आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए एक बार फिर प्राचीन भारतीय शिक्षा–प्रणाली तथा उसमें अन्तर्निहित विचारधारा की भी सूक्ष्म जाँच पड़ताल करें और हमारे अतीत की मूल प्रणाली में विद्यमान कुछ अच्छे विचारों को बेझिझक होकर आधुनिक शिक्षा–प्रणाली के लिए ग्रहण करें, अनुसंधान न करें। प्रस्तुत आलेख में प्राचीन शिक्षा प्रणाली की कुछ ऐसी ही विशेषताओं पर दृष्टिपात किया जा रहा है।

अनेक आधुनिक शिक्षा–शास्त्रियों के समान प्राचीन भारतीयों ने भी शिक्षा शब्द का प्रयोग विस्तृत और संकुचित दोनों अर्थों में किया था। विस्तृत अर्थ में

अपने को सभ्य एवं समुन्नत बनाना ही शिक्षा है और यह काम पूरे जीवन भर चलता रहता है। कहा भी गया है–'यावज्जीवमधीते विप्रः।' अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति जीवन भर विद्यार्थी बना रहता है। लेकिन शिक्षा के उद्देश्य एवं आदर्श पर विचार करते समय शिक्षा शब्द के संकुचित अर्थ का भी प्रयोग किया जाता है जिसके अनुसार प्रत्येक युवा अपने व्यवसाय में लगकर जीवन में प्रविष्ट होने के पूर्व जिस ज्ञान को ग्रहण करता है वही शिक्षण होता है।

भारत में शिक्षा प्रकाश का स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षार्थी का मार्ग दर्शन करता है। एक प्राचीन विचारक के अनुसार ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्त्वों के मूल को समझने में सक्षम बनाता है। महाभारत के अनुसार विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं है तथा विद्या मुक्ति दिलाने वाली होती है। कहा भी गया है– 'सा विद्या या विमुक्तये।'

नर–नारियों को शिक्षा से जिस सही दृष्टिकोण की प्राप्ति होती है उससे उनकी बुद्धि, बल और कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। मलकास्टर नामक पश्चिमी विचारक के समान प्राचीन भारतीयों का भी यह विचार था कि शिक्षा हमारी प्राकृतिक शक्ति को पूर्ण बनाती है। एक नीतिकार का यह कहना है कि शिक्षा के संस्कार से अपूर्ण ब्राह्मण भी शूद्र होता है। शिक्षा ही उसे शुद्ध और सुसंस्कृत ब्राह्मण बनाती है। कहा भी गया है–

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते
विद्ययया याति विप्रत्व त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।"

(अर्थात् मनुष्य जन्म से शूद्र होता है तथा शिक्षा के संस्कार से वह द्विज कहलाता है। विद्या से वह विप्रभाव को प्राप्त करता है और तीनों वेदों के ज्ञान से श्रोत्रिय कहलाता है।) शिक्षा का अर्थ केवल किताबी ज्ञान नहीं होता क्योंकि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान रखने पर भी यदि मनुष्य के अन्दर अन्तर्दृष्टि एवं व्यावहारिक सदाचार विकसित नहीं हुआ है तो वह व्यक्ति निरक्षर तथा अशिक्षित मूर्ख ही है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में क्रियावान पुरुष सच्चे अर्थों में शिक्षित माना जाता है। महाभारत में कहा गया है–

पठकः पाठकश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खाः यः क्रियावान सः पण्डितः।।[3]

अर्थात् पढ़ने और पढ़ाने वाले तथा जो भी शास्त्र पढ़ने वाले हैं उन सभी को व्यसन से ग्रस्त मूर्ख समझना चाहिए। पंडित वही है जो क्रियावान है। यह सत्य है कि मनुष्य के लिए जीवकोपार्जन आवश्यक है लेकिन प्राचीन भारत में ऐसे विचारकों की बहुत निन्दा की गई जो इसे जीविका का साधन–मात्र बतलाते हैं। कहा भी गया है–

यस्यागमः केवलजीवकाध्ध्तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।[4]

(अर्थात् जिसका ज्ञान केवल जीविका कमाने के लिए है उसे ज्ञान की बिक्री करने वाला वणिक या व्यापारी कहा गया है।)

ईश्वर–भक्ति, धर्म–विश्वास, चरित्र–निर्माण, व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सामाजिक गुणों की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रचार प्राचीन भारतीय शिक्षा–शास्त्रियों की दृष्टि में शिक्षा के मुख्य आदर्श थे।

भारतीय चिन्तन परम्परा में साहित्यिक और व्यावसायिक अथवा प्रारंभिक और उच्च इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं के प्रारंभ से पूर्व कुछ संस्कारों की व्यवस्था की गई है। साथ–साथ अध्ययन–काल में भी सन्ध्या–वंदन आदि व्रतों का पालन ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक माना गया है। इन सबका लक्ष्य छात्र के अन्दर आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का सृजन करके उसे इस संसार के साधारण प्रलोभनों के समक्ष पूरी तरह अडिग बनाना था। परन्तु धार्मिक वातावरण तैयार करने का उद्देश्य यह कदापि नहीं था कि ब्रह्मचारी संसार का परित्याग कर बुद्ध के समान गृहत्यागी बन जाए। चार आश्रमों की व्यवस्था से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन तीनों आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम को सर्वोपरि महत्त्व शिक्षार्थी के लिए निर्धारित किया गया था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के मुख्य तत्त्वों के मनन चिन्तन से यह बात स्पष्ट होती है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श धार्मिकता की भावना का सृजन, विद्यार्थी के उत्तम चरित्र का निर्माण, मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, आत्म–विश्वास और आत्म–संयम का सुदृढ़ीकरण विद्यार्थी में विवेक अथवा निर्णय करने की क्षमता का विकास, सामाजिक कर्तव्यों के पालन का आग्रह, संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार आदि थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का उद्देश्य इन उद्देश्यों के साथ–साथ अन्य क्षेत्रों में सम्पूर्ण रूप से उन्नति प्राप्त करना है। प्राचीन भारतीय शिक्षा–शास्त्रियों ने मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के आलोक में शिक्षा प्रणाली में सामाजिक कर्तव्यों को पूरा करने पर विशेष जोर दिया है। इन विचारों के अनुसार यदि कोई भी राष्ट्र अपनी सांस्कृतिक धरोहरों का संरक्षण और संवर्धन नहीं कर सकता तो वह राष्ट्र शिक्षित कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। प्रसिद्ध वैयाकरण भाष्यकार पतंजलि ने शिक्षा ग्रहण करने के अनेक उद्देश्यों को प्रकाशित करते हुए यह भी कहा कि ब्राह्मण को बिना किसी भौतिक प्रलोभन से वेदों का अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली ने कई सौ वर्षों तक वेदों, वेदांगों, बुद्ध और महावीर के वचनों को सुरक्षित रखने और आज की पीढ़ी तक प्रामाणिक रूप में पहुँचाने का कार्य बड़ी योग्यता के साथ किया।

जब हम प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्य और शिक्षा के आदर्शों पर दिए गए विचारों पर दृष्टि डालते हैं तो उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा का अर्थ गुरुजनों की वाणी अथवा पुस्तकों में लिखित एवं प्रतिष्ठित विषयों का ज्ञान मात्र नहीं हो सकता। शिक्षा का वास्तविक अर्थ मनुष्य का सम्पूर्ण रूप से विकास कराने वाली अन्तर्ज्योति की उपलब्धि है। साथ ही साथ इस अन्तर्ज्योति से शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का परिमार्जन एवं संस्करण होता है।

अनेक पश्चिमी विचारकों के समान प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में भी शिक्षा का अर्थ शिक्षार्थी को एक आदर्श मानव के रूप में विकसित करना था। इसलिए एक विचारक ने कह दिया कि धर्मात्मा ही पंडित है। इस बात की पुष्टि महाभारत में भी हुई है–'धर्मोहि यो बध्यते सः पण्डितः।'[5] प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात ने भी यह कहा था कि शील ही ज्ञान है। आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को नजरअंदाज करने वाली पश्चिम से आयी हुई आज की शिक्षा का दुष्परिणाम पश्चिमी देशों में तथा भारत में भी भली भाँति देखा जा सकता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने शिक्षा के नाम पर विशुद्ध पुस्तकीय ज्ञान अथवा विषयों के ज्ञान को मात्र शिक्षा समझने वाले विचार से उत्पन्न संकट को भली भाँति देख लिया था। इसलिए उन्होंने आग्रह के साथ यह कहा था कि वास्तविक शिक्षा वही है जिससे शिक्षार्थी के मन में मानवता के प्रति सौहार्द्र की भावना उत्पन्न हो तथा अपने मन पर अंकुश लगाने की शक्ति भी उसमें विकसित होती रहे। दूसरे शब्दों में मनुष्य में मानवता एवं नैतिकता का विकास करके उसकी पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाते हुए उसके स्वभाव को आदर्श बनाना ही वास्तविक शिक्षा है।

प्राचीन भारत के इतिहास के विभिन्न कालों में शिक्षा–पद्धतियों का स्वरूप भी भिन्न–भिन्न था तथा भिन्न–भिन्न विषयों के पाठ्यक्रम तथा शिक्षण–पद्धतियाँ भी भिन्न–भिन्न थी। प्राचीन भारत में यह आशा की जाती थी कि शिक्षा सम्पूर्ण समाज की उन्नति के लिए सर्वोत्तम साधन है तथा शिक्षा व्यक्ति को जीवन की कठिनाइयों का सामना करने योग्य बनाती है। इसलिए यह आग्रह था कि शिक्षा अनेक विषयों का साधारण ज्ञानमात्र कराने वाला साधन नहीं है अपितु इसका आदर्श विभिन्न क्षेत्रों में उच्च कोटि के विशेषज्ञ तैयार करना है। इसके लिए सबसे पहले ब्रह्मचारी की स्मरण शक्ति को विशेष रूप से विकसित करने के लिए इस ढ़ंग से प्रयास किया जाता था कि छात्र विद्यालय में जो कुछ पढ़े वह पूरे जीवन उसे स्मरण रहे और उसके काम आए। व्यावसायिक शिक्षा में किसी कारण प्रायोगिक शिक्षण पर जोर दिया जाता था। प्राचीन शिक्षा प्रणाली की कुछ अन्य बातें निम्नलिखित हैं–

1. प्राचीन काल में भारत में दर्शन का अध्ययन न्याय के अध्ययन के बिना पूरा नहीं माना जाता था, क्योंकि इसके बिना अपने दर्शन की युक्ति–युक्तता के साथ–साथ विरोधी दर्शनों के वादों के खंडन की क्षमता भी प्राप्त हो जाती थी। गौड़पाद तथा शंकराचार्य जैसे वेदान्ती दार्शनिक तथा नागार्जुन और वसुबन्धु जैसे बौद्ध दार्शनिक अपने विरोधी दर्शनों से भी पूर्ण रूप से पारंगत थे। इससे यह सूचित होता है कि उस काल में विभिन्न दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन होता था जिससे विद्यार्थी का दृष्टिकोण विशाल और पांडित्य गंभीर होता था। आज की शिक्षा–पद्धति में इस तथ्य की ओर कम ध्यान दिया जा रहा है जिससे दर्शन के क्षेत्र में गुणवत्ता अत्यधिक प्रभावित हुई है।

2. दैनिक अभ्यास का अत्यधिक महत्त्व था। विद्यार्थी की दैनिक चर्चा इस प्रकार की बनाई गई थी जिससे उसकी आदतें अच्छी बनें तथा उसकी शिक्षा का क्रम सफलता पूर्वक समाप्त हो।

3. प्राचीन भारत के हिन्दू एवं बौद्ध दोनों शिक्षा–प्रणालियों में विद्यार्थी की ज्ञान–वृद्धि और चरित्र–निर्माण के लिए यह आवश्यक माना गया था कि वह अपने गुरुजनों के साथ रहें तथा उनसे आदर्श व्यावहारिक जीवन की शिक्षा लें। साथ ही वह अपने सहपाठियों के चयन में बहुत सतर्क रहें। बौद्ध विहारों तथा हिन्दू गुरुकुलों में विद्यार्थी को आचार्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में निवास करने का निर्देश दिया गया। उस समय विद्यार्थी को अन्तेवासी कहा जाता था जिसका अर्थ है आचार्य के समीप में निवास करने वाला। बौद्ध ग्रन्थों में यह कहा गया है कि आचार्य अपने शिष्य को पुत्र जैसा समझें। तक्षशिला के गुरुकुलों तथा नालन्दा एवं विक्रमशिला के महाविहारों की शिक्षा पद्धति में शिक्षक एवं शिक्षार्थी के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध का अत्यधिक महत्त्व दिया गया था।

आधुनिक काल में शिक्षण–संस्थाओं को जो महत्त्व प्राप्त है प्राचीन भारत में वही महत्त्व अध्यापक का था क्योंकि अध्यापक छात्र को अज्ञान के अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश में ले जाने वाला होता है। इसलिए प्राचीन भारत में गुरुको माता–पिता से अधिक आदरणीय माना जाता था, क्योंकि जहाँ माता–पिता हमें पार्थिव शरीर देते हैं वहीं गुरु मानसिक एवं बौद्धिक संस्कार देकर वास्तविक मानव बनाता है। वैदिक काल से ही शिक्षक को शिष्य का मानस (मन वाला) पिता कहा गया है–'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं घणुते गर्भमन्तः।'[6] ज्ञान के लिए शिक्षक अपरिहार्य है। इसलिए हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी सम्प्रदायों में शिक्षक का अत्यधिक सम्मान किया गया है।

प्राचीन काल में आज के समान प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं थी। संभवतः शिक्षा ग्रहण करते समय अपने आचार्य के मुख से सुनकर शिष्य विभिन्न विषयों

के पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। आजकल महाविद्यालयों में निश्चित अवधि में अध्यापकों से परीक्षा में आने वाले कुछेक प्रश्नों का उत्तर लिख देने से डिग्री प्राप्त हो जाती है। भले ही शिक्षार्थियों को सम्बद्ध विषय का पूर्ण ज्ञान न हो, परन्तु प्राचीन काल में छात्रों को अपने अध्ययन–काल में कठिन शास्त्रार्थों की अग्नि परीक्षा में सफल होना पड़ता था। इसलिए अध्ययन समाप्त होते–होते छात्रों की तर्कशक्ति पुष्ट हो जाती थी। कुछ शिक्षण संस्थानों में वरिष्ठ और योग्य छात्रों को नये विद्यार्थियों को पढ़ाने का अवसर भी दिया जाता था। इस प्रकार शिक्षा समाप्त होते–होते छात्र अपने विषय में पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाते थे। इसके लिए किसी प्रशिक्षण महाविद्यालय की आवश्यकता नहीं होती थी जैसे कि आजकल है।

प्राचीन भारत में शिक्षक का जीवन और चरित्र ही छात्रों के लिए आदर्श माना जाता था। इसलिए प्राचीन भारतीयों का यह मत था कि अध्यापक को अपने शास्त्र में पारंगत होना चाहिए। उसे शान्त स्वभाव का होना चाहिए तथा किसी छात्र के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह वाक्चतुर, वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन प्रश्नों का तत्काल अर्थ बता देने वाला होना चाहिए।

'आशु ग्रंथस्य वक्ता च यः सः पण्डित उच्यते।[7]

संक्षेप में आचार्य को विद्वान ही नहीं अपितु कुशल अध्यापक भी होना चाहिए।शिक्षक से अत्यन्त उच्च कोटि की योग्यता की अपेक्षा की जाती थी ताकि वह अपनी पवित्रता, चारित्रिक बल, पांडित्य और सदाचारी जीवन के द्वारा उसके चरणों में बैठकर शिक्षा को ग्रहण करने वाले छात्रों के जीवन पर ऐसी छाप डाले जो अमिट रहे।

प्राचीन भारत में शिक्षा–पद्धति के अनुशीलन के आलोक में अब यह देखना भी आवश्यक है कि आज से भिन्न परिस्थितियों में जो आधुनिक शिक्षा–प्रणाली पश्चिमी शिक्षा–विषयणी अवधारणा पर आधारित है क्या उससे शिक्षा के उद्देश्य पूरे हो रहे हैं? शिक्षा के भौतिक उद्देश्य तथा वास्तविक उद्येश्यों दोनों की पूर्ति में आज की शिक्षा–प्रणाली हमारे देश में दिनानुदिन असफल दिखलाई देती है। इसमें सुधार लाने के लिए यद्यपि स्वतंत्रता–प्राप्ति के उपरान्त विद्वानों और शिक्षा–शास्त्रियों की अनेक समीतियों का गठन किया गया लेकिन उससे शिक्षा के स्तर में कोई सुधार अभी तक नहीं लाया जा सका। पश्चिम की अंधी नकल इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा है, क्योंकि उन देशों की सामाजिक सांस्कृतिक एवं मानसिक पृष्ठभूमि सर्वथा भिन्न है जबकि हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल में ही शिक्षा से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को विस्मृत कर दिया। उदाहरण के लिए

प्राचीन संस्कृति का संरक्षण और समुन्नयन अनेक सदियों तक भारतीय शिक्षा–प्रणाली का एक प्रमुख लक्ष्य था। बुद्धि और तर्क को विकसित होने के लिए इस प्रणाली में पूरा अवसर और प्रोत्साहन दिया जाता है जिसके फलस्वरूप धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, न्याय तथा आयुर्वेद जैसे सभी क्षेत्रों में पाँच सौ ईसवी तक सृजनशीलता एवं मौलिकता देखी जा सकती है। इन अनेक विषयों में प्राचीन भारतीयों का योगदान पूरी तरह से समस्त विश्व में मौलिक माना जाता है। इसी कारण चीन, कोरिया, तिब्बत तथा अरब जैसे देशों के अनेक ज्ञान–पिपासु विद्वान भारत में धर्म, आयुर्वेद, ज्योतिष दर्शन आदि के मौलिक चिन्तन के अध्ययन के लिए आते थे परन्तु विद्वानों की मान्यता है कि नौवीं सदी का प्रारंभ आते–आते भारतीय प्रतिभा की मौलिकता विलुप्त हो गई। आन्तरिक स्फूर्ति का स्वर्ण–युग शंकराचार्य के चिन्तन के उपरान्त लगभग समाप्त हो गया। उस समय से लेकर आज तक प्राचीन काल में लिखित ग्रन्थों की व्याख्या आदि ही लिखी जा सकी। किसी मौलिक विचार का प्रतिपादन नौवीं सदी के बाद नहीं हो सका। प्रसिद्ध लेखक वी॰ एस॰ नाइपाल ने कहा है कि भारत में पिछले एक हजार वर्षों से टीका और निबन्ध ही लिखे जाते रहे तथा कोई मौलिक सृजनात्मक कार्य नहीं हो सका। आधुनिक शिक्षा–संस्थानों में भी लगभग सभी संकायों में जो शोधकार्य किए जा रहे हैं उनमें अधिकतर में मौलिकता के अभाव का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं हैए क्योंकि बहुत लम्बे समय पूर्व ही भारतीयों में मौलिक चिन्तन विलुप्त हो चुका है। आधुनिक भारतीय शिक्षा को इस दुर्गति से निकालने के लिए मौलिक चिन्तन को बढ़ावा देना आवश्यक है। इसके लिए प्रारम्भिक विद्यालयों में ही बच्चों के जीवन के विभिन्न पक्षों का निरीक्षण करके अपने स्वतंत्र विवेचन कर सकने की क्षमता में वृद्धि लानी होगी। रटने वाली प्रक्रिया का अन्त करना होगा।

आठ सौ ईसवी के अनन्तर अन्य सिद्धान्तों का आत्मसात्करण करने की भारतीय परम्परा विनष्ट हो गई। शिक्षण–प्रणाली से जुड़े लोग पुरानी परम्पराओं की परिपूर्णता में अंधविश्वास करने लगे जिससे भारतीय प्रतिभा संकुचित और अहंवादी हो गई। प्रसिद्ध अरबी लेखक अल्बरूनी ने भारतीय विद्वानों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये अभिमानी, मूर्ख, घमंडी और हठी होते हैं और यह विश्वास करते हैं कि न भारत जैसा कोई दूसरा देश संसार में है और न उनके समान ज्ञान–विज्ञान अन्य किसी में है। अतः संकीर्णता तथा जो कुछ पुराना है उसी के प्रति दृढ़ आसक्ति की प्रवृत्ति ने भी भारतीय शिक्षा को दुष्प्रभावित किया है। यदि हमें आधुनिक शिक्षा को विश्वस्तरीय बनाना है तो संकीर्णता के विचारों से मुक्त होकर विश्व के किसी भी शिक्षण व्यवस्था से जो भी ग्राह्य है उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जब भारत अपने बड़प्पन के चरम शिखर पर था तब यहाँ की शिक्षा का दृष्टिकोण बहुत ही प्रशस्त था। चरित्र और व्यक्तित्व के निर्माण तथा शिक्षार्थियों में नागरिक कर्तव्य की भावना को भरने में यह शिक्षा–प्रणाली समर्थ थी। इस शिक्षा प्रणाली में आत्म–संयम और कर्तव्यनिष्ठा पर जोर दिया गया था। इस शिक्षा–प्रणाली में शिक्षक तथा शिक्षार्थी के बीच पारस्परिक सुदृढ़ सम्बन्ध थे जो कि आज के शिक्षा–प्रणाली में विशेषकर ऑनलाइन शिक्षा प्रणाली में सर्वथा विलुप्तप्राय हो चुके हैं। आज के शिक्षण–संस्थानों को पुनर्जीवित करना शिक्षा की सफलता के लिए अनिवार्य है। कुशल एवं चरित्रवान तथा अपने विषयों में अत्यधिक निष्णात शिक्षक प्राचीन भारतीय शिक्षण–परम्परा में अत्यधिक महत्त्व रखते थे परन्तु इस समय दुर्भाग्यवश अधिकतर शिक्षा–संस्थानों में ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति नहीं हो पाती जो आज की शिक्षा की दुर्व्यवस्था के लिए एक प्रमुख कारण है। भारत में शिक्षा का माध्यम प्रायः विदेशी भाषा अंग्रेजी है जिसके कारण शिक्षार्थी की शक्ति विदेशी भाषा को समझने में ही समाप्त हो जाती है। विषयों का गंभीर ज्ञान नहीं मिला पाता। बुद्ध ने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि शिक्षा अपनी–अपनी मातृभाषा में ही दी जानी चाहिए। आज रूस, जर्मनी, जापान जैसे समुन्नत देशों में अपनी–अपनी मातृभाषाओं में ही शिक्षा देने का प्रावधान है जिसके कारण वहाँ शिक्षा का स्तर भारत की तुलना में अत्यन्त समुन्नत है। अन्त में इस संक्षिप्त विवेचन के सारांश के रूप में पुनः जोर देकर यह कहना आवश्यक है कि प्रशासन, अभिभावक, शिक्षक, शिक्षार्थी एवं सामाजिक परिवेश इन सभी के योगदान के बिना शिक्षा–व्यवस्था में अपेक्षित सुधार करना संभव नहीं है।

संदर्भ

1. भर्तृहरि, नीतिशतकम्, 13
2. भर्तृहरि, नीतिशतकम्, 20
3. महाभारत 3–313
4. मालविकाग्निमित्र –1–17
5. महाभारत 12–321–77
6. अ॰ वे॰ 11.5.1
7. महाभारत 5–33–33

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

बौद्ध संस्कृत साहित्य में पारमिता

(ललित विस्तर के विशेष परिप्रेक्ष्य में)

प्रो. रूबी कुमारी *

भारतीय सनातनी संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराओं से सम्बलित है। श्रमण परम्परा के सूत्रधार भगवान् बुद्ध और तीर्थंकर महावीर हैं। विश्व की महनीय विभूति भगवान् बुद्ध उपदेशित अमृतवाणी ने विशाल वसुन्धरा के असंख्य प्राणियों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने विश्व को अहिंसा, करुणा, शान्ति, मैत्री आदि का जो उपदेश दिया है, वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन हैं। वैदिक धर्म में कालक्रम से आये कर्मकाण्डों के विरोध में एवं परिशोधन हेतु उपनिषदों में जो स्वर उठा, उन्हीं को परिमार्जित कर भगवान् बुद्ध ने सरल जनभाषा में जन–जन तक पहुँचाया। वस्तुतः उन्होंने किसी नये धर्म का उपदेश नहीं दिया, अपितु वैदिक धर्म का परिशोधन कर उसे व्यावहारिक बनाया। भारतीय सनातन परम्परा के तीन स्तम्भ–वैदिकधर्म, बौद्धधर्म एवं जैनधर्म हैं। इन तीनों ने ही भारतीय संस्कृति को उदात्ततम रूप प्रदान किया है। मानव को दुःखों से मुक्त कर उसे परम पुरुषार्थ मोक्ष या निर्वाण या कैवल्य की प्राप्ति ही इनका परम उद्देश्य रहा है। भगवान् बुद्ध ने जगत् के आर्तनाद से द्रवित होकर सत्य के साक्षात्कार हेतु कठिन तपस्या कर गयाधाम में बोधिवृक्ष के मूल में जिस ज्ञान की अनुभूति की, उसका उपदेश उन्होंने तत्कालीन मगध क्षेत्र की भाषा मागधी (वर्तमान पालि) में दिया क्योंकि उनका मत था कि सभी अपनी–अपनी भाषा में सद्धर्म को जानें–सकाय निरुत्तिया। उनका उद्देश्य किसी धार्मिक मतवाद की स्थापना कर अपने मत का प्रचार–प्रसार करना नहीं था, अपितु जन–जन को दुःख से निवृत्ति का मार्ग बतलाना था। कालक्रम में सद्धर्म का विकास हुआ। उसकी अनेक शाखाएँ अस्तित्व में आयीं। वैचारिक विकास के क्रम में बौद्धधर्म की

** संस्कृत विभाग, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा*

महायान शाखा का विकास हुआ, जिसके धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों की भाषा शुद्ध पाणिनीय संस्कृत के साथ–साथ मिश्र संस्कृत भाषा या बौद्ध संस्कृत भाषा है, जिसे विदेशी भाषाविद् एजर्टन ने संकर संस्कृत कहा है। यह भाषा संस्कृत और मध्य भारतीय आर्यभाषा–पालि एवं प्राकृत का सम्मिश्रण है। इस भाषा में रचित नव वैपुल्यसूत्र महायान बौद्धधर्म में अत्यन्त समादृत हैं। ये हैं– अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, ललितवस्तिर, सद्धर्मलयवतारसूत्र, सुवर्णप्रभाससूत्र, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज एवं दशभूमिश्वर। ये वैपुल्यसूत्र दो प्रकार के उद्देश्यों से रचित हैं। कुछ सूत्रों की रचना का उद्देश्य बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा बुद्धयान को महिमामंडित करना है जैसे– सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, ललितविस्तर आदि जबकि कुछ सूत्र महायान के सिद्धान्त शून्यता आदि के प्रकाशनार्थ विरचित किये गये हैं जैसे– अष्टसाहस्रिकाप्राापारमिता सूत्रादि।

महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत आनेवाले वैपुल्य सूत्रों में ललितविस्तर का विशिष्ट स्थान है। यह सूत्र महायान सम्प्रदाय की श्रेष्ठ कृति है, जिसमें भगवान् तथागत बुद्ध की इस धरा–धाम पर की जाने वाली ललित लीलाओं की अतिशयता के साथ अभिव्यक्ति है। बुद्ध के जीवन–वृत्तान्त को काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत करने वाला प्रथम ग्रन्थ ललितविस्तर है। सम्भवतः अश्वघोष विरचित बुद्धचरित का उपजीव्य यही ग्रन्थ रहा हो। वर्णन–लालित्य और विस्तार– दोनों से युक्त यह ग्रन्थ आलयरिक अभिव्यंजना का नितान्त निदर्शन है। 27 परिवर्तों में तथागत के जीवन–वृत्तान्त को लोकोत्तर जीव के रूप में यहाँ वर्णित किया गया है। इसका रचनाकाल सम्भवतः महायान सूत्रों के संग्रह का काल ई. पूर्व प्रथम सदी या उससे किञ्चित् उत्तरवर्ती काल रहा हो। द्वात्रिंशत् महापुरुष लक्षणों से सम्बलित उदात्त नायक तथागत सम्यक् सम्बुद्ध के जीवन–चरित के लालित्यपूर्ण एवं आलयरिक वर्णनों से युक्त यह ग्रन्थरत्न न केवल साहित्यिक दृष्टि से अपितु धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक अभिव्यक्तियों से भी अभिव्यंजित है। दार्शनिक दृष्टि से ललितविस्तर अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है। बौद्धदर्शन के विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों यथा–आर्यअष्टाङ्गिक मार्ग, चतुरार्यसत्य, पंचस्कन्ध, प्रतीत्यसमुत्पाद, पारमिता, ब्रह्मविहार, षडायतन आदि का विवेचन इस ग्रन्थ में अनेकशः उल्लिखित हैं। इस काव्य रचना का उद्देश्य बुद्ध को अलौकिक प्राणी के रूप में प्रस्तुत कर उनके मुखारविन्द से बौद्धधर्म एवं दर्शन, सिद्धान्त आदि को उपदेशित दिखाकर सद्धर्म को सम्पूर्ण प्राणी–जगत् में प्रचारित–प्रसारित कर विश्वजनीन बनाना था। असद् से सद्, अन्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख कर परम प्राप्तव्य बोधिरत्न को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना ही इस काव्य का उद्देश्य है। इस बोधि की प्राप्ति

हेतु साधना अनिवार्य है, जिसका केन्द्रबिन्दु चित्त है। चित्त रूपी भूमि की विशुद्धि के अनेक उपाय बौद्धशास्त्रों में वर्णित है। बौद्ध महायानी साधना को पारमिताचर्या कहते हैं। चित्त में बुद्धायुर प्रस्फुटित होने के अनन्तर बोधिसत्त्व बुद्धत्व–प्राप्ति हेतु जिन विशेष क्रियाओं की ओर प्रयत्नशील होता है, उन्हें पारमिता कहा गया है। पालि ग्रन्थों में पारमी तथा पारमिता दोनों ही शब्द प्राप्त हैं।[1] दिव्यावदान में 'पारमी' शब्द का प्रयोग है–मंत्राणां पारमिं गतः।[2] क्लेश और सन्ताप से परिपूर्ण भव सागर को पार करने हेतु जीवन में चरमोत्कर्ष प्राप्त्यर्थ की गयी साधना ही पारमिता है। इसकी व्युत्पत्ति पारं एति या परमं एति है अर्थात् पारं प्रकर्षपर्यन्तं एति गच्छति। थेरवादी बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्धत्व–प्राप्ति के निमित्त सुमेध बुद्धकारक धर्मों का अन्वेषण अत्युत्साहपूर्वक किये जिससे दस पारमी या पारमिताएँ प्रकट हुई जिसके सेवन से बोधिसत्त्वों को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई। ये दस पारमी हैं–दानपारमी, सीलपारमी, नैक्खम (त्याग) पारमी, प्रज्ञापरमी, वीरियपारमी, खान्तिपारमी, सच्चपारमी, अधिट्ठानपारमी, मेत्तापारमी तथा उपेक्खापारमी–

दानं सीलं च नेक्खमं, प्रज्ञा विरियेन पंचमं।
खन्ति सच्चमधिट्ठानं, मेतुपक्खो तिमे दसे।।[3]

महायान में षट् पारमिताओं– दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा की मान्यता है। ललितविस्तर के समुत्साहपरिवर्त में वर्णित है–

दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञामहोपायकौशल्यपरमपारमिताप्राप्तस्य।[4]

सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र के औषधिपरिवर्त में भी पारमिताओं की संख्या छह बतायी गयी है–षट् च पारमिताः शुभाः।[5] प्रज्ञापारमिता के अतिरिक्त अन्य पाँच पारमिताओं का उल्लेख इसी ग्रन्थ के पुण्यपर्याय परिवर्त में प्राप्त होता है, जहाँ उनके आचरण का उपदेश दिया गया है–

पंचसु पारमितास्वष्टौ कल्पकोटीनयुतशतसहस्राणि चरेत् ।तद यथा दानपारमितायां शीलपारमितायां क्षन्तिपारमितायां वीर्यपारमितायां ध्यान पारमितयां विरहितः प्रज्ञापारमितया।[6] पारमितायें उदात्त और परम कलयाणकारी हैं। इनसे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र में बोधिसत्त्व मैत्रेय से कहते हैं ''हे अजित! जो सत्त्व इस धर्मपर्याय को दान से, शील से, क्षान्ति से, वीर्य से, ध्यान से या प्रज्ञा से सम्पादित करेगा, वह प्रभूत पुण्यराशि उत्पन्न करेगा, जिससे उसे अप्रमेय, असंख्येय और अनन्त बुद्धज्ञान की प्राप्ति होगी–कः पुनर्वादोऽजित य इमं धर्मपर्यायं धारयन् दानेन वा संपादयेच्छीलेन वा क्ष्यान्त्या वा वीर्येण वा ध्यानेन वा प्रज्ञया वा

संपादयेद् बहुतरं पुण्याभिसंस्कारं स कुलपुत्रों वा कुलदुहिता वा प्रसवेद बुद्धज्ञान संवर्तनीयाम प्रमेय संख्येयमपर्यन्तम्।[7]

इन छहों पारमिताओं में पज्ञापारमिता श्रेष्ठतम है। प्रज्ञा का उदय ही बुद्धतव की प्राप्ति है। प्रज्ञा के सम्पर्क से ही दान आदि पारमिताएँ पूर्णता को प्राप्त करती हैं, अलौकिक हो जाती हैं।

दानपारमिता—दानपारमिता का अर्थ है दान के फल का भी उत्सर्ग करते हुए समस्त जीवों के कल्याण के लिए दान करना। ललितविस्तर में बोधिसत्त्व अपनी महती सभा में कहते हैं— दानपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण बत्तीस महापुरुष लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से युक्त बुद्धक्षेत्र की परिशुद्धि होती है। कंजूसप्राणी दानरुपी धर्माचरण की शिक्षा से परिपक्व किये जाते हैं—

दानपारमिता धर्मालोकमुखं लक्षणानुव्यञ्जनबुद्धक्षेत्रपरिशुद्धयै मत्सरिसत्त्व परिपाचनतायै संवर्तते।[8]

दानपारमिता की पूर्ति में बोधिसत्त्व ममत्वरहित होकर लोककल्याण के लिए अपना सर्वस्व यहाँ तक कि शरीर का भी दान किया—

पूर्वि तुभ्यं बहुकल्पकोटियो
दानु दत्तु प्रियपुत्रधीतरा।
तस्य दानचरितस्य तत्फलं
येन दिव्य कुसुमाः प्रवर्षिताः।।
आत्ममांस तुलयित्व ते विभो
सोऽभिदत्तु प्रियपक्षिकारणात्।
तस्य दानचरितस्य तत्फलं
प्रेतलोकि लभि पानभोजनम्।।[9]

बोधिसत्त्व के द्वारा कोटिकल्पों से सांसारिक द्रव्यरूपी धन का दान कर बोधिरूपी आर्यधन अर्थात् ज्ञान को वितरित कर जगत् को दुःखमुक्त करने का उपदेश ललितविस्तर में वर्णित है।[10]

शीलपारमिता—ललितविस्तर में शीलपारमिता को भी धर्मलोकमुख माना गया है। इसके पालन से नरकयोनि, तिर्यग्योनि, दीर्घायुष्य, देवयोनि, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, मलेच्छता आदि कुत्सित अपायों से बचा जा सकता है। इसके अभ्यास से दुःशील प्राणी को धर्माचरण की शिक्षाओं में परिपक्व किया जाता है—

शीलपारमिता धर्मालोकमुखं सर्वाक्षणापायसमतिकमाय
दुःशीलसत्त्वपरिपाचनताये संवर्तते।[11]

शीलपारमिता के अखण्ड व्रत के कल्पकोटि पर्यन्त पालन के पुण्यफल से आठों अक्षण (योनियाँ) तथा सोलहों अपाय (नरक) शुद्ध हो जाते हैं–

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो
शील रक्षितमखण्डव्रतम्।
तस्य शीलचरितस्य तत्फलं
येन अक्षण अपाय शोषिताः।।[12]

शीलगुण और चरित्र से युक्त काय–मन–वचन से पूर्ण संयम वाला, अणुमात्र भी अपने पाप से भय करने वाला, परिशुद्ध शीलवाला बोधिप्राप्ति के मार्ग का गामी हो जाता है। प्राणातिपात आदि गर्हित कर्म का त्याग करके साधक शीलवान् होकर समाधिस्थ होता है। ललितविस्तर में उद्घोषित किया गया है– अनेक कोटि प्राणियों को मैं स्वर्ग का द्वार दिखलाऊँगा– इस संकल्प के साथ तुमने नरक भूमि को ढकने के लिए सदा शील की रक्षा की हैं। तुम्हारा शीलवान् होने का संकल्प सिद्ध हो–

व्ययि शील सदा सुरक्षितं
पिथनार्थाय अपायभूमिनाम्।
स्वर्गामृतद्वारमुत्तमां
दर्शयिष्ये बहुसत्त्वकोटिनाम्।।
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
बद्ध्वा द्वार निरयाय भूमिनाम्।
स्वर्गामृतद्वार मुञ्चही
ऋद्ध्यहि शीलवतो विचिन्तितम्।।[13]

क्षान्तिपारमिता–क्षान्तिपारमिता भी धर्मलोक मुख है। उसके कारण दूसरों को हानि पहुँचाने का भाव, चित्त की कठोरता, द्वेष, मान, मद और दर्प का नाश होता है। दूसरों को हानि पहुँचाने वाले भाव अर्थात् व्यापन्न का नाश एवं क्षान्तिपारमिता के अभ्यास से क्षमाभाव उत्पन्न करके धर्म में सत्त्व परिपक्व होता है–

क्षान्तिपारमिता धर्मालोकमुखं सर्वव्यापादखिलदोषमानमददर्पप्रहाणाय व्यापन्नचित्तसत्त्वपरिपाचनतायै संवर्तते।[14]

सभी प्रकार की वाणी और शरीर से की जानेवाली पीड़ादायक स्थितियों में भी अक्षुभित चित्तवाला होने पर साधक क्षान्तिपारमिता से युक्त होता है–

सर्वदुरुक्तदुरागतवचनपथाक्रोशपरिभाषणकुत्सनताडनतर्जनवध बन्धनावरोधन परिक्लेशालुडितचित्तोऽक्षुभितचित्तः क्षान्तिसौरभ्यसम्पन्नः।[15]

क्षान्ति का अर्थ है दुःख और दौर्मनस्य रूप क्षोभपूर्ण भाव का निराकरण। द्वेष का सम्पूर्णतया परिहार कर धर्मादि की साधना करना क्षान्तिपारमिता है। संचोदनापरिवर्त में उपदेशित किया गया है– भवसागर से प्राणियों को तारकर क्षान्ति, क्षेम, आरोगय में सबको स्थापित करने की दृष्टि से तुमने प्राणियों के हिंसाभाव और क्रोध को शान्त करने के लिए क्षमा की रक्षा की है। वैर, हिंसा आदि की भावनाओं से परिपूर्ण हिंसा के आचरण करने वालों की तुम उपेक्षा मत करो। इस जगत् को क्षमा की भूमि अर्थात क्षान्ति पारमिता में स्थापित करो–

त्वभि क्षान्ति सदा सुरक्षिता
प्रतिधक्रोधशमार्थं देहिनाम्।
भवार्णव सत्त्व तारिया
स्थापयिष्ये शिवि क्षेमि निर्ज्वले।।
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
वैरव्यापादविहिंस आकुलाम्।
मा उपेक्ष विहिंसचारिणः
क्षान्तिभूमीय स्थपे इमं जगत्।।[16]

बोधिसत्त्व सर्वदा क्षान्ति पारमिता का अनुसरण करते हैं। प्राणियों के कल्याण के लिए एक–एक अङ्ग–प्रत्यङ्ग के छेदन करने पर भी इन्हें क्रोध, रोष आदि नहीं होता है।

वीर्यपारमिता–वीर्यपारमिता भी धर्मलोकमुख है। उसके द्वारा अकुशल कर्मों के आरम्भ तथा अनुरञ्जन कर्म की साधना में स्वयं को उतारा जाता है तथा आलसी प्राणी वीर्य अर्थात् उत्साह के कार्यों में परिपक्व किये जाते हैं–

वीर्यपारमिता धर्मालोकमुखं सर्वकुशलमूलधर्माद्धोत्तारणाय कुशीदसत्त्व परिपाचनतायै संवर्तते।[17]

कुशलकर्मों में उत्साह का होना वीर्यपारमिता है। क्षान्तिपारमिता की साधना पूर्ण होने पर वीर्यपारमिता है। क्षान्तिपारमिता की साधना पूर्ण होने पर वीर्यपारमिता का प्रारम्भ होता है। आलस्य, कुचेष्टाओं में आसक्त, विषाद, सांसारिक दुःख की तीव्र अनुभूति आदि पर विजय प्राप्त करके बोधिमार्ग का साधक अविषाद, निपुणता, आत्मवशवर्तिता आदि से युक्त होकर उत्साहपूर्वक कुशलकर्म के सम्पादन में प्रवृत्त होता है। संसार के समस्त प्राणियों के हित के लिए उत्तम वीर्यवान् अर्थात् वीर्यपारमिता से बोधिसत्त्व युक्त होता है। उसकी घोषणा है कि महाकरुणा के लिए अपने धर्म की नौका गढ़कर लोक को भव–सागर से पार कर शान्ति, कुशलता, आरोग्य से स्थापित करने का आचरण तुमने पूर्व में किया है उसी

पूर्वकालिकचर्या को स्मरण कर अपने वीर्य, पराक्रम, बल से अनाथप्राणियों को तारो।[18] बोधिसत्त्व कहते हैं– मैं वीर्य की नौका द्वारा काम–राग के मगरों वाला, तृष्णारूपी जल एवं लहरों वाला, कुदृष्टियों के ग्राहों वाला संसार–सागर को पार कर चुका हूँ।

ध्यानपारमिता–ध्यानपारमिता भी धर्मालोकमुख है। इसके कारण सभी ध्यानों और अभिज्ञानों की उत्पत्ति होती है। विक्षिप्त चित्त, मरोरागी प्राणी इसके अभ्यास से ध्यानमार्ग में परिपक्व किये जाते हैं–

ध्यानपारमिता धर्मालोकमुखं सर्वज्ञानाभिज्ञोत्पादाय विक्षिप्तचित्तसत्त्व परिपाचनतायै संवर्तते।[19]

वीर्यपारमिता की साधना से वीर्य की वृद्धि होने के अनन्तर बोधिसत्त्व चित्त की एकाग्रता के लिए ध्यान पारमिता का अभ्यास करता है। विक्षिप्त चित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशों से सन्तप्त होता है। ध्यानपारमिता से चित्त को आलम्बन में प्रतिष्ठित किया जाता है। राग–द्वेषादि विक्षेप हेतुओं के परित्याग से ही चित्त की एकाग्रता होती है। तदनन्तर तत्त्वज्ञान या प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर क्लेशादि दुःखों की पारिसमाप्ति होती है। ललितविस्तर में उद्घोषित है– असंयत इन्द्रियों वाले संस्कारहीन वानर के समान चित्तवाले, अपथगामी जनों को मैं उचित पथ पर प्रतिस्थापित करुँगा– इस संकल्प के साथ जिन प्राणी मात्र के कल्याण के लिए तुमने क्लेशों को पराजित करके ध्यान की साधना की है, उन पूर्वकाल की चर्याओं का स्मरण करो और क्लेशों से पीड़ित प्राणियों की उपेक्षा न करके उन्हें ध्यान की एकाग्रता में स्थापित करो–

त्वय ध्यानकिलेशध्येषणा
भाविता यस्य .तेन सूरता।
भ्रान्तेन्द्रिय प्रा.तेन्द्रियां
क्वापि चित्तार्यपथे स्थपेष्यहम्।।
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
क्लेशजालैरिहमाकुलं जगत्।
मा उपेक्षहि क्लेशुपद्रुतां
ध्यानेकाग्नि स्थपेहिमां प्रजाम्।।[20]

बोधिसत्त्व ने वीर्यपारमिता सम्पन्न करके, श्वास–प्रश्वास निरुद्ध करते हुए, समस्त चेष्टाओं से रहित हो शून्यता को प्राप्त कर महाकरुणा से प्रेरित होकर सकल लोककल्याण के लिए ध्यानपारमिता का अनुसेवन किया।

प्रज्ञापारमिता—बौद्ध परम्परा में प्रज्ञा अर्थात् तत्त्वज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका उदय सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसकी प्राप्ति ही बुद्धत्व की प्राप्ति है। प्रज्ञापारमिता भी धर्मालोकमुख है। इसके द्वारा अविद्या, मोह, तम, शून्यता को न समझनेवाली दृष्टि आदि का प्रहाण होता है। दुष्प्रज्ञ प्राणी शून्यता दर्शन में परिपक्व किये जाते हैं—

प्रज्ञापारमिता धर्मालोकमुखमविद्यामोहतमोन्धकारोपलम्भदृष्टिप्रहाणाय दुष्प्रज्ञसत्त्वपरिपाचनतायै संवर्तते।[21]

छहों पारमिताओं में प्रज्ञापारमिता ही प्रधानभूत है जिसका अर्थ यथार्थज्ञान है। इसे ही विवेकख्याति, भूततथता, शून्यता आदि कहते हैं। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए ही अन्य सभी पारमिताओं का अभ्यास किया जाता है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होकर ही दानादि पारमिताएँ पूर्णता को प्राप्त कर अलौकिक हो जाती हैं, बोधि तक पहुँचने वाली हो जाती हैं। प्रज्ञापारमिता की स्थिति में ही बोधिसत्त्व बोधि को प्राप्त करता है, जिसके परिणामस्वरूप शून्यता का दर्शन करता है। जगत् माया, मृगतृष्णा, स्वप्नवत् दिखायी देने लगता है। समस्त क्लेशों का क्षय हो जाता है। यह प्रज्ञा बोधिसत्त्व स्वकल्याण हेतु नहीं अपितु मोह एवं अविद्या के अन्धकार में फंसे जगत् के समस्त प्राणी के धर्मचक्षु अर्थात् प्रज्ञा के उन्मीलन हेतु प्राप्त करते हैं—

त्वयि प्रज्ञ पुरा सुभाविता
मोहविद्यान्धतमोवृते जगे।
बहुधर्मशताभिलोकने
दास्ये चक्षुषि तत्त्वदर्शनम्।।[22]

ललितविस्तर की निम्नगाथा में भी प्रज्ञापारमिता को प्राप्त करने और कराने की कामना है—

अन्धतमा अनयना मोहाकुलदृष्टिजालबद्धाः।
प्रज्ञाप्रदीपचक्षुः शोधय शीघ्रं नरमरूणाम्।।[23]

अर्थात् जिस प्रकार घने अन्धेरे में आँखों के असमर्थ होने से मनुष्य मूढ होकर व्याकुल होता है, उसी प्रकार बुरी दृष्टियों के जाल में फँसे हुए देवता और मनुष्यों को तुम प्रज्ञा प्रदीप प्रदान करो।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बोधिसत्त्व की बोधिचर्या में उपर्युक्त षट् पारमिताओं का स्थान सर्वतोभावेन रूप से अप्रतिम है। ललितविस्तरकार ने बोधिसत्त्व को इन सभी पारमिताओं से सम्पन्न दिखाया है। इन छहों पारमिताओं

में सर्वप्रमुख एवं साध्य ज्ञानपारमिता है जिसकी प्राप्ति का साधन अन्य पाँच पारमिताओं की साधना है। बोधिप्राप्ति में इन साधनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संदर्भ

1. सुत्तनिपात 1018 पृ. 195, नेत्तिप्रकरण पृ. 87
2. दिव्यावादा पृ. 637
3. विशुद्धिमग्ग, भाग– 1, पृ. 15
4. ललितविस्तर, समुत्साहपरिवर्त, पृ.– 7, पंक्ति– 5 सम्पादक–पी. एल. वैद्य, दरभंगासंस्करण, वर्ष– 1987
5. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, ओषधीपरिवर्त, गाथासंख्या– 76, पृ. 150, अनुवादक– डॉ. राममोहनदास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, वर्ष–1966, प्रथम संस्करण
6. तत्रैव, पुण्यपर्यायपरिवर्त, गद्यभाग, पृ. 338
7. तत्रैव, पृ. 343
8. ललितविस्तर, धर्मालोकमुखपरिवर्त, पृ. 26 पंक्ति 13–14
9. तत्रैव, प्रचलपरिवर्त, पृ. 26
10. ललितविस्तर, शास्त्री, गाथा 504–505
11. ललितविस्तर, धर्मालोकमुखपरिवर्त, दरभंगा संस्करण पृ0 26, पंक्ति 15–16
12. तत्रैव, प्रचलपरिवर्त, गाथा 65, पृ. 43
13. तत्रैव, संचोदनापरिवर्त, गाथा–122–123 पृ0 144
14. तत्रैव, धर्मालोकमुखपरिवर्त, पृ. 26, पंक्ति 16–17
15. तत्रैव, संचोदनापरिवर्त, पृ. 131, पंक्ति 19–20
16. तत्रैव, गाथा 124–125, पृ. 144–45
17. तत्रैव, धर्मालोकमुखपरिवर्त, पृ. 26, पंक्ति 17–18
18. तत्रैव, संचोदनापरिवर्त, पृ. 145, गाथा 126, 127
19. तत्रैव, धर्मालोकमुखपरिवर्त, पृ. 26, पंक्ति 18–19
20. तत्रैव, संचोदनापरिवर्त, गाथा 128, 129, पृ. 145
21. तत्रैव, धर्मालोकमुखपरिवर्त पृ. 26, पंक्ति 19–21
22. तत्रैव, संचोदनापरिवर्त, गाथा 130, पृ. 145
23. तत्रैव गाथा 153, पृ. 151.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

गाँधी–अंबेडकर : संवाद एवं समझौता

*डॉ. सुधांशु शेखर **

महात्मा गाँधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर ने अपने लंबे सार्वजनिक जीवन में कई महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों को संबोधित किया। दोनों ने कुछ मुद्दों पर एक जैसे विचार रखे, जबकि कई अन्य मुद्दों पर उनके विचार बिल्कुल अलग या विपरीत थे। लेकिन गहराई से देखने पर दोनों के उद्देश्य एवं लक्ष्य एक था– सभी लोगों के मानवाधिकारों का संरक्षण एवं संवर्धन। इसके लिए दोनों देश को आंतरिक गुलामी (अस्पृश्यता) एवं बाह्य गुलामी (विदेशी शासन) दोनों से मुक्त कराना चाहते थे, इस मामले में दोनों एक–दूसरे का महत्व समझते थे और इसलिए एक–दूसरे को संदर्भित एवं संबोधित भी कर रहे थे। इसी कड़ी में दोनों ने भारत की आजादी और यहाँ एक न्यायोचित सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था के निर्माण के लिए विशिष्ट लक्ष्यों एवं मार्गों की पेशकश की। उनकी बहुत अलग पृष्ठभूमि और प्रतिबद्धताएँ उन्हें आंतरिक और बाहरी उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष में कथिततौर पर अलग–अलग रास्तों पर ले गईं।

सहानुभूति एवं श्रद्धा : गाँधी एवं डॉ. अंबेडकर के बीच 1920 के दशक में कोई मुलाकात नहीं हुई थी। इसके बावजूद डॉ. अंबेडकर ने दलितों के प्रति गाँधी की चिंताओं की सराहना की और उनके द्वारा ईजाद किए गए सत्याग्रह के तरीकों का स्वागत किया। डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व में संचालित महाड़ सत्याग्रह के मंच पर गाँधी की भी एक तस्वीर थी।[1] डॉ. अंबेडकर, जो कि महाड़ में खुद मौजूद थे, ने बुद्धिमानी से अपने लोगों से जवाबी हिंसा न करने की अपील की। 1925 के बेलगाँव की 'बहिष्कृत परिषद्' में डॉ. अंबेडकर दलित समाज से कहते हैं, जब कोई भी तुम्हारे निकट नहीं आ रहा, तब महात्मा गाँधी की सहानुभूति छोटी बात नहीं है।''[2] महाड़ से किसी ने गाँधी को पत्र लिखकर इस भयानक

** असिस्टेंट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, ठाकुर प्रसाद महाविद्यालय, मधेपुरा (भू.ना.मं. विश्वविद्यालय, मधेपुरा, बिहार)*

घटना का जो मार्मिक चित्राण किया था, उसे थोड़ा संपादित कर महात्मा गाँधी ने 28 अप्रैल, 1927 को 'यंग इंडिया' में प्रकाशित किया। इसके साथ उन्होंने एक टिप्पणी कि ''डॉ. अंबेडकर ने जो अस्पृश्यों को तालाब पर पानी पीने की सलाह देकर बंबई विधन परिषद् और महाड़ नगरपालिका के प्रस्तावों को कसौटी पर कसा, उनका यह काम मैं समझता हूँ कि बिल्कुल उचित ही था।''[3]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि डॉ. अंबेडकर मंदिर–प्रवेश की बजाय राजनीतिक अधिकारों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। पिफर भी वे नाशिक में कालाराम मंदिर–प्रवेश नेतृत्व करने के लिए सहमत हो गए। उनकी यह सहमति से स्पष्ट है कि वे इस कार्य की प्रतीकात्मक और संगठनात्मक महत्ता को स्वीकार करते थे।[4] किंतु इसमें संदेह नहीं कि बहुत से सत्याग्रही गाँधी से प्रभावित थे। सत्याग्रह के आरंभिक दौर से सारी परिस्थिति का अध्ययन करने के बाद कमिश्नर घोषाल ने गृहमंत्री अर्नेस्ट हॉटसन को अपनी रिपोर्ट में लिखा, ''सत्याग्रहियों का वेश खादी का बना हुआ था। उनमें से कई तो 'महात्मा गाँधी की जय' के नारे भी लगा रहे थे।''[5] यह बात ब्रिटिश अधिकारियों को पसंद नहीं आई थी। कारण, वे नहीं चाहते थे कि गाँधी और डॉ. अंबेडकर अनुयायी एक–दूसरे के निकट आएँ।

'साइमन कमीशन' : भारत सरकार अधिनियम 1919 ने ब्रिटिश भारत के प्रांतों पर शासन करने के लिए द्वैत शासन प्रणाली की शुरुआत की थी। सरकार के इस रूप के संशोध्न के लिए भारतीय राय की माँग की गई और भारत सरकार अधिनियम 1919 ने कहा कि सरकारी योजना की प्रगति की जाँच करने और सुधार के लिए नए कदम सुझाने के लिए दस साल बाद एक 'कमीशन' नियुक्त किया जाएगा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मद्रास (अब चेन्नई) में अपनी दिसंबर 1927 की बैठक में 'साइमन कमीशन' का बहिष्कार करने का संकल्प लिया। 'कमीशन' ने सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल के सिद्धांत को अक्षुण्ण रखकर 'बाँटो और राज करो' के साम्राज्यवादी सिद्धांत का और विस्तार किया। केंद्रीय विधन परिषद् की दो सौ पचास जगहों में से अस्पृश्यों सहित हिंदुओं के लिए कुल एक सौ पचास जगहें कमीशन ने रखीं। उसने अस्पृश्यों के लिए आरक्षण की व्यवस्था जरूर की, परंतु पृथक् निर्वाचक मंडल की माँग अस्वीकार कर दी। एक विचित्रा शर्त यह रखी गई कि अछूत सीटों के उम्मीदवारों को नामजदगी का परचा भरने के पहले प्रांत के गवर्नर से 'पिफटनेस सर्टिपिफकेट' लेना होगा। इसकी आलोचना करते हुए डॉ. अंबेडकर ने कहा कि यह तो गवर्नर द्वारा नियुक्ति का ही दूसरा तरीका था। 'कमीशन' की राय थी कि अस्पृश्यों के प्रतिनिध्यिों का स्वयं अछूत होना आवश्यक नहीं है। अछूतों के हितों के प्रति जागरूक और उनके साथ सहानुभूति डॉ. अंबेडकर भी 'साइमन कमीशन' की रिपोर्ट से संतुष्ट नहीं थे।

उनकी कोशिश प्रस्तुत परिस्थितियों में दलितों के लिए सर्वाधिक लाभ प्राप्त करने की थी। दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी। उसने साइमन कमीशन का संपूर्ण बहिष्कार किया था। वह इस कमीशन की रिपोर्ट से सहमत नहीं थी। अब वह 'पूर्ण स्वराज' की माँग कर रही थी, जबकि 'साइमन कमीशन' की रिपोर्ट में भारत को 'डोमिनियन स्टेटस' ('ब्रिटिश अधिसत्ता के अंतर्गत स्वशासन का अधिकार') तक का स्पष्ट उल्लेख नहीं था।

पहली गोलमेज परिषद् : ब्रिटिश सरकार की ओर से लंदन में 12 नवंबर, 1930 से 19 जनवरी, 1931 तक पहली गोलमेज परिषद् आयोजित हुई। यह आयोजन साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर कार्रवाई करने के उद्देश्य से किया गया था। सरकार ने कहा कि वह भारतीयों से परामर्श करके भारत का नया संविधान तैयार करना चाहती है। गोलमेज परिषद् में नवासी प्रतिनिधि आमंत्रित किए गए थे। उसमें से सोलह तो ब्रिटेन के तीनों राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि थे। तिरपन भारतीय प्रतिनिधियों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अलावा सभी दलों और हितों के प्रतिनिधि थे। आगा खॉ, सर मुहम्मद शपफी, मुहम्मद अली जिन्ना और पफजलुल हक मुसलमानों के के. टी. पॉल भारतीय ईसाइयों के प्रतिनिधि थे। अलवर, बड़ौदा, भोपाल, बीकानेर, नुमाईदे थे। सरदार उज्ज्वल सिंह सिखों के, डॉ. बी. एस. मुंजे हिंदू महासभा के और कश्मीर और पटियाला के नरेशों के अलावा सर अकबर हैदरी, सर सी. पी. रामस्वामी अखयर, सर मिर्जा इस्माईल देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे। अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व करने के लिए डॉ. अंबेडकर और रावबहादुर श्रीनिवास आमंत्रित किए गए थे। दलितों के प्रवक्ता के रूप में डॉ. अंबेडकर का चयन अपने में एक विशेष बात थी। यह केवल उनका निजी सम्मान ही नहीं था, बल्कि इसके साथ ही यह भारतीय राजनीति में अछूतों को शेष हिंदू समाज से अलग, स्वतंत्र तथा नए अल्पसंख्यक घटक के रूप में मान्यता देने की शुरुआत भी थी। तबतक डॉ. अंबेडकर किसी राजनीतिक दल के साधारण सदस्य भी नहीं थे। लेकिन, 'बहिस' तथा अस्पृश्यों के अनेक सम्मेलनों, महाड सत्याग्रह तथा 'मूकनायक' और 'बहिष्कृत भारत' के माध्यम से उन्होंने भारतीय समाज के सबसे उत्पीड़ित तथा अपमानित समुदायों की सदियों पुरानी खामोश यातना–कथा को वाणी दी थी। बंबई प्रेसीडेंसी विधनमंडल की मनोनीत सदस्यता तथा साइमन कमीशन के समक्ष अपनी गवाही के माध्यम से उन्होंने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी थी। यह ब्रिटेन और भारत की सरकारों की ओर से संवैधानिक मामलों में उनके गहरे ज्ञान का सम्मान था। इसके साथ ही यह भारतीय समाज के एक महारोग का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने की साम्राज्यवादी कोशिश भी थी। यही कारण था कि उस समय की विशेष परिस्थितियों

में इस निमंत्राण से राष्ट्रवादी आंदोलन से संबंद्ध लोगों और संगठनों की भृकुटियाँ तन गईं।

डॉ. अंबेडकर ने कहा कि अस्पृश्यों को 'अवर्ण हिंदू', 'प्रोटेस्टैंट हिंदू' या 'नान कंपफर्मिस्ट हिंदू' माना जाए। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यों का हिंदुओं से अलग अस्तित्व है। ये तो क्रीत, दास और गुलाम के बीच के लोग हैं। हिंदू इन्हें अपना भाई इसलिए बता रहे हैं कि इनके अधिकार खुद हड़प कर जाएँ। उन्होंने माँग की कि चुनाव की दृष्टि से दलित जातियों को अलग समुदाय माना जाए और वे उस समय तक भारत के किसी की स्वशासी संविधान पर सहमति प्रकट नहीं कर सकते, जब तक की उनकी माँगें सही तौर पर स्वीकार नहीं कर ली जाती। उन्होंने समान नागरिकता, नागरिक अधिकारों के मुक्त उपभोग और विधयिकाओं, सरकारी सेवाओं तथा मंत्रिमंडल में उनके उचित प्रतिनिधित्व की माँग की। डॉ. अंबेडकर ने कहा कि सभी संप्रदाओं को उनकी जनसंख्या के अनुपात से सत्ता में अधिकार दिए जाएँ। उन्होंने अल्पसंख्यक समिति को एक पूरक ज्ञापन दिया, जिसमें दलित जातियों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व की माँग की गई थी। 1931 में डॉ. अंबेडकर ने गोलमेज सम्मेलन में ब्रिटिश प्रधनमंत्री के सामने दलितों की समस्या रख दी थी। डॉ. अंबेडकर ने कहा, ''यदि ब्रिटिश सरकार हमें उन लोगों की दया के सहारे छोड़ देती है, जिन्होंने हमारी खुशहाली की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया, तो यह बहुत बड़ी गद्दारी होगी। हमारी तबाही और बर्बादी की बुनियाद पर ही ये लोग संपत्तिशाली और बड़े बने हुए हैं।''

डॉ. अंबेडकर ने कहा कि मैं और रावबहादुर श्रीनिवास उन दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, जो ब्रिटिश भारत की 115 जनसंख्या का पक्ष है। दलित वर्गों को यद्यपि हिंदू कहा जाता हैऋ किंतु वे हिंदू जाति का किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं हैं। वे न केवल उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है वह भी भारत में अन्य जातियों के दर्जे से बिल्कुल भिन्न है। उन्होंने कहा, 'भारत में अनेक जातियाँ अत्यंत दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही हैं। किंतु दलित वर्गों की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अंतर केवल इतना है कि कृषि–कर्मियों और नौकरों के साथ अस्पृश्यता का बरताव नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग अस्पृश्यता के अभिशाप का शिकार है।''[23] डॉ. अंबेडकर ने गोलमेज परिषद् में भी अंग्रेजों को भारत–विजय में दलितों द्वारा दी गई मदद की दुहाई दी। उन्होंने कहा कि 'दलित वर्गों ने रूढ़िवादी हिंदुओं के सदियों पुराने जुल्मों और अत्याचारों से मुत्तिफ दिलाने वालों के रूप में अंग्रेजों का स्वागत किया था। उन्होंने हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों के विरुद्ध युद्धों में लड़कर अंग्रेजों को भारत का यह विशाल साम्राज्य जीतकर दिया था। जब हम अंग्रेजी

शासन के पहले की अपनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से अपनी वर्तमान स्थिति की तुलना करते हैं, तो हम देखते हैं कि हम आगे बढ़ने के बजाय जहाँ–के–तहाँ खड़े हैं। अंग्रेजी शासन से पहले अस्पृश्यता के अभिशाप के कारण हम घृणास्पद जीवन व्यतीत कर रहे थे। क्या अंग्रेजी शासन ने अस्पृश्यता को दूर करने के लिए कोई कदम उठाया है।

डॉ. अंबेडकर ने अंग्रेजी सरकार पर आरोप लगाया कि वह सामाजिक बुराइयों को दूर करने की आवश्यकता को जानती है, किंतु वह कट्टरपंथियों के भय से उनको दूर नहीं करती। उसे भय है कि सामाजिक और आर्थिक जीवन में परिवर्तन करने से उसका विरोध होगा। ऐसी सरकार जनता के किस काम की? इन दो पाटों में फँसी सरकार दलित वर्गों की स्थिति में करने और उनके जीवन को बेहतर बनाने के लिए कुछ नहीं कर सकते। हमें ऐसी सरकार चाहिए, जिसमें सत्ता में बैठे व्यक्ति देश के हित में अविभाजित राज्य–निष्ठा प्रदान करेंगे। हमें ऐसी सरकार चाहिए, जिसमें सत्ता में बैठे व्यक्ति इस बात को समझते हों कि कब सरकार की आज्ञाकारिता समाप्त हो जाती है और प्रतिरोध आरंभ हो जाता है। वे न्याय और समय की आवश्यकताओं को देखते हुए सामाजिक और आर्थिक जीवन की आचार–संहिताओं में परिवर्तन करते हिचकिचाएँ नहीं। अंग्रेजी सरकार यह भूमिका कभी नहीं निभा सकती। माना कि परिस्थितियाँ सचमुच विकट थीं। डॉ. अंबेडकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा, फ्भारत की नौकरशाह सरकार, सदाशयता के बावजूद, हमारी तकलीपफों को दूर करने के लिए किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकती। हम महसूस करते हैं कि हमारे अतिरिक्तफ हमारे दुख–दर्द को कोई अन्य दूर नहीं कर सकता और हम भी तब तक दूर नहीं कर सकते जबतक राजनीतिक शक्ति हमारे हाथों में नहीं आती। जब तक अंग्रेजी सरकार बनी रहेगी, तबतक इस राजनीतिक सत्ता का अंश मात्रा भी हमें मिलनेवाला नहीं। स्वराज्य के अंतर्गत ही हमें राजनीतिक सत्ता में साझेदारी का कोई अवसर मिल सकता है। राजनीतिक सत्ता के बिना हमारा उद्धार संभव नहीं है।''[26] अस्पृश्य वर्गों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए संविधान में ही प्रावधान रखने पर पहली गोलमेज परिषद् के अंतिम पूर्ण अधिवेशन में भी डॉ. अंबेडकर ने एक बार और जोर दिया। उन्होंने इस बात का उल्लेख किया कि विधानमंडलों में सीटों के बँटवारे को लेकर कुछ–कुछ गतिरोध है। उन्होंने माँग की कि अगर गतिरोध को दूर करने के लिए सीटों के बँटवारे में कोई परिवर्तन आवश्यक हो तो वह विभिन्न समुदायों की सहमति के आधार पर ही हो।

डॉ. अंबेडकर ने आरोप के स्वर में कहा कि अब तक का अनुभव हम बताता है कि ब्रिटिश सरकार विभिन्न समुदायों को, अपने तात्कालिक राजनीतिक हित

में उनके उपयोग के अनुसार, असमान महत्त्व देती रही है। वह राजनीतिक शक्ति के बँटवारे में कतिपय समुदायों को ज्यादा हिस्सा देती रही है और दलित वर्गों को उनके वाजिब हक से वंचित करती रही है।

पहली मुलाकात : गाँधी ने 'दूसरे गोलमेज सम्मेलन' की तैयारी के रूप में 'पहली गोलमेज परिषद्' में शामिल मुकंद राव, जयका, तेजबहादूर तथा अन्य लोगों में मुलाकात एवं बातचीत की। इसी कड़ी में अपने सहयोगी बी. जे. खेर एवं ठक्कर बापा सलाह पर गाँधी ने डॉ. अंबेडकर को भी वार्ता के लिए आमंत्रित किया।[6] गाँधी ने 9 अगस्त, 1931 को डॉ. अंबेडकर को पत्रा लिखकर पूछा कि क्या उसी दिन रात आठ बजे उनके पास मिलने का समय है। गाँधी ने इस पत्रा में लिखा कि यदि डॉ. अंबेडकर को हमारे यहाँ आना सुविधाजनक न हो, तो वह स्वयं खुशी–खुशी उनके घर पहुँच जाएँगे। डॉ. अंबेडकर तब सांगली से लौटे ही थे और उन्हें बुखार हो रहा था। उन्होंने गाँधी को सूचित कर दिया कि वह खुद रात के आठ बजे उनके पास पहुँचेंगे। लेकिन शाम को उनका बुखार 106 डिग्री तक पहुँच गया और उन्होंने गाँधी को यह संदेश भेज दिया कि वह बुखार उतरने के बाद आएँगे।[7] डॉ. अंबेडकर को ठीक होने में तीन–चार दिन लगे और तदुपरांत वे 14 अगस्त, 1931 को गाँधी से मिलने मुम्बई के मणिभवन आए। यह गाँधी–अंबेडकर की पहली मुलाकात थी। डॉ. अंबेडकर सहयोगी देवराव गायकवाड़, अमृतराव रणचखांवे, शिवतरकर मास्तर, पु. जो. काणेकर, प्रधान, मडकेबुवा, दिवाकर पगारे और भा. र. कद्रेकर भी थे।[8] कद्रेकर ने 'नवयुग' के 'अंबेडकर विशेषांक' में इस मुलाकात के वृत्तांत में लिखा, ''गाँधी जलपान कर रहे थे और अपने आसपास बैठे लोगों से धीरे–धीरे बातें कर रहे थे। उन्होंने ऐसा दरसाया जैसे वे हमारी तरपफ ध्यान नहीं दे रहे तीन–चार मिनट यही चला। उनके देखने का अंदाज हम लोगों को थोड़ा चामत्कारिक और बेपिफक्री का लगा। पहली मुलाकात में गाँधी ने जिस तरह से अंबेडकर को देखा, वह उनके जैसे महात्मा के लिए शोभास्पद नहीं था।''[9] तब गाँधी ने डॉ. अंबेडकर की ओर मुखातिब होने में कुछ समय लगाया और इस बीच स्वाभिमानी डॉ. अंबेडकर थोड़े असहजता महसूस करते रहे। पता नहीं समय के पाबंद गाँधी ने ऐसा क्यों क्या? क्या डॉ. अंबेडकर समय से पहले पहुँच गए थे या गाँधी उनकी उपेक्षा कर रहे थे? यह तो पता नहीं, लेकिन इतना अवश्य है कि आमतौर पर गाँधी अपने हास–परिहास, तीव्र विनोदी स्वभाव तथा संभाषण–कौशल से अपने विरोधियों की वश में कर लेते थे।[10] डॉ. अंबेडकर से मुलाकात के समय अप्रत्याशित रूप से गाँधी की भाषा रूखी थी। हद तो यह है कि गाँधी अपने पहले ही वाक्य में सामान्य शिष्टाचार को भी भूल गए। खैर, दोनों की बातचीत कुछ इस प्रकार हुई[11]–

गाँधी : डॉक्टर आपका क्या कहना है?

डॉ. अंबेडकर : आपका क्या कहना है यही सुनने के लिए आपने मुझे बुलाया है? इसलिए मैं आ गया हूँ? वही आप मुझे पहले बताइए। अगर कुछ प्रश्न करने हैं, तो भी आप पूछ सकते हैं, मैं उसके उत्तर दूँगा।

गाँधी : (अंबेडकर की ओर तीखी दृष्टि डालकर) मेरे कानों में ऐसी बात पड़ी है कि मेरे और कांग्रेस के खिलाफ आपकी कुछ शिकायतें हैं। मैं अपने बचपन से ही अस्पृश्यता की समस्या पर विचार करता आया हूँ। आपका तो जन्म भी उस समय नहीं हुआ होगा। काँग्रेस के कार्यक्रम में अस्पृश्यता का सवाल शामिल करते हुए मुझे कष्ट उठाने पड़े। (प्रतिरोध करने वालों का कहना था) यह सामाजिक और धर्मिक समस्या होने के कारण कांग्रेस जैसी राजनीतिक समस्या के कार्यक्रम में उसे शामिल नहीं करना चाहिए। इसलिए उस समय मेरा काफी विरोध हुआ। हिंदू–मुसलमानों की समस्या की अपेक्षा अस्पृश्यता निर्मूलन की समस्या को मैं अधिक महत्त्वपूर्ण और आत्मीयता की मानता हूँ। इसलिए अस्पृश्यों के लिए कांग्रेस ने अब तक बीस लाख रुपए खर्च किए हैं। यह सच्चाई होने के बावजूद मेरे और कांग्रेस के खिलापफ आपकी शिकायतें क्यों हैं, यह मुझे मालूम नहीं। इस संदर्भ में आपको कुछ बताना है, तो आप मुझे खुले दिल से बता सकते हैं।

डॉ. अंबेडकर : यह निर्विवाद सत्य है कि जब मेरा जन्म नहीं हुआ था, तबसे आप यह कार्य करते आ रहे हैं। हममें से बड़े और बूढ़े लोग यही बड़प्पन का मुद्दा कभी–कभी सामने लाते हैं। आप मुझसे उम्र में बड़े हैं यह यथार्थ मैं कैसे इनकार कर सकता हूँ? यह बात भी सच है कि आपके आग्रह से ही कांग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम को स्वीकृति दी। लेकिन औपचारिक स्वीकृति देने के अलावा कांग्रेस ने और कुछ नहीं किया। यह मेरी मुख्य शिकायत है। आप कहते हैं कि कांग्रेस ने बीस लाख रुपए अस्पृश्यों के लिए खर्च किए। लेकिन मैं आपको साफ–साफ कहना चाहता हूँ कि आपके यह सारे रुपए पानी में गए। इतनी बड़ी रकम अगर मुझ जैसे व्यक्तिफ के हाथ में होती, तो उसका उचित रूप में और आत्मीयता से विनियोग करके मैंने अस्पृश्य समाज को बड़ी उत्तेजना दी होती। अगर ऐसा होता, तो मैं ऐसी परिस्थिति का निर्माण कर सकता था कि आप स्वयंस्पफूर्त मुझसे मिलते। आपके कहने के अनुसार कांग्रेस का सदस्य होने के लिए खादी का कपड़ा पहनने जैसी शर्त आपने डाल रखी है, वैसी शर्त आपको अस्पृश्यता–निवारण के लिए कांग्रेस का सदस्य बनने वालों पर लगानी चाहिए थी। अस्पृश्यों के बच्चों को अपने घर में विद्यार्थी के रूप में रखूँगा या अपने घर में उन्हें कम से कम सप्ताह में एक दिन भोजन के लिए आमंत्रित करूँगा। कांग्रेस का कहना है कि अंग्रेज सरकार का हृदय परिवर्तन और चित्तशुद्धि नहीं हुई है।

जबतक इस तरह की चित्तशुद्धि नहीं होगी, तबतक हम कांग्रेस पर या स्पृश्य हिंदुओं पर भरोसा नहीं करेंगे। हम स्वावलंबन और आत्मविश्वास का आश्रय लेकर अपना मार्ग प्रशस्त करेंगे। आप जैसे महात्मा पर भी हम भरोसा नहीं करेंगे। आज तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा आभास दौड़ते जैसे होते हैं। उनकी धूमधम से धूल तो खूब उड़ती है, लेकिन वे समाज के स्तर को ऊँचाई पर नहीं ले जा सकते। कांग्रेस मुझसे और मेरे कार्यों से द्वेष करती है। वह मुझे राष्ट्र विरोधी संबोधित करके हिंदुओं के दिल में मेरे कार्यों के बारे में द्वेष पफैलाती है। ;डॉ. अंबेडकर की इस टिप्पणी से माहौल गंभीर हो गया। डॉ. अंबेडकर का चेहरा लाल हो गया। उन्होंने अपनी आवाज को तेज करके कहाद्ध

डॉ. अंबेडकर : फगाँधीजी, मेरे पास मातृभूमि नहीं है।''

(डॉ. अंबेडकर की इस टिप्पणी से गाँधी सकपकाए और बीच में ही उन्हें रोककर बोले)

गाँधी : डॉक्टर साहेब आपके पास मातृभूमि है। उसकी सेवा किस तरह की जाए, वह आपके यहाँ के कार्यों से नहीं, तो गोलमेज परिषद् के प्रथम अधिवेशन का जो वृतांत मेरे कान में पड़ा है, उससे सिद्ध हो गया है।

डॉ. अंबेडकर : आप कहते हैं कि मेरे पास मातृभूमि है, लेकिन मैं पिफर कहता हूँ कि मेरे पास मातृभूमि नहीं है। जिस देश में कुत्ता जिस तरह की जिंदगी जीता है उस तरह की हम नहीं गुजार सकते। कुत्तों–बिल्लियों को जितनी सुविधाएँ प्राप्त हैं उतनी सुविधाएँ हर्ष के साथ जिस देश में हमें नहीं मिलतीं हैं, उस भूमि को मेरी जन्मभूमि और उस भूमि के धर्म को अपना धर्म कहने के लिए मैं ही क्या, जिसे इनसानियत का ज्ञान हुआ है और जिसे स्वाभिमान की जरा भी परवाह है, ऐसा कोई भी स्पृश्य तैयार नहीं होगा। मेरे पास मातृभूमि नहीं है, लेकिन सदविवेक और बुद्धि है। मैं इस राष्ट्र या राष्ट्रधर्म का उपासक नहीं हूँ, लेकिन सदविवेक और बुद्धि का मैं अनन्य उपासक हूँ। आपके कहने के अनुसार मेरे हाथ से अगर सचमुच कुछ राष्ट्रसेवा हुई है, तो उसका श्रेय मेरे दिल में समाई राष्ट्रभक्तिफ न होकर, मेरी सदविवेक और बुद्धि को है।

'गोलमेज परिषद्' के पहले अधिवेशन में अस्पृश्यों का अल्पसंख्यकों का अंतर्भाव किया गया है और राजनीतिक दृष्टि से उन्हें मुसलमान, सिख इत्यादि लोगों के साथ स्वतंत्रा घटक के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्हें सुविधाएँ और आवश्यकतानुसार प्रतिनिधित्व देने की सिफारिश की गई है। हमारे मत के अनुसार वह हमारे कल्याण का है। इस संबंध में आपका क्या मत है?

गाँधी : अस्पृश्य समाज हिंदू समाज का अभिन्न घटक होने से उसे हिंदुओं से अलग करने के मैं खिलाफ हूँ। उन्हें आरक्षित सीट देने के लिए भी वस्तुतः मैं तैयार नहीं हूँ।

डॉ. अंबेडकर : आपका यह मत प्रत्यक्षतः आपके मुंह से मालूम हुआ, यह अच्छा हुआ। मैं आपसे विदा लेता हूँ।

गाँधी ने डॉ. अंबेडकर के महाड़ सत्याग्रह के समर्थन में 'यंग इंडिया' (28 अप्रैल, 1927) में टिप्पणी लिखी थी।[12] वे यह जानते थे कि डॉ. अंबेडकर प्रथम गोलमेज परिषद् में ने अछूतों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था। ताज्जुब की बात है कि इतना सब हो चुकने पर भी गाँधी उनको 'ब्राह्मण समाज–सुधारक' ही समझते थे![13] उस वक्त तक गाँधी को यह मालूम नहीं था कि डॉ. अंबेडकर स्वयं एक कथित 'अस्पृश्य' हैं। गाँधी को यही बताया गया था कि डॉ. अंबेडकर ने विदेश में पढ़ाई कर ऊँची डिग्रियाँ हासिल की हैं और वे पीएचडी हैं। दलितों की स्थिति में सुधर को लेकर उतावले हैं और हमेशा गाँधी एवं कांग्रेस की आलोचना करते रहते हैं। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में डॉ. अंबेडकर की दलीलों के बारे में जानकर गाँधी विश्वास हो चला था कि वे (डॉ. अंबेडकर) पश्चिमी शिक्षा और चिंतन में पूरी तरह ढल चुका कोई आधुनिकतावादी युवक है, जो भारतीय समाज को भी यूरोपीय नजरिए से देख रहा है। 1 अप्रैल, 1932 को येरबडा में कारावास के दौरान डॉ. अंबेडकर की चर्चा चली, तो गाँधी ने महादेव भाई को बताया, ''मैं इंग्लैंड (द्वितीय गोलमेज परिषद् में) गया, तब तक मुझे यह जानकारी नहीं थी कि अंबेडकर खुद अछूत हैं। मैं यह समझता था कि वे ब्राह्मण हैं और इसलिए अस्पृश्यों के बारे में इतने अतिरेक से बोलते हैं।''[14]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त मुलाकात के अगले ही दिन डॉ. अंबेडकर तथा अन्य प्रतिनिधि, दूसरी गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए, 'एस. एस. मुलतान' जहाज से लंदन रवाना हो गए। गाँधी भी उसी जहाज से जाने वाले थे। परंतु जाने के पहले वे नए वाइसराय के साथ 'गाँधी–इरविन समझौते' के कुछ मुद्दों पर उठी भ्रांतियों को दूर कर लेना चाहते थे। इसलिए उन्हें 'एस. एस. मुलतान' से अपनी यात्राा स्थगित करनी पड़ी। यदि गाँधी भी उसी जहाज से जाते, तो 14 अगस्त को मणिभवन की मुलाकात के दौरान दोनों में पनपा तनाव और विवाद शायद पूरी तरह मिटता नहीं, तो थोड़ा–बहुत कम तो हो ही जाता।[15]

दूसरी गोलमेज सम्मेलन : दूसरी गोलमेज सम्मेलन के लिए कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गाँधी को मनोनीत किया गया। इस सम्मेलन के आरंभ में जब गाँधी अपनी जगप्रसिद्ध पोशाक में ही ब्रिटिश सम्राट् के बुलावे पर बकिंघम पैलेस गए, तब चर्चिल ने उनको 'अधनंगा पफकीर' कहकर उनकी और सम्मेलन की मेजबानी करनेवाली सरकार की खिल्ली उड़ाई थी। गोलमेज परिषद् से जो थोड़ी–बहुत आशा हो सकती थी, वह भी 13 नवंबर, 1931 को 'अल्पसंख्यकों के समझौते' की ओर से दिए गए ज्ञापन से तथा उसे प्रधानमंत्री

का आशीर्वाद मिलने से समाप्त हो गई। यह ज्ञापन मुसलमानों, दलित वर्गों, एंग्लो इंडियनों, यूरोपियनों और भारतीय ईसाइयों की ओर से दिया गया था। इसमें माँग की गई थी कि सभी विधानमंडलों में इन संप्रदायों का पृथक् निर्वाचक मंडल हो। शर्त यह रहेगी कि दस वर्ष बीत जाने पर पंजाब और बंगाल के मुसलमानों और किसी अन्य प्रांत के किसी भी अन्य अल्पसंख्यक समुदाय को संयुत्तफ निर्वाचक मंडल स्वीकार करने की स्वतंत्रता रहेगी। दलित वर्गों के बारे में निर्वाचक मंडल बीस वर्ष से पहले संयुक्त निर्वाचक मंडल में नहीं बदले जाएँगे। इस दस्तावेज पर आगा खाँ, डॉ. अंबेडकर, रावबहादुर पन्नीरसेल्वम, सर हेनरी गिड़नी और सर ह्युबर्ट कार के हस्ताक्षर थे। समझा जाता है कि यह ज्ञापन प्रधानमंत्री के सुझाव पर ही तैयार किया गया था। गाँधी जब गोलमेज सम्मेलन में प्रवेश करते हैं, तो उनके सामने एक दर्जन हिंदुस्तान बैठे दिखते हैं। इंडिया सेकेट्री सर सेमुअल होर गाँधी से कहते हैं कि ये सब लोग हिंदुस्तान के प्रतिनिधि हैं। जिन्ना मुस्लिम हिंदुस्तान के, डॉ. अंबेडकर दलित हिंदुस्तान के, मदन मोहन मालवीय राष्ट्रवादी सवर्ण हिंदुस्तान के और सरदार सुंदर सिंह मजीठिया सिख हिंदुस्तान के प्रतिनिधि हैं। ऐसे में सिर्फ आपकी बात सुनी जाए और उसको ही भारत की बात मानी जाए ऐसा अब संभव नहीं है। गाँधी कहते हैं कि आज सम्मेलन में जितने भी लोग बैठे हुए हैं ये सभी रोटी का अपना–अपना टुकड़ा लेने के लिए यहाँ आए हुए हैं। मैं पूरी रोटी लेकर लेकर यहाँ से जाऊँगा। अगर इसका बंटबारा ही करना होगा, तो हम सब अपने देश में बैठकर कर लेंगे। लेकिन यहाँ से पूरी रोटी लेकर जाएंगे। गोलमेज सम्मेलन के आखिरी दिन वाइसराय यह घोषणा करते हैं कि जो सेंटीमेंट्स हम देख रहे हैं उससे हम समझ पा रहे हैं कि भारत में जो दलित और अल्पसंख्यक हैं वे सभी अपने को असुरक्षित महसूस करते हैं। इसलिए भारत को आजादी देने से पहले ब्रिटिश सरकार की ये जिम्मेवारी है कि वह इन सभी को संतुष्ट करे। इसलिए ब्रिटिश सरकार एक 'सेपरेट एलेक्टरेट' ;पृथक् निर्वाचनद्ध की व्यवस्था दलित समाज सहित अन्य अल्पसंख्यकों के लिए करेगी।

गाँधी और डॉ. अंबेडकर में एक तरह से खुले टकराव की ही नौबत आ गई। यह टकराव मुख्यतया तीन मुद्दों पर था–

1. अस्पृश्यों का प्रवक्ता होने का अधिकार : तीनों मुद्दों में से सबसे नाजुक मुद्दा अस्पृश्यों का प्रवक्ता होने का था। सर चिमनलाल सीतलवाड ने गोलमेज परिषद् में हिंदू उदार नेता के रूप में भाग लिया था। उनको गाँधी का रवैया काफी कठोर और हठपूर्ण लगा। उन्होंने कहा, ''गाँधी ने 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1919' पढ़ा तक नहीं है। यह भी कि उसके बाद भारतीयों के राजनीतिक

अधिकारों के बारे में हुई घटनाओं और चर्चाओं से वे अनभिज्ञ हैं।''[16] गाँधी ने सीतलवाड के आरोपों का कोई जवाब नहीं दिया।[17] उन्होंने सिर्फ इतना कहा कि सर चिमनलाल मेरे बड़े भाई हैं। उनको मेरी आलोचना करने का पूरा अधिकार है।[18] एन. सी. केलकर ने भी अपनी आत्मकथा में 'दूसरी गोलमेज परिषद्' के बारे में उदारवादी सप्रू और जयकर की बातचीत उद्धृत की है।[19] उसमें उन्होंने यह मत व्यक्त किया है, ''दूसरी गोलमेज परिषद् में गाँधी ने अपने साथियों के साथ, सहयोगपूर्ण व्यवहार नहीं किया। यह भी कि वे अपने घमंडी स्वभाव के कारण वितंडावादी बनकर रह गए।''[20] गोलमेज परिषद् में गाँधी के रुख और आचरण के बारे में ये सारे आक्षेप सही हों, तब भी गाँधी के पास अछूतों का प्रवक्तफा होने का अपना दावा पेश करने के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं था।[21] अस्पृश्यों के बारे में बोलने के अपने अधिकार से वंचित होने और अस्पृश्यों की तरफ से बोलने का एकाधिकार डॉ. अंबेडकर तथा रावबहादुर श्रीनिवास को समर्पित करने का अर्थ होता भारत में भरती हुई चेतना की भ्रूण–हत्या में साझेदार बनना।[22] गाँधी के हाथ 'नेहरू समिति' की रिपोर्ट से भी बंधे हुए थे। उक्तफ समिति ने अस्पृश्यों को प्रतिनिध्त्वि देने के बारे में किसी विशेष व्यवस्था की सिपफारिश नहीं की थी।[23]

2. अस्पृश्य हिंदू हैं या वे उनसे पृथक् अल्पसंख्यक हैं : गाँधी अस्पृश्यों को हिंदू समाज का अविभाज्य अंग मानते थे। प्रति अपराध समझते थे। उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता एक सामाजिक समस्या थी। इसे और उनके साथ हो रहे अमानुषिक व्यवहार को वे 'पाप', 'कलंक' तथा 'ईश्वर' के प्रायश्चित्त से ही मिटाया जा सकता था।[24] वह प्रायश्चित्त अछूतों को नहीं, सवर्णों को करना होगा। इसलिए जब डॉ. अंबेडकर ने उनपर और कांग्रेस पर सवर्णों के हितों की पोषक संस्था होने का आरोप लगाया, तो गाँधी दहल गए। गोलमेज परिषद् में तथा उस दौरान आयोजित सार्वजनिक कार्यक्रमों में उन्होंने बार–बार यह बात दोहराई, ''सारे संसार के राज्य के बदले भी मैं अस्पृश्यों के अधिकारों को नहीं बेचूँगा।''[25] गाँधी ने यह भी कहा कि उन्हें धर्मांतरण तो मंजूर है, लेकिन अस्पृश्यों का अलगाव नहीं। उनके शब्दों में, ''अछूत अगर ईसाई अथवा मुसलमान हो जाएँ, तो मैं सह लूँगा, किंतु गाँवों में यदि हिंदुओं के दो भाग हो जाएँ तो हिंदू समाज की जो दशा होगी, मुझसे वह सही नहीं जा सकेगी।''[26] अस्पृश्यों की सामाजिक और धर्मिक पहचान के बारे में डॉ. अंबेडकर का मन स्थिर नहीं था।[27] एक समय था जब वे अस्पृश्यों को हिंदू समाज का अंग मानते थे। वे अछूतों को यज्ञोपवीत पहनाने के कार्यक्रम का आयोजन तो करते ही थे, साथ ही सवर्णों तथा अछूतों में सहभोज के आयोजनों को भी बढ़ावा देते थे। उनकी अध्यक्षता में गठित 'समाज समता

संघ' ने इस प्रकार के अनेक आयोजन किए थे।[28] यद्यपि बाद में उनके विचार बदल गए, किंतु कुछ समय तक वे हिंदू मंदिरों में अछूतों के प्रवेश के अधिकार के लिए सत्याग्रह के भी समर्थक थे। गोलमेज परिषद् के दौरान भी 'बहिस' के कार्यकर्ता नाशिक के कालाराम मंदिर में प्रवेश के लिए आंदोलन कर रहे थे।[29] उन्होंने स्वयं इस मंदिर प्रवेश सत्याग्रह में हिस्सा लेकर कार्यकर्ताओं का हौसला बढ़ाया था। परंतु अब डॉ. अंबेडकर धर्मिक–सांस्कृतिक प्रश्नों के बजाय राजनीतिक शक्ति को प्रधानता देने लगे थे।[30]

3. अस्पृश्यों को समुचित प्रतिनिधित्व देने के प्रभावी उपाय : गाँधी अस्पृश्यों की समस्या को सामाजिक समस्या ही मानते थे। इसलिए वे निरंतर वयस्क मताधिकार पर ही जोर देते रहे। उनको भारत में चल रहे समाज–सुधार आंदोलन पर भी बहुत भरोसा था। उन्होंने अपने लंदन प्रवास के दौरान बार–बार कहा, ''भारत में समाज–सुधार का एक प्रचंड लहर चल रही है। उसके परिणामस्वरूप अस्पृश्यता हमारे जीवनकाल में ही अतीत की कहानी बनकर रह जाएगी।''[31] उन्होंन आगे कहा, ''विशेष निर्वाचक मंडल या सीटों का आरक्षण उनके लिए घातक होगा। अगर इसे प्राप्त करने की कोशिश की गई, तो फिर उनके (दलितों के) खिलाफ विरोध भड़केगा। मेरा ख्याल है कि उनके 'खुले दरवाजे से आने पर', उन्हें सामान्य हिंदुओं जैसे मताधिकार दिए जाने से ही उनके हितों की सबसे अच्छी तरह रक्षा हो सकेगी।''[32] किंतु अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया के बारे में डॉ. अंबेडकर का मत स्थिर नहीं रहाऋ वह बदलता गया।[33] 'पहली गोलमेज परिषद्' में 31 दिसंबर, 1930 को अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा था, ''अगर आप लोग हमें वयस्क मताधिकार दे रहे हैं, तो दलित वर्ग, अपने पुनर्गठन के लिए आवश्यक थोड़े से समय के बाद, आरक्षित सीटों के साथ संयुत्तफ निर्वाचक मंडल को स्वीकार करने के लिए सहमत है। किंतु यदि आप हमें वयस्क मताधिकार नहीं देते तो दलितों के लिए भी अन्य अल्पसंख्यक वर्गों की तरह 'पृथक् निर्वाचक मंडल' आवश्यक है।''[34] 'पहली गोलमेज परिषद्' की 16 जनवरी, 1931 की कार्यवाही के विवरण से उनके मत में परिवर्तन का पता लगता है।[35] पिछली बैठक का विवरण पढ़ने के बाद डॉ. अंबेडकर ने शिकायत की कि मैंने पिछली बैठक में यह राय दी थी कि वयस्क मताधिकार मिलने पर भी अस्पृश्यों के लिए दस वर्षों तक पृथक् निर्वाचक मंडल की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए। उन्होंने सभापति से पिछली बैठक की कार्यवाही के विवरण में इस आशय का संशोधन करने का अनुरोध भी किया।[36] किंतु सभापति ने उनका अनुरोध यह कहकर अमान्य कर दिया। उन्होंन कहा, ''मैं सही रिपोर्ट को बदलने की अनुमति नहीं दे सकता।''[37]

'परिषद्' एक प्रकार की 'वाद–विवाद प्रतियोगिता केंद्र' बनकर रह गई थी।[38] हताशा के उस माहौल में गाँधी के दो बयान उल्लेखनीय हैं। एक बयान में उन्होंने परिषद् में बुलाए गए प्रतिनिधियों के प्रतिनिधिक चरित्र को सीधी चुनौती दी।[39] अल्पसंख्यकों के साथ–अनौपचारिक बातचीत से भी कोई हल नहीं निकलने की सूचना देते हुए उन्होंने कहा, ''यदि मैं यह कहूँ कि बातचीत का नाकामयाब होना हमारे लिए शर्म की बात है, तो इससे पूरी सचाई व्यक्तफ नहीं होती। हममें से प्रायः सभी लोग उस दल या वर्ग के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं हैं, जिनके हम प्रतिनिधि कहे जाते हैं। यहाँ हम सरकार द्वारा नामजद होने की वजह से हैं।''[40] एक अन्य अवसर पर भी गाँधी ने कहा, ''जब मैंने यहाँ भारतीय प्रतिनिधियों की फेहरिस्त देखी, तो मुझे एकाएक लगा कि ये तो सरकार के पसंद किए लोग हैं, ये लोग राष्ट्र के पसंद किए हुए लोग नहीं हैं।''[41] सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की समस्या के समाधन का उल्लेख करते हुए गाँधी ने कहा, ''यह समाधान स्वराज के संविधान का मुकुट तो बन सकता है, उसकी नींव नहीं बन सकता।''[42] गाँधी ने नवंबर, 1931 को अल्पसंख्यक समिति की बैठक में इस ज्ञापन और प्रधनमंत्री के निर्णय की तीखी आलोचना की। उन्होंने प्रधानमंत्री को संबोधित करते हुए कहा, फ्गत वर्ष आपने इस कठिनाई पर जो जोर दिया और इस वर्ष फिर से उसे दोहराया, उसी का यह परिणाम है कि विभिन्न समुदायों को अपने पूरे बल से अपने–अपने दावे पेश करने का प्रोत्साहन मिला। अगर उन्होंने इसके विपरीत कुछ किया होता, तो वह मानव स्वभाव के विरुद्ध होता।[43] इसके साथ ही गाँधी ने सरकार की नीयत को उजागर करते हुए कहा, ''मुझे पूरा विश्वास है कि आप लोगों ने हमें छह हजार मील दर से अपना घर और कामकाज छुड़ाकर, सांप्रदायिक प्रश्न हल करने के लिए नहीं बुलाया था। आपने हमें यहाँ संविधान रचना की क्रिया में भाग लेने के लिए एकत्र किया था।''[44]

'गोलमेज परिषद्' से जो थोड़ी–बहुत आशा हो सकती थी, वह भी 13 नवंबर, 1931 को 'अल्पसंख्यकों के समझौते' की ओर से दिए गए ज्ञापन से तथा उसे प्रधानमंत्री का अनुमोदन मिलने से समाप्त हो गई।[45] 'गोलमेज परिषद्' का तीसरा और अंतिम सत्र 17 नवम्बर, 1932 को प्रारम्भ हुआ। मात्र 46 प्रतिनिधियों ने इस सम्मलेन में भाग लिया क्योंकि अधिकतर मुख्य भारतीय राजनीतिक प्रमख इस सम्मलेन में मौजूद नहीं थे। ब्रिटेन की लेबर पार्टी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस सत्र में भाग लेने से इनकार कर दिया। इस सम्मेलन में एक कॉलेज छात्रा चौधरी रहमत अली ने विभाजित भारत के मुस्लिम भाग का नाम 'पाकिस्तान' ;जिसका अर्थ है 'पवित्र भूमि' रखा। जिन्ना ने इस सम्मेलन में हिस्सा नहीं लिया। सितंबर, 1932 से मार्च, 1933 तक सैमुअल हो अरे के पर्यवेक्षण में, प्रस्तावित

सुधारों को लेकर प्रपत्र बनाया गया, जिसके आधार पर भारत सरकार का 1935 का अधिनियम बना।

'द्वितीय गोलमेज परिषद्' की समाप्ति के बाद गाँधी 28 दिसंबर, 1931 को बंबई पहुँचे, लेकिन उससे पहले जवाहर लाल नेहरू और खान अब्दुल गफ़्फार खान और उनके भाई गिरफ़्तार हो चुके थे। चार जनवरी 1932 की सुबह गाँधी को भी मुंबई के मणिभवन से गिरफ़्तार कर लिया गया। वायसराय विलिंगटन ने तय कर रखा था कि इस बार कांग्रेस को खत्म कर देना है। कांग्रेस के इतिहासकारों के अनुसार 75 हजार लोग गिरफ़्तार हुए और चार लाख लोगों को लाठियों से पीटा गया। गाँधी येरवदा जेल में बंद थे और सरदार पटेल और नारायण देसाई के साथ यह कयास लगा रहे थे कि ब्रिटिश प्रधनमंत्री रैमसे मैकडोनाल्ड कम्यूनल अवार्ड घोषित करेंगे या नहीं।[46]

'कम्युनल अवार्ड' : 7 अगस्त, 1932 को ब्रिटिश सरकार ने कम्युनल अवार्ड घोषित किया और कहा कि अछूतों को अलग निर्वाचन क्षेत्र मिलेगा। अगले ही दिन गाँधी ने प्रधनमंत्री को लिखा कि वे इस फैसले का अपनी जान की कीमत पर विरोध करेंगे। वे 20 सितंबर की दोपहर से भोजन नहीं ग्रहण करेंगे। सिर्फ नमक या सोडे के साथ पानी लेंगे। गाँधी ने जेल अधिकारियों को यह पत्र देते हुए कहा कि वे इसे प्रधानमंत्री को केवल कर दें और साथ में प्रधनमंत्री से अनुरोध किया कि वे इसे प्रकाशित करवाएँ, ताकि इससे जनमत प्रभावित हो। साथ ही उन्होंने पटेल और महादेव देसाई से कहा कि वे इसकी गोपनीयता बनाए रखें। जब उन्होंने इसका विरोध किया, तो गाँधी का कहना था कि वे इससे लोगों को अचानक एक झटका देना चाहते हैं। यह एक प्रकार का इलाज है। गाँधी ने पटेल से कहा कि वे दो लोगों को विशेष रूप से झटका देना चाहते हैं, एक तो हिंदू नेता मदनमोहन मालवीय को और दूसरी कांग्रेस के कार्यकारी अध्यक्ष राजगोपालाचारी को। वे चाहते थे कि इससे सवर्ण हिंदू पश्चात्ताप करेंगे और डॉ. अंबेडकर जैसे व्यक्तिफ को पृथक् निर्वाचन क्षेत्र छोड़ने के लिए मनाया जा सकेगा। गाँधी हिंदुओं की अंतरात्मा को झकझोरना चाहते थे। उनका मानना था कि अगर हिंदू छुआछूत को छोड़ने को तैयार नहीं हैं तो वे बेझिझक मुझे कुर्बान कर सकते हैं। जब मैकडोनाल्ड को लिखा गया गाँधी का पत्र 12 सितंबर को प्रेस को जारी किया गया, तो वह बिजली की तरह कौंध गया। येरवदा जेल, डाउनिंग स्ट्रीट और नई दिल्ली के वायसराय भवन में तारों का बाढ़ आ गई। मदन मोहन मालवीय ने हिंदू नेताओं को दिल्ली बुलाया। भारत भर में जनसभाएँ होने लगीं जिनसे गाँधी से उपवास वापस लेने और मैकडोनाल्ड से अवार्ड वापस लेने की माँग उठ गई। गाँधी ने राजगोपालाचारी के टेलीग्राम का जवाब देते हुए लिखा,

''मुझे लगता है कि इससे आपको खुशी होगी कि आपके एक साथी को दमित समाज के लिए अंतिम सत्याग्रह करने के लिए ईश्वर ने अवसर दिया है। मुंबई (तब बंबई) में सवर्ण हिंदुओं की बैठक में निर्णय लिया गया कि स्वराज संसद सबसे पहले जो कानून पास करेगी उसमें अछूतों को सार्वजनिक कुओं, सार्वजनिक स्कूलों, सड़कों और सभी प्रकार की संस्थाओं पर अधिकार दिया जाएगा।''[47]

येरवदा जेल में आम के पेड़ के नीचे अनशन कर रहे गाँधी को देखने के लिए टैगोर आए और कई मिनट तक गाँधी के सीने पर पड़े कपड़े पर अपना मुँह रखकर संवेदना प्रकट करते रहे, मालवीय और सी. आर. आए और उसी तरह डॉ. अंबेडकर और दलित वर्ग के एम. सी. राजा और पीएन राजभोज जैसे अन्य नेता भी आए। जेल के भीतर खड़ा आम का वह पेड़ राष्ट्रीय मंच हो गया।

गाँधी के अनशन के बारे में 19 सितंबर को इंडियन मर्चेंट्स चौंबर संस्था के सभागार में डॉ. अंबेडकर पहले कह चुके थे कि, फ्यह अपफसोस की बात है कि गाँधी अस्पृश्यों के विरुद्ध प्राणांतक अनशन करें। यह ठीक ही है कि गाँधी के अमूल्य प्राण बचाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति भरसक प्रयत्न करे। परंतु गाँधी द्वारा दूसरी स्पष्ट योजना न सुझाए जाने के कारण इस घटना से मार्ग निकलना मुश्किल हो गया है। गाँधी की ओर से आप दूसरी वैकल्पिक योजना लाएं, तो उसपर विचार किया जाएगा। परंतु एक बात अटल है कि केवल गाँधी के प्राण बचाने के लिए मेरे भाइयों के हित के खिलाफ जो योजना होगी, उसमें मैं शरीक नहीं हूँगा।''[48] गाँधी से येरवदा जेल में मिलकर आए शिष्टमंडल ने डॉ. अंबेडकर को बताया कि अस्पृश्यों के लिए आरक्षित सीटें देने के बारे में गाँधी का व्यक्तिफगत विरोध नहीं है। इसके बावजूद डॉ. अंबेडकर अपने रुख से पीछे हटने को तैयार नहीं हुए। उनका कहना था, ''मैं इस घटना का खल पुरुष बनूँ, यह मेरा नसीब ही सही। लेकिन आप ध्यान रखें कि मैं इस पुनीत कर्तव्य से तनिक टस से मस न होऊँगा। मेरे अस्पृश्य वर्ग के न्याय और कानूनन अधिकारों का मैं नाश नहीं करूँगा। फिर भले आप मुझे नजदीक के बिजली के खंभे पर फाँसी दे दें। इसके बजाय आप गाँधी से एक सप्ताह अनशन स्थगित करने के लिए प्रार्थना करें और पिफर समस्या पर विचार करें।''[49] निस्संदेह वह सौदेबाजी पर सौदेबाजी करते गए, मैंने कहा, कुछ नहीं। मैं आपकी जान बचाने को तैयार हूँ, बशर्ते कि आप कड़ी शर्तें न रखें, किंतु मैं अपने लोगों के जीवन के मूल्य पर आपकी जान बचाने वाला नहीं हूँ।

ऐसे माहौल में शुरू हुआ गाँधी और डॉ. अंबेडकर संवाद बेहद मार्मिक और ऐतिहासिक है। 22 सितंबर, 1932 दोनों की बातचीत कुछ इस प्रकार हुई[50]–

डॉ. अंबेडकर : हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि देश में दो अलग–अलग विचारधाराओं के दो समूह हैं और तदनुसार कार्य करें, और मुझे मेरा मुआवजा मिलना चाहिए। मैं यह भी चाहता हूँ कि एक स्पष्ट समझ बन जाए, जो मुझे अन्य मामलों में भी पुरस्कृत करे। सरकार के पफैसले से मुझे इकहत्तर सीटें मिलती हैं और मुझे लगता है कि यह एक उचित, उचित और निश्चित आवंटन है।

गाँधी : आपके अनुसार।

डॉ. अंबेडकर : इसके अलावा मुझे सामान्य निर्वाचन क्षेत्राों में वोट देने और चुनाव लड़ने का अधिकार मिलता है। मजदूरों के निर्वाचन क्षेत्रा में मेरी भी ेंचाइजी है। हमें यह एहसास है कि आप हमारे लिए बहुत मददगार हैं।

गाँधी : जी। आपको व्यत्तिफगत रूप से नहीं।

डॉ. अंबेडकर : मेरा आपसे केवल एक झगड़ा है, यानी आप तथाकथित राष्ट्रीय कल्याण के लिए काम करते हैं न कि केवल हमारे हितों के लिए। यदि आप स्वयं को पूरी तरह से दलित वर्गों के कल्याण के लिए समर्पित कर देते, तो आप हमारे नायक बन जाते।

गाँधी : आपका कहना बहुत प्यारा है।

डॉ. अंबेडकर : मैं अपने समुदाय के लिए राजनीतिक सत्ता चाहता हूँ, यह हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। इसलिए समझौते का आधार होना चाहिए– मुझे वह मिलना चाहिए, जो मेरे लिए देय है। मैं हिंदुओं से कहना चाहता हूँ कि मुझे मेरे मुआवजे का आश्वासन दिया जाना चाहिए।

गाँधी : आपने अपनी स्थिति बहुत सुंदर ढंग से स्पष्ट की है। बहरहाल, मैं आपसे एक सवाल पूछना चाहता हूँ। आप कहते हैं कि अगर दलित वर्गों में कोई सच्ची पार्टी है, तो उसे उठने की पर्याप्त गुंजाइश दी जानी चाहिए। इसलिए उनका प्राथमिक चुनाव के बिना संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार करने से इनकार करना कापफी उचित है। मेरी समझ में यह नहीं आता कि आपने अब तक यह क्यों नहीं कहा कि इसतरह का अलग चुनाव होना चाहिए। मैंने इस विषय का जो भी अध्ययन किया है, उससे मुझे यही लगता है कि यदि मैं प्राथमिक चुनाव को स्वीकार करता हूँ तो मेरे व्रत का अक्षर उल्लंघन नहीं होता है। इसलिए मैं खंड (प्राथमिक चुनाव) को स्वीकार करता हूँ, लेकिन मुझे निश्चित रूप से इसके शब्दों की जाँच करनी होगी। फिलहाल मैं इतना ही कहता हूँ कि अलग प्राथमिक चुनाव का विचार मेरे संकल्प के खिलाफ नहीं है। लेकिन मुझे कुछ संदेह है, जब आप इस बात पर जोर देते हैं कि पैनल में केवल तीन उम्मीदवार होने चाहिए। यह मुझे प्रवेश करने के लिए पर्याप्त जगह नहीं देता है। इसके अलावा, आप केवल कुछ सीटों के लिए पैनल प्रणाली पर विचार करते हैं, जिससे दोनों दल

(हरिजनों के बीच) संतुष्ट हो जाते हैं। केवल हरिजन मतदाताओं द्वारा प्राथमिक प्रकृति का एक चुनाव होगा। अन्य संयुक्तफ निर्वाचन द्वारा होगा। मुझे बिना किसी भेदभाव के अकेले एक समूह के हित की नहीं, बल्कि पूरे दलित वर्ग के हितों की रक्षा करनी है। मैं अछूतों की सेवा करना चाहता हूँ। इसलिए मैं आपसे बिल्कुल भी नाराज नहीं हूँ। जब आप मेरे लिए अपमानजनक और गुस्से वाले शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, तो मैं खुद से कहता हूँ कि मैं इसका हकदार था। आप मेरे मुँह पर थूकेगें, तो भी मैं क्रोधित नहीं होऊँगा। मैं इसे भगवान के साथ साक्षी के रूप में कहता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपने जहरीले प्याले का गहरा घूँट पी लिया है। हालाँकि, मैं एक दावा करता हूँ, जो आपको अचंभित करने वाला लगेगा। आप अछूत पैदा हुए हैं, लेकिन मैं गोद लेने से अछूत हूँ। और एक नए धर्मान्तरित के रूप में मैं उन लोगों की तुलना में समुदाय के कल्याण के लिए अधिक महसूस करता हूँ, जो पहले से ही वहाँ हैं। फिलहाल मेरी आँखों के सामने दक्षिण भारत के गूंगे अछूत–अगम्य और अदृश्य हैं। मैं इस योजना की जाँच कर रहा हूँ कि ये लोग इससे कैसे प्रभावित होंगे। आप निश्चित रूप से कहेंगे कि मुझे इसकी चिंता क्यों करनी चाहिए। आप सभी या तो ईसाई धर्म स्वीकार करेंगे या इस्लाम। मैं कहता हूँ कि मेरे शरीर के गिरने के बाद आप जो चाहो कर सकते हो। मैं जो कहता हूँ, वह यह है कि यदि पैनल प्रणाली दलित वर्गों के लिए अच्छी है तो यह पूरे मतदाताओं के लिए अच्छी होनी चाहिए। मुझे यह शुरू से ही पसंद नहीं है कि समुदाय को दो समूहों में विभाजित किया जाए। यदि सभी अछूत और एक हों तो मैं डायनामाइट से सनातनियों के किले को धराशायी कर दूँगा। मैं चाहता हूँ कि समस्त अस्पृश्य समाज सनातनियों के विरुद्ध एक होकर विद्रोह करे। जब तक नियुक्ति का अधिकार आपके हाथ में है, तबतक आपको संख्या की चिंता नहीं करनी चाहिए। मैं आजीवन लोकतंत्रवादी हूँ। सारी दुनिया इस बात से सहमत होगी कि मेरी अस्थियों को हवा में बिखेरने के बाद या ऐसा न होने पर, गंगा में विसर्जित करने के बाद मैं लोकतंत्रवादियों में अग्रणी था। मैं यह गर्व से नहीं कह रहा हूँ, बल्कि विनम्रता के साथ सच कह रहा हूँ।

मैंने 12 साल की छोटी उम्र में ही लोकतंत्र का पाठ सीख लिया था। घरेलू सपफाई कर्मचारी को अछूत मानने के लिए मैंने अपनी माँ से झगड़ा किया था। उस दिन मैंने भगवान को भंगी के रूप में देखा। आपने सच कहा जब आपने कहा, कि अछूतों का कल्याण आपको अपने प्राणों से भी प्यारा है। अब ईमानदार बनो और उससे चिपके रहो। आपको मेरी जान की परवाह नहीं करनी चाहिए। लेकिन हरिजनों से झूठ मत बोलो। मेरा काम मेरे साथ नहीं मरेगा। मैंने अपने बेटे से सम्मेलन में अपना संदेश पहुँचाने के लिए कहा है। उसमें मैंने कहा है कि मेरे

जीवन को बचाने के लिए उन्हें हरिजनों के हितों को त्यागने का प्रलोभन नहीं देना चाहिए। मुझे यकीन है कि अगर मैं मर गया, तो मेरा बेटा मेरे पीछे जरूर आएगा। केवल वह ही नहीं, और भी बहुत से लोग अपने प्राणों की आहुति देंगे, क्योंकि मेरा एक ही पुत्रा नहीं, मेरे हजारों हैं। यदि वह हिंदू धर्म के सम्मान के लिए अपने प्राणों की आहुति नहीं देता, तो वह मेरा योग्य पुत्र नहीं होता। अस्पृश्यता की जड़ और शाखा को मिटाए बिना हिंदू धर्म के सम्मान को नहीं बचाया जा सकता है। यह तभी हो सकता है, जब अछूतों को हर मामले में सवर्ण हिंदुओं के बराबर माना जाए। एक व्यक्ति, जिसे अस्पृश्य माना जाता है, आज के दिन भी भारत का वायसराय बनने का अवसर मिलना चाहिए। मैंने भारत आने पर अपने पहले राजनीतिक भाषण में कहा था कि मैं एक भंगी को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना चाहता हूँ। इसलिए मैं आपसे अपील करता हूँ कि सौदेबाजी न करें। मेरे पास कोई ऐसी चीज मत लाना, जो इतनी बुरी हो कि मुझे उसका रूप भी अच्छा न लगे। मेरे लिए कुछ अच्छा उपहार लाओ, जो एक ऐसे व्यक्तिफ में जीवन को प्रेरित करे, जो स्वेच्छा से मृत्यु को स्वीकार कर रहा है। हालाँकि आप ऐसा तभी करेंगे, जब आप आश्वस्त हों कि मेरे सहयोग का कुछ मूल्य है।

पुणा–पैक्ट : मदनमोहन मालवीय, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचार्य, डॉ. अंबेडकर और एम. सी. राजा ने 6 दिनों में पूना में परस्पर वार्ता की। उन्होंने एक ऐसा सूत्र निकाला जिस पर गाँधी और डॉ. अंबेडकर राजी थे। इस सूत्र को ब्रिटिश सरकार ने भी स्वीकृति दी। काफी सोच–विचार और खींचतान के उपरांत 24 सितंबर, 1932 की शाम येरवदा जेल में आम के पेड़ के नीचे पुणे करार ('पुणा पैक्ट') हुआ। इस करार पर अस्पृश्य वर्ग की ओर से डॉ. अंबेडकर और सवर्ण हिंदुओं की ओर से मदनमोहन मालवीय ने हस्ताक्षर किए। हस्ताक्षर करने वाले अन्य नेताओं में एम. सी. राजा, जयकर सप्रू, बिड़ला, राजगोपालाचारी, राजेंद्र प्रसाद, श्रीनिवास, राजभोज, श्रीनिवासन शास्त्री, पी. बालू, गवई, ठक्कर बापा, सोलंकी, सीवी मेथा और कामथ थे। राजगोपालाचारी ने डॉ. अंबेडकर से कलम की अदला बदली की। लेकिन इसे समझौते के बाद गाँधी ने तत्काल अनशन समाप्त नहीं किया। उनकी खराब स्थिति बनी हुई थी। इस करार का समाचार जेल के केबल से लंदन भेजा गया और मैकडोनाल्ड और उनके मंत्रिमंडल ने इसे स्वीकार किया और आवश्यक संशोधन किया। संशोधन का समाचार 26 सितंबर को पाँच बजे येरवदा जेल पहुँचा। तब गाँधी ने अनशन तोड़ा। कस्तूरबा ने उन्हें जूस पिलाया और उस समय वहाँ टैगोर और परचुरे शास्त्री भी उपस्थित थे। पूना पैक्ट पर टिप्पणी करते हुए धनंजय कीर कहते हैं, ''गाँधी में स्थित महात्मा जब राजनीतिज्ञ गाँधी पर हावी हो जाता था, तब साधारण बातें जटिल हो जाती थीं।

गोलमेज सम्मेलन के समय महात्मा ने राजनीतिज्ञ गाँधी पर विजय प्राप्त की थी। लेकिन यरवदा जेल में राजनीतिज्ञ गाँधी की विजय से महात्मा पद की पराजय हुई। गाँधी की विजय इतनी निर्णायक और परिणामकारी बनी कि जिस तरह इंद्र ने कर्ण के कवच और कुंडल तरकीब से छीनकर उसे दुर्बल किया उसी तरह गाँधी ने अस्पृश्य समाज के अलग मतदाता मंडल के कवच और कुंडल निकालकर आंबेडकर को दुर्बल किया।''[51] डॉ. अंबेडकर का कहना था कि अगर गाँधी ने गोलमेज सम्मेलन के दौरान ही बड़प्पन दिखाया होता, तो यह नौबत ही न आती। इस करार से अंतर यही पड़ा कि गाँधी ने अछूतों के लिए सीटें आरक्षित करना स्वीकार किया, तो डॉ. अंबेडकर ने 'पृथक् मतदाता मंडल' छोड़कर साझा मतदाता मंडल स्वीकार किया।[52]

डॉ. अंबेडकर जानते थे कि भले ही 'पूणा समझौता' थोड़ी मात्रा में दलितों के तात्कालिक राजनीतिक हितों के खिलाफ जाता था, लेकिन सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से इसके जरिए गाँधी ने सनातनियों से भारी दुश्मनी मोल ले ली थी। पूणा समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद भी गाँधी ने डॉ. अंबेडकर को मिलने के लिए बुलाया। लिहाजा डॉ. अंबेडकर गाँधी से मिलने 17 अक्टूबर, 1932 को यरवडा जेल आए। वहाँ गाँधी और डॉ. अंबेडकर के सौहार्द्रपूर्ण माहौल में निम्नानुसार बातचीत हुई[53]–

डॉ. अंबेडकर : मैं अस्पृश्यता पर चर्चा करने नहीं, बल्कि राजनीतिक मामलों पर चर्चा करने आया हूँ।

गाँधी : यह सच है। मैं इसके बारे में आपसे बात नहीं कर सकता, यदि आप करते भी हैं, तो मैं एक राय व्यक्त नहीं कर पाऊँगा – मेरा दिमाग उस दिशा में काम नहीं करता है।

डॉ. अंबेडकर : मैं इसके लिए यहाँ आया हूँ। मैं आपसे अनुरोध करना चाहता हूँ कि सविनय अवज्ञा को छोड़ दें और गोलमेज सम्मेलन में शामिल हों। बात यह है कि यदि आप नहीं आते हैं, तो हमें इंग्लैंड में कुछ नहीं मिलेगा और सब कुछ अस्त–व्यस्त हो जाएगा। देश के दुश्मन इकबाल जैसे लोग सामने आएँगे। हमें किसी भी तरह के संविधान पर काम करना है। इसलिए हालांकि मैं एक छोटा आदमी हूँ, मैं आपसे आने का अनुरोध करता हूँ।

गाँधी : यदि आप अपना तर्क विस्तृत करते हैं, तो मैं इस पर विचार करूँगा। मेरा सुझाव है कि आप जाकर इसके बारे में समाचार पत्राों में विस्तार से लिखें। मैं इसके बारे में सोचूँगा।

डॉ. अंबेडकर : यह कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसे लिखित रूप में रखा जा सके। इसमें मुझे बहुत कुछ कहना होगा, जिससे मुसलमानों को ठेस पहुँचेगी और

मैं सार्वजनिक रूप से ऐसा नहीं कह सकता। लेकिन मैं गुमनाम रूप से लिखूँगा या किसी से अलग तरीके से लिखवाऊँगा। कृपया, इसे दखें और इसे मेरा मानकर इस पर विचार करें।

गाँधी : अपने नाम से लिखेंगे, तो अच्छा रहेगा। लेकिन निश्चित रूप से आप जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं।

डॉ. अंबेडकर : मुझे ईमानदारी से कहना चाहिए कि मुझे मंदिरों के खुले में फेंके जाने, आम भोज आदि में कोई दिलचस्पी नहीं है, क्योंकि हम इससे पीड़ित हैं। मेरे लोगों को मार–पीट सहन करनी पड़ती है और कटुता बढ़ती जाती है। विले पार्ले में आम रात्रिभोज के बाद, मराठा कार्यकर्ता हड़ताल पर चले गए। यदि सवर्ण हिंदुओं में शत्तिफ होती, तो वे अछूतों को नौकरों के रूप में नियुक्त करते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। इसलिए मुझे इस चीज में कोई दिलचस्पी नहीं है। मैं केवल इतना चाहता हूँ कि सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयाँ समाप्त हों।

गाँधी : उदाहरण दें।

डॉ. अंबेडकर : अछूतों को रहने के लिए घर नहीं मिलते, वे अन्याय और अत्याचार सहते रहते हैं। एक मामले में एक अछूत पर एक मराठा की हत्या का आरोप लगाया गया था। मैं मामले को सत्रा में ले जा सकता था और उसे बरी कर सकता था, लेकिन मजिस्ट्रेट ने हत्या के आरोप को एक गंभीर चोट के आरोप में बदल दिया। अब उसे कुछ सजा मिलेगी। आप शायद नहीं जानते कि मुझे क्या झेलनी पड़ रही है। बंबई में मुझे पोर्ट ट्रस्ट की चॉल के अलावा रहने के लिए और कोई जगह नहीं मिलती। अपने गांव में मुझे महारों के बीच रहना पड़ता है। पूना में बाकी सब अपने दोस्तों के साथ रहते हैं। मुझे नेशनल होटल में रहना है और रुपये खर्च करने हैं और परिवहन किराया भी।

गाँधी : भारत के सेवक?

डॉ. अंबेडकर : हाँ, मैं शायद वहाँ रह सकता हूँ, लेकिन शायद ही। अगर आप वेज से पूछेंगे, तो आपको पता चल जाएगा। एक बार वेज के नौकर ने उनके सामने मेरा अपमान किया। मैं इन सभी कष्टों को दूर करना चाहता हूँ।

गाँधी : मैं आपके साथ हूँ। आपको पता होना चाहिए कि मेरा अनशन अभी समाप्त नहीं हुआ है, अभी भी जारी है। समझौते को ठीक करना एक मामूली बात थी। मुख्य काम अभी बाकी है। मैं इसके लिए अपनी जान देने को तैयार हूँ। आपके द्वारा उल्लेखित सभी अन्याय समाप्त होने चाहिए।

डॉ. अंबेडकर : बिड़ला ने कहा कि मुझे 'अस्पृश्यता उन्मूलन समिति' में लिया जाना चाहिए। मैंने शामिल होने से मना कर दिया, क्योंकि मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? अस्पृश्यता उन्मूलन का कार्य आपकी इच्छा के अनुरूप हो रहा है,

इसके लिए मुझे सहमत होना पड़ेगा। यदि हम बहुमत में हैं, तो हम उन सुधारों को प्राप्त कर सकते हैं जो हम चाहते हैं। आप चाहते हैं कि मंदिर बने या कुएँ खोदे जाएँ। हमें लग सकता है कि यह पैसे की बर्बादी होगी कि इसके लिए कोई और रास्ता निकाला जाना चाहिए।

गाँधी : मैं आपका दृष्टिकोण समझता हूँ, और मैं इसे ध्यान में रखूँगा और देखूँगा कि क्या किया जा सकता है।

'पुणा पैक्ट' के बाद : 'पुणा पैक्ट' के बाद गाँधी ने अस्पृश्यता–निवारण के प्रयास तेज किए। येरवदा जेल से छूटने के बाद उन्होंने पूरे देश में नौ महीनों तक हरिजन यात्रा की। इस क्रम में उन्हें कट्टरपंथी सनातनी हिंदुओं के भारी विरोध का सामना करना पड़ा था। गाँधी ने सिंतबर 1932 में उन्होंने 'अखिल भारतीय छुआछूत–निवारण संघ' ;'हरिजन सेवक संघ'द्ध की स्थापना की। डॉ. अंबेडकर ने सुझाव दिया कि संघ शिक्षा और चिकित्सा राहत पर मितव्ययिता कर सकता है, क्योंकि सरकार इन पर ध्यान दे रही थी और इन मामलों में प्रयासों के दोहराव का खतरा था। गाँधी का मानना था कि संघ के प्रयासों से बेहतर बदलाव आ रहा था, लेकिन अगर उन्हें डॉ. अंबेडकर का बहुमूल्य सहयोग मिला, तो उस दिशा में प्रगति तेज हो जाएगी।[74]

गाँधी 15 दिसंबर, 1932 को डॉ. अंबेडकर के सात मित्र एवं अनुयायियों से मिले। 4 फरवरी, 1933 को गाँधी एवं डॉ. अंबेडकर के बीच रंगा अय्यर के दो विधेयकों के औचित्य पर चर्चा निम्नानुसार चर्चा हुई।[75] गाँधी ने 11 फरवरी, 1933 से 'हरिजन' नाम से एक साप्ताहिक का प्रकाशन भी शुरू किया था। इसके प्रथम अंक में प्रकाशन के लिए गाँधी ने अपनी हाल की मुलाकात में डॉ. अंबेडकर से व्यक्तिफगत रूप से एक संदेश लिखने का आग्रह किया था, जवाब में उन्होंने संक्षेप में अपना यह वक्तव्य लिख भेजा।

लाहौर के 'जाति पांत तोड़क मंडल' ने मई 1936 के अपने वार्षिक अधिवेशन के लिए डॉ. अंबेडकर ने पांच दिसंबर 1935 से मार्च, 1936 के बीच 116 दिनों में अनिहिलेशन ऑफ कास्ट (जातिभेद का बीजनाश) शीर्षक से एक लंबा शोध पत्र तैयार किया। लेकिन आयोजकों की हठ धर्मिता के कारण वह भाषण नहीं हो सका। इसके बाद डॉ. अंबेडकर ने उस भाषण को पुस्तिका रूप में प्रकाशित करवाया और उसके आधार पर भारतीय समाज में तीखी बहस शुरू हुई। गाँधी ने उस प्रपत्र का संज्ञान लिया और 'हरिजन' साप्ताहिक के 11 जुलाई, 1936 के अंक में उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त की। गाँधी ने 'हरिजन' के 18 जुलाई के संस्करण में इस बहस को जारी रखा।

डॉ. अंबेडकर ने कांग्रेस और गाँधीपर जून 1945 में धमाकेदार प्रहार 'व्हाट कांग्रेस एंड गाँधी हैव डन फॉर अनटचेबल्स' ('कांग्रेस और गाँधी ने अस्पृश्यों के साथ क्या किया') किया। गाँधी डॉ. अंबेडकर की विद्वता और कार्यकुशलता से खासे प्रभावित थे और दिल खोलकर उनकी प्रशंसा करते थे। 26 जुलाई को जब यह तय हो रहा था कि देश की पहली कैबिनेट में किन प्रतिभाओं को स्थान दिया जाए, तो गाँधी ने कहा, ''हमें हर किसी की सेवा का इस्तेमाल करना चाहिए। गाँधी ने नेहरू और पटेल को यह सलाह दी कि वे डॉ. अंबेडकर को देश के पहले मंत्रिमंडल में शामिल करें। सन 1946 में डॉ. अंबेडकर संविधान सभा के लिए पहली बार बंगाल से चुने गए। उस समय उनकी पार्टी का नाम था आल इंडिया शिडङ्कूल्ड कास्ट फेडरेशन। बंगाल के 250 सदस्यीय विधनसभा में उनकी पार्टी के 26 सदस्य थे। कांग्रेस ने न तो अंबेडकर के लिए सीट खाली की और न ही उनका समर्थन किया। इस सीट को जीतने के लिए डॉ. अंबेडकर को मुस्लिम लीग की मदद लेनी पड़ी। इस प्रयास में मुस्लिम लीग के नेता जोगेंद्रनाथ मंडल ने उनकी मदद की। उन्हें शूद्रों का समर्थन प्राप्त था और उन्होंने डॉ. अंबेडकर के लिए प्रचार किया। इस तरह से डॉ. अंबेडकर संविधान सभा में पहुंचे जरूर, लेकिन उनकी यह सीट ज्यादा दिन रह नहीं पाई। इसी बीच देश का विभाजन हो गया और डॉ. अंबेडकर की वह सीट पाकिस्तान के हिस्से में चली गई। आखिरकार गाँधी की सलाह पर संविधन सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने महाराष्ट्र के प्रधन बी. जी. खेर से कहा कि प्रसिद्ध विधिवेत्ता और शिक्षाशास्त्री एम. आर. जयकर के इस्तीफा देने से जो सीट खाली हुई है, उस पर वे डॉ. अंबेडकर का चयन करवाएँ। इस तरह जिस कांग्रेस पार्टी ने बंगाल प्रांत में उनके चुने जाने का विरोध किया था, उसी ने उनका बांबे प्रांत से चयन करवाया। गाँधी की पहल पर डॉ. अंबेडकर भारत के पहले कानून मंत्री (15 अगस्त, 1947) और संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष (29 अगस्त, 1947) बनाए गए।

30 जनवरी, 1948 को गाँधी की शहादत के बाद डॉ. अंबेडकर उनके पार्थिव शरीर के दर्शनार्थ पहुँचे और वहाँ काफी देर तक रहे।

संक्षेप में, महात्मा गाँधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर दोनों की सामाजिक पृष्ठभूमि एवं वैचारिक निर्मिति भिन्न–भिन्न रही है और उनके क्रियाकलाप भी अलग–अलग हैं। लेकिन गहराई में देखने पर यह स्पष्ट होता है कि गाँधी एवं डॉ. अंबेडकर, दोनों का मुख्य सरोकार मानवाधिकारों का संरक्षण एवं संवर्धन ही था और इस मामले में दोनों एक–दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक साबित होते हैं।

संदर्भ

1. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर,** प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 144.
गाँधी और डॉ. अंबेडकर की इस पहली भेंट का एक ही वृत्तांत उपलब्ध है। उसके लेखक भा. र, कद्रेकर डॉ. अंबेडकर के साथ मणि भवन गए थे। यह वृत्तांत 'नवयुग' ;डॉ. अंबेडकर विशेषांक, अप्रैल 1947द्ध में प्रकाशित हुआ था। धनंजय कोर ने 'डॉ. अंबेडकर लाइपफ एंड मिशन' तथा य. दि. फडके ने 'डॉ. अंबेडकरी एवं 'विसाव्या शतकातील महाराष्ट्र', खंड 4 में कद्रेकर के उत्तफ वृत्तांत को ही आधर बनाया है। हमने भी उसी वृत्तांत से उद्धरण लिये हैं। इस मुलाकात के अगले दिन 15 अगस्त, 1931 को 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने इस मुलाकात का यह समाचार दिया था–दलित वर्गों के नेता डॉ. अंबेडकर शुक्रवार की दोपहर को श्री गाँधी से मिले। उन्होंने श्री गाँधी को यह बात समझानी चाही कि कांग्रेस ने अब तक दलित वर्गों के लिए कोई ठोस काम नहीं किया है और यह श्री गाँधी का भ्रम है कि दलित वर्ग पूरी तरह से उनके साथ है। श्री गाँधी को अपनी बात से सहमत कराए बिना और श्री गाँधी की बात से खुद सहमत हुए बिना ही अंततः डॉ. अंबेडकर चले गए। लंदन जाने के पहले डॉ. अंबेडकर ने 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के प्रतिनिधि से भेंटवार्त्ता में कहा कि गाँधी का भारत के हितों से बारडोली के हितों का ज्यादा महत्त्व देना और इस वजह से गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए लंदन जाने से इनकार करना मुझे मूर्खता की हद लगती है।''
2. कीर, धनंजय; **डॉ. आंबेडकर : लाइफ एंड मिशन**, दूसरा संस्करण, पृ. 465.
3. गाँधी, **संपूर्ण गाँधी वाड्.मय**, खंड–33, पूर्वोक्त, पृ. 288.
4. गोरे, एम. एस.; **दि सोशल कांटेक्स्ट ऑफ एन आइडियोलॉजी**, पृ. 125.
5. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 162.
6. वही, पृ. 179.
7. रत्तु, पृ. 179.
8. मंत्री, पृ. 156.
9. वही.
10. वही, पृ. 159.
11. वही, पृ. 156.
12. गाँधी, **यंग इंडिया**, 28 अप्रैल, 1927.
13. फड़के, य. दि.; **विसाव्यासत्कालीन महाराष्ट्र,** खंड–4, पृ. 227.
14. मंत्री, गणेश, **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 159.
15. वही.
16. वकील, के., **डॉ. अंबेडकर डिस्प्यूट**, पूर्वोक्त, पृ. ई/
17. मंत्री, गणेश, **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 183.

18. वही.
19. वही.
20. वकील, के.; **डॉ. अंबेडकर डिस्प्यूट**, पूर्वोक्त, पृ.।
21. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 184.
22. वही.
23. वही.
24. गाँधी; **संपूर्ण गाँधी वाड्.मय**, खंड–5, पृ. 16.
25. वही, खंड–48, पृ. 330–331.
26. वही, पृ. 331
27. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 185.
28. सोर्स मैटीरियल ऑन डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर एंड दि मूवमेंट ऑपफ दि अनटचेबिल्स, वॉ. 1, पृ. 30–31.
29. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 185.
30. वही.
31. वही, पृ. 186.
32. गाँधी; **संपूर्ण गाँधी वाड्.मय**, खंड 48, पृ. 326
33. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 186.
34. वही.
35. वही.
36. वही.
37. वही.
38. वही, पृ. 186.
39. वही.
40. अंबेडकर, डॉ. बी. आर.; **बाबा साहेब अंबेडकर संपूर्ण वाड्.मय**, खंड– 5, पृ. 194. 41. वही.
42. अंबेडकर, डॉ. बी. आर.; **बाबा साहेब अंबेडकर संपूर्ण वाड्.मय**, खंड– 5, पृ. 194.
43. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 187.
44. वही.
45. वही.
46. वही.
47. वही.
48. वही.

49. वही.
50. **गाँधी–अंबेडकर : संवाद,** 22 **सितंबर,** 1932
51. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 207.
52. वही.
53. **गाँधी–अंबेडकर : संवाद, 17 अक्टूबर, 1932**
स्रोतः द कलेक्टेड वर्क्स ऑपफ महात्मा गाँधी– खंड 57 : 5 सितंबर, 1932 – 15 नवंबर, 1932
54. **गाँधी–अंबेडकर : संवाद, 4 पफरवरी, 1933**
स्रोतः द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी– परिशिष्ट खंड 59: 13 जनवरी 1933–9 मार्च 1933श (गुजराती से)
55. गाँधी; **संपूर्ण गाँधी वाड्.मय**, खंड–53, पूर्वोक्त, पृ. 284.
56. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 282.
57. वही, पृ. 284.
58. वही, पृ. 332.
59. कीर, धनंजय; **डॉ. आंबेडकर : लाइफ एंड मिशन**, पृ. 185.
60. वही, पृ. 207.
61. वही, पृ. 204.
62. वही.
63. गाँधी; **हरिजन**, 11 जुलाई, 1936.
64. वही.
65. वही.
66. वही.
67. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 207.
68. राजू, अमरेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 42.
69. वही. पृ. 43.
70. वही.
71. वही, पृ. 44.
72. वही, पृ. 94–95.
73. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 185.
74. गाँधी; **संपूर्ण गाँधी वाड्.मय**, खंड 48, पृ. 327.
75. मंत्री, गणेश; **गाँधी और अंबेडकर**, पूर्वोक्त, पृ. 186.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के विशेष सन्दर्भ में आत्मबोध की अवधारणा

डॉ. कृष्ण चौधरी *

संत–विद्वान एवं दार्शनिक पं. श्रीराम शर्मा आचार्य सहस्राब्दियों से मानव चेतना, संस्कृति और सभ्यता के विकास में अलौकिक गुणों तथा बहुआयामी प्रतिभाओं के साथ प्रकट हुए। 20 सितंबर, 1911 को भारत में उत्तर प्रदेश के आगरा जिले के ऑवलखेड़ा गॉव में जन्में आचार्यश्री का पूरा जीवन भगीरथ जैसी तपस्या के लिए समर्पित था, जो सार्वभामिक शान्ति और सद्भाव के लिए एक नये युग के उदय का रास्ता साफ करने में लगा रहा। एक ऋषि, दूरदर्शी, समाज सुधारक आचार्यश्री ने सामाजिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के लिए युग निर्माण योजना की शुरुआत की। उन्होंने तपस्या से भरा एक सरल, अनुशासित जीवन जिया। कई बार हिमालय की यात्रा भी की और आध्यात्मिक प्रतिष्ठा और दूरदर्शिता प्राप्त की।[1]

आचार्यश्री ने व्यापक परिचय के साथ वैदिक वांगमय का हिन्दी में स्पष्ट अनुवाद किया और जीवन के सभी पहलुओं पर 3200 से अधिक ज्ञानवर्धक पुस्तकें लिखने की उपलब्धि हासिल की। उनके लेखन में आज की असंख्य समस्याओं के दूरगामी, दूरदर्शी और व्यावहारिक समाधान शामिल हैं। युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा स्थापित शान्तिकुंज, हरिद्वार नैतिक और आध्यात्मिक जागृति के लिए एक अकादमी, ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, अध्यात्म के साथ विज्ञान को संश्लेषित करने का प्रयास करता है। अखण्ड ज्योति संस्थान और गायत्री तपोभूमि, मथुरा दुनिया भर में हजारों सामाजिक सुधार और साधना केन्द्र (शक्तिपीठ) के लिए महान योगदान दिया। भारतीय संस्कृति के उन्नायक ने

** सहायक प्राचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, एच.पी.एस. कॉलेज, निर्मली, सुपौल (भू.ना.म.वि.वि, मधेपुरा)*

आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक पुनरुत्थान करके 2 जून, 1990 गायत्री जयंती को ब्रह्मलीन हो गये।[2]

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के चिंतन में भारतीय दर्शन का अध्ययन सिर्फ ज्ञान प्राप्ति के लिए ही नहीं, वरन् जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के साथ–साथ आत्मबोध के लिए भी किया जाता है। भारतीय दर्शन में आत्मा को परम–ज्ञेय की संज्ञा से विभूषित किया गया है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में आत्मा की नित्यता–अमरता को प्रमुखता से स्थान दिया गया है। श्रीमद्भागवत गीता के अनुसार आत्मा की सत्ता शरीर और मन के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी बनी रहती है, इसी कारण इसे अविनाशी तथा अमर कहा गया है।[3] चैतन्य आत्मा का आवश्यक गुण है। कुछ दार्शनिकों ने चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म माना है तो कुछ चिन्तकों ने आत्मा का स्वरूप स्वीकार किया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण का यह परम वाक्य ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः''[4] भारतीय दर्शन और धर्म का मूल मंत्र है। इसका अर्थ है आत्मा साक्षात् अनुभव करने योग्य है और यह अनुभव श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से प्राप्त होता है। यद्यपि श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से आत्मज्ञान एवं ब्रह्म साक्षात्कार होता है, तथापि इसकी अनुभूति के लिए साधक के जीवन में वैराग्य, श्रद्धा एवं उपासना का समावेश होना अति आवश्यक है।

चार्वाक को छोड़कर प्रत्येक भारतीय दार्शनिक आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है। उपनिषद् से लेकर वेदान्त तक आत्मा की खोज पर जोर दिया है। यहॉ के ऋषियों का मूल मंत्र है–आत्मानं विद्धि। आत्मा में विश्वास करने के फलस्वरूप भारतीय दर्शन अध्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय दार्शनिकों ने साधारणतया आत्मा को अमर माना है। आत्मा और शरीर में यह मुख्य अन्तर है कि आत्मा अविनाशी है, जबकि शरीर का विनाश होता है। आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न मत भारतीय दार्शनिकों ने उपस्थित किया है। चार्वाक ने आत्मा और शरीर को एक दूसरे का पर्याय माना है। चैतन्य विशिष्ट देह को ही चार्वाकों ने आत्मा कहा है। आत्मा शरीर से पृथक नहीं है। शरीर की तरह आत्मा भी विनाशी है, क्योंकि आत्मा वस्तुतः शरीर ही है। चार्वाक के इस मत को देहात्मवाद कहा जाता है। सदानन्द ने 'वेदान्तसार' में चार्वाक द्वारा प्रमाणित आत्मा के सम्बन्ध में चार विभिन्न मतों का उल्लेख किया है।[5] कुछ चार्वाकों ने आत्मा को शरीर कहा है। कुछ चार्वाकों ने आत्मा को ज्ञानेन्द्रिय के रूप में माना है। कुछ चार्वाकों ने कर्मेन्द्रिय को आत्मा कहा है। कुछ चार्वाकों ने मनस को आत्मा कहा है। चार्वाकों ने आत्मा के अमरत्व का निषेध कर भारतीय विचारधारा में निरूपित आत्मा के

विचार का खंडन किया है। चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी विचार को भौतिकवादी मत कहा जाता है।[6]

बुद्ध ने क्षणिक आत्मा की सत्ता को स्वीकार की है। उनके अनुसार आत्मा चेतन का प्रवाह है। उनका यह विचार विलियम जेम्स के आत्मा सम्बन्धी विचार का प्रतिरूप है। बुद्ध ने वास्तविक आत्मा को भ्रम कहकर व्यावहारवादी आत्मा को माना जो निरंतन परिवर्तनशील रहता है। बुद्ध के आत्म–विचार को अनुभववादी मत कहा जाता है।[7] जैनों ने जीवों को चैतन्ययुक्त कहा है। चेतना आत्मा में निरंतर विद्यमान रहती है। आत्मा में चैतन्य और विस्तार दोनों समाविष्ट है। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। आत्मा की शक्ति अनंत है। उसमें चार प्रकार की पूर्णता जैसे–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द विद्यमान है।[8]

आत्मा के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक ने जो मत दिया है, उसे यथार्थवादी मत कहा जाता है। न्याय–वैशेषिक ने आत्मा को स्वभावतः अचेतन माना है। आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है, जब आत्मा का सम्पर्क मन, शरीर और इन्द्रियों से होता है। इस प्रकार चेतना को इन दर्शनों में आत्मा का आगन्तुक गुण कहा गया है। मोक्षावस्था में आत्मा चैतन्य–गुण से रहित होता है। आत्मा को ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता माना गया है।[9]

सांख्य ने आत्मा को चैतन्य स्वरूप माना है। चेतना आत्मा का मूल लक्षण है। चैतन्य के अभाव में आत्मा की कल्पना भी असंभव है। आत्मा निरंतर ज्ञाता रहता है। वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। सांख्य ने आत्मा को अकर्ता कहा है। आत्मा आनन्दविहीन है, क्योंकि आनन्द गुण का फल है और आत्मा त्रिगुणातीत है।[10]

मीमांसा भी न्याय–वैशेषिक की तरह चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म मानती है। मीमांसा दर्शन में आत्मा को नित्य एवं विभु माना गया है।[11] शंकर ने चेतना को आत्मा का मूल स्वरूप लक्षण माना है। उन्होंने आत्मा को सच्चिदानन्द कहा है। आत्मा न ज्ञाता है और न ज्ञान का विषय है। शंकर एक ही आत्मा को सत्य मानते हैं।[12]

आचार्य पं. श्रीराम शर्मा के अनुसार आत्मा ही ज्ञान–विज्ञान का केन्द्र है। सुख–शान्ति का मूल आधार वही है। उन्नति और समृद्धि के बीज उसी में छिपे हैं। स्वर्ग और मुक्ति का आधार वही है। कल्पवृक्ष बाहर कही नहीं अपने भीतर ही है। अगणित कामनाओं की तृप्ति आत्मज्ञान से ही सम्भव हो सकती है। आत्मा ही पारसमणि है, जिसे छूकर लोहे जैसा काला कलूटा मानव जीवन अस्तित्व में परिणत होता है। यही वह अमृत है, जिसे पीकर युग–युग की अतृप्त तृष्णा का समाधान होता है। आत्मा अपने आप में पूर्ण है, जिसने उसे देख लिया वही सच्चा द्रष्टा है, जिसने उसे प्राप्त कर लिया उसके लिए और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं

रह जाता।[13] सत्य, प्रेम, आनन्द आदिआत्मा के गुण धर्म हैं। सर्वत्र आत्मा के स्वरूप को देखने वाले आत्मविद् के अन्तःकरण से विश्वप्रेम की सुरसरी बह निकलती है। जिस अन्तर में ये पुण्य धारायें बहती रहती हैं, उन्हें जो आनन्द, शान्ति और संतोष प्राप्त होता है, उसे अनुभवी ही जानते हैं।[14]

मानव जीवन, समस्त संसार और पदार्थों की मूलसत्ता में सर्वव्यापी आत्मतत्व को जान लेने पर मनुष्य जीवन में होने वाले विभिन्न परिवर्तन, सृजन और विनाश, लाभ–हानि, सुख–दुःख भय शोक आदि से मुक्त हो जाता है। उसके समस्त पाप–ताप, विकृतियॉ तिरोहित हो जाते हैं। आत्मविद् होकर, आत्मस्थित हेाकर मनुष्य सुख शान्ति आनन्द की सहजावस्था प्राप्त कर लेता है। आत्मा की सत्यता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य स्वतः ही संसार और इसके पदार्थों में अलिप्त निस्पृह बन जाता है। वस्तुतः संसार और इसके पदार्थों को जीवन का सत्य मानने वाले ही विभिन्न उपायों से पदार्थ उपकरण आदि संग्रह करते हैं। परन्तु आत्मविद् संसार और इसके पदार्थों की क्षणभंगुरता, अनित्यता को जानकर आत्मा के स्वभाव अनुसार दिव्य कर्म, दिव्य गुणों से युक्त हो स्वर्गीय जीवनयापन करता है।[15]

आत्मा को न शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है और न ही वायु सूखा सकती है। यह नित्य चैतन्य आत्मा न कभी मरती है और न कभी जन्म लेती है। न तो यह कभी पैदा हुआ न इससे कोई पैदा हुआ। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और चिरन्तन है।[16] आत्मा की अनुभूति मनुष्य को जरा–मरण के भय से मुक्त करता है। वस्तुतः जरा और मृत्यु का भय, चिन्ता इतनी भयावह होती है कि इससे मनुष्य का जीवन सत्व तेजी के साथ नष्ट होने लगता है। परन्तु मृत्यु–भय का उच्छेद आत्मज्ञान से तत्क्षण ही हो जाता है, क्योंकि आत्मा जरा–मरण के बन्धनों से मुक्त है।[17] आचार्य पं. श्रीराम शर्मा के अनुसार संसार का वास्तविक तत्व आत्मा ही है, जो जरा–मरण से रहित, शोक से मुक्त नित्य और अविनाशी है। उसका ज्ञान हो जाने से मनुष्य उसी की भांति ही भय–शोक, चिन्ता और मरण धर्म से मुक्त हो जाता है। यह अजर और अमर होकर संसार के लोगों एवं अनुभव से ऊपर उठकर फिर अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है। इस नाशवान मानव जीवन की इससे बड़ी और इससे ऊँची उपलब्धि अन्य क्या हो सकती है।[18]

मनुष्य एक ऐसा आनन्द प्राप्त करना चाहता है, जो सत्य, अपरिवर्तनशील और अविनाशी हो। संसार के क्षणभंगुर सुखों का उपभोग करने से उसकी यह प्यास पूरी नहीं होती, बल्कि इन उपभोक्ताओं से उसकी प्यास और भी बढ़ जाती है। उसे अन्त में अशान्ति और असंतोष का भागी बनना पड़ता है। इन्हीं नश्वर और मिथ्या भोगों में आनन्द की खोज करता–करता वह जरा को प्राप्त करता है

और फिर मृत्यु को। उसे आत्मबोध की कोई भी ज्ञान नहीं होता।[19] देह, इन्द्रियॉ और सांसारिक पदार्थों को महत्व देने पर ही जीवन में विभिन्न राग–द्वेष की आशा, अभिलाषाओं का चक्र चलता है। जब मनुष्य इनसे ऊपर उठकर आत्मा के व्यापक विराट स्वरूप में स्थित होता है तो पदार्थों की तुच्छता, देह इन्द्रिय की अनित्यता क्षणभंगुरता का ज्ञान हो जाता है। तब फिर वह अमूल्य मानव–जीवन को इन तुचछ बातों में नष्ट नहीं करता और इसी के साथ उसके समस्त दुःख–द्वन्द्व तिरोहित हो जाते हैं।[20] आचार्य श्री का कहना है कि यदि धन, सम्पत्ति और वैभव विभूति से ही आत्मबोध की पूर्ति हो सकती होती तो इस विशाल संसार में न जाने कितने धन कुबेर पड़े हैं, जिनके धन–वैभव की कोई गणना–परिमाण नहीं है। नित्य प्रति करोड़ों की आय है और जिनका आर्थिक साम्राज्य देश–देशान्तरों में फैला पड़ा है। इसके बावजूद भी उसे किसी प्रकार की आत्मबोध को कोई भी संयोग नहीं बन पड़ता है।[21]

महान दार्शनिक आचार्य पं. श्रीराम शर्मा ने आत्मबोध के लिए उपासना–साधना को प्रमुखता से स्थान दिया है। उपासना–साधना में साधक बाह्य जगत से विलग आन्तरिक जगत की यात्रा में उतर जाता है। वह भौतिकवादी विचारों से मुक्त होकर आध्यात्मिक अनुभूतियों की लहरों में हिलोरे लेने लगता है। यह आध्यात्मिक अनुभूतियॉ साधक को उपासना–साधना से ही संभव है। आत्मबोध के लिए साधक को सरल होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि सरलता साधक को निर्मल तथा गरलता हृदय को कलुषित करती है। अतः आध्यात्मिक गुणों के लिए पहले भूमि–शुद्धि की यानी सरलता की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार कोई भी चित्रकार जब चित्र अंकन करने बैठता है तो पहले दीवार, कपड़े या कागज को शुद्ध, धब्बा खरदरेपन से रहित, साफ–सुथरा व पालिशदार बनाता है। उसी प्रकार आत्मदेव की अनुभूति पाने के लिए सरलता रूपी चित् शुद्धि की सर्व प्रथम परमावश्यकता होती है। जहॉ निर्मलता नहीं कलुषता है, वहॉ अन्य सदगुणों का आगमन एवं विकास असंभव हो जाता है। सरलता का वास्तविक अर्थ है जो चीज जिस रूप में है, उसे उसी रूप में प्रकट करना।[22]

आत्मबोध के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उपासना एवं साधना दो पहियों पर चलने वाली आत्मिक–प्रगति यात्रा है। जिस प्रकार इन्द्रियजन्य वासनाओं और मनोवांछाओं–तृष्णाओं की पूर्ति भौतिक साधन सामग्री के आधार पर होती है, इसी प्रकार आंतरिक समाधान, संतोष, आनन्द–उल्लास की असीम शान्ति भरी स्थिति अध्यात्म विज्ञान के आधार पर उपार्जित संपदाओं से होती है। नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, लघु से महान, आत्मा से परमात्मा बनने का अवसर

इसी पर चलने से मिलता है। आत्मबोध का जीवन लक्ष्य इन्हीं प्रयत्नों से संभव होती है। इस प्रकार आचार्यश्री ने असत् प्रवृत्तियों से दूर रहकर सत्प्रवृत्तियों का अवलम्बन लेकर आत्मबोध कर अपने जीवन को यथार्थ बनाकर अन्त में परम लक्ष्य को प्राप्त हो सकता है।

संदर्भ

1. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाड्.मय खण्ड 1–युगद्रष्टा का जीवन दर्शन, पृ. 2.4
2. स्मारिका–जबलपुर अश्वमेध महायज्ञ, पृ. 83
3. श्रीमद्भगवद्गीता–2/20
4. बृहदारण्यकोपनिषद्–2/4/5
5. Sadanand- Social and International Ideals. (P.43)
6. G.H. Palmer. Contemporary American Philosophy Vol. 1 (P.51)
7. धर्मसंग्रहणी– गाथा, 626
8. षड्दर्शनसमुच्चय–कारिका, 49
9. न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य सहित, 1/1/9
10. सांख्यकारिका, 19
11. श्लोकवार्तिक, 107
12. ब्रह्मसूत्र, 2/1/28
13. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, सितम्बर 1961, पृ. 15
14. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, नवम्बर 1963, पृ. 05
15. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, मार्च 1968, पृ. 07
16. श्रीमद्भगवद्गीता–2/23
17. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, मार्च 1968, पृ. 07
18. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, मार्च 1968, पृ. 08
19. वही
20. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, नवम्बर 1963, पृ. 05
21. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, मार्च 1968, पृ. 07
22. आचार्य पं. श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका, सितम्बर 1961, पृ. 15

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

वैदिक दर्शन में गुरु–शिष्य परम्परा : एक अवलोकन

डॉ. राज गोपाल *

वैदिक दर्शन में गुरु–शिष्य परम्परा का विशेष महत्व रहा है, जो आज भी किसी व्यवस्था के लिए आदर्श स्थिति है। वैदिक परंपरा में गुरु को "गुरु ब्रह्मा गुरुविष्णुः गुरुदैवों महेश्वरः" अर्थात् गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश की संज्ञा से संबोधित किया गया है। गुरु शब्द 'गु' और 'रु' दो अक्षरों के मेल से बना है। यहाँ 'गु' से मायादि गुण और 'रु' से माया–भ्रान्ति विमोचनकारी ब्रह्म से संबोधित किया गया है। वेदान्त दर्शन के ब्रह्मा का सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप गुरु में प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार से गुण दर्शन, जगत दर्शन तथा अनित्य दर्शन जो होता है–उसको जो नित्य कर देता है उसी का नाम गुरु है।

वर्त्तमान समय में जो महत्व शिक्षकों, शिक्षण–संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों आदि को प्राप्त है, वैदिक–काल में उपयुक्त सभी शैक्षणिक संस्थाओं एवं शिक्षकों का सम्मिलित महत्व अकेले 'गुरु' को ही प्राप्त था, क्योंकि तद्युगीन व्यवस्था में कोई स्थायी शैक्षणिक–संस्था स्थापित नहीं थी। बाल्यकाल से ही छात्रों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उन्हें योग्य एवं समाजोपयोगी व्यक्तित्व प्रदान करता था। गुरु–शिष्य को अविद्या अन्धकार से निकालकर ज्ञानालोक की ओर सतत् अग्रसारित करते रहते हैं। एक परवर्त्ती मनीषी का कथन है कि–"अज्ञानति मिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया" अज्ञान के अंधेरे से निकालकर अन्धे आँखों में ज्ञानाञ्जन की श्लाका लगा दे वही गुरु है। इस प्रकार से ज्ञान रूपी दीपक एक प्रकार के आवरण से ढँका रहता है, गुरु जन इस आवरण को हटा देता है तभी ज्ञान की किरणें निकलती है।[1] अतः गुरु के प्रति कृतज्ञ होना एवं उनका अधिकाधिक सम्मान करना शिष्य का ही नहीं अपितु संपूर्ण समाज का नैतिक उत्तरदायित्व है। भारतीय परम्परा में गुरु को माता–पिता से भी अधिक सम्मानित माना गया है, जहाँ माता–पिता से केवल नश्वर शरीर ही प्राप्त होता है, जबकि

** सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, विशेश्वर सिंह जनता महाविद्यालय, राजनगर, मधुबनी*

गुरु से बौद्धिक उन्नति के रूप में कालजयी ज्ञान। वैदिक काल में आचार्य को शिष्य का मानस–पिता स्वीकार किया गया है।[2]

वैदिक समाज में गुरु की महत्ता का स्पष्ट कारण था कि वेदाध्ययन मौखिक परम्परा से संपादित हो रही थी, जो कमोबेश हाल के समय तक चली आ रही है। मौखिक परंपरा से संचालित वैदिक शिक्षा–पद्धति में मंत्रों के शुद्ध स्वरोच्चारण पर विशेष ध्यान दिया जाता था एवं शुद्ध–शुद्ध उच्चारण सुयोग्य आचार्य के श्रीमुख से प्रत्यक्ष स्तर से ही सीखी जा सकती थी। तत्कालीन समाज में वेदों की अलौकिक एवं अनुपम सम्मान प्राप्त था। इस अमूल्य–निधि की रक्षा एवं इसको भावी पीढ़ी तक हस्तांतरण सुयोग्य गुरु के अभाव में सर्वथा असंभव था। उपनिषद् काल में तो गुरु की महिमा जगद्–व्याप्त थी। यहाँ गुरु का मतलब भगवान, परमात्मा, ब्रह्म, आत्मा। जानने वाला भी वही है जनाने वाला भी वही है। 'आत्मा वै गुरुरेकः–आत्मा ही एकमात्र गुरु है। इस प्रकार से उपनिषद् दर्शन में गुरु के माध्यम से आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति होती है और मुक्ति का मार्ग गुरु ही दिखला सकता है।[3] इस काल में दर्शन के क्षेत्र में गुरु की महिमा में वृद्धि के साथ जनपद के सामान्य आचार्य की महिमा में भी अपेक्षित अभिवृद्धि हुई है, क्योंकि शिल्पशिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा आदि उच्च कोटि की कुशलता केवल दीर्घावधि के अनुभवप्राप्त आचार्य से प्रत्यक्ष स्तर से ही प्राप्त की जा सकती थी।[4]

भारतीय आद्य परम्परा में गुरु को भगवान से भी ऊँचा दर्जा दिया गया है। भावगत पुराण में बालक ध्रुव का प्रसंग यहाँ प्रासंगिक है। ध्रुव के पिता ने उसके विमाता के दुराग्रह पर उसे गोद से उतार दिया। बालक ध्रुव रोते हुए अपनी माँ के पास जाते हैं–माँ से कहते हैं पिताजी ने हमको गोद से उतार दिया है इसके मूल में पिताजी का राज पाट धन संपत्ति है। हमको पिता जी से भी बड़ा राज्य चाहिए। माँ के निर्देशानुसार वह ईश्वर की आराधना करने लगा। इनके आराधना से ईश्वर प्रसन्न होकर वर माँगने का आदेश दिया। तब ध्रुव ने कहा–हमको वर–ऊँट नहीं चाहिए अब। हम खोजते थे काँच मिल गया हिरा अब काँच का क्या प्रयोजन है? तब भगवान ने कहा–नहीं यह नहीं हो सकता है। तुमने तपस्या हमारे लिए नहीं किया था। पिता से भी बड़ा राज्य पाने के लिए किया था। वहीं तुमको लेना होगा। इस जन्म में वही तुमको भोगना होगा।[5]

उपरोक्त प्रकरण से यह स्पष्ट है कि भगवान वहीं देंगे, जिसकी तुमको चाह है इच्छा है। लेकिन गुरु वैसा नहीं करेंगे। वो वही देंगे जिसमें तुम्हारा कल्याण होगा। नहीं चाहने पर भी जो श्रेयस है, कल्याणप्रद है वहीं देंगे। इसलिए बहुत जगह गुरु को भगवान से ऊपर स्थान दिया गया है। कबीर ने कहा है :

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काको लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दियो बताय।।"

वैदिक समाज में आचार्य की महत्ता के साथ योग्यता का भी विशेष मानदण्ड स्थापित किया गया था। आपस्तंबधर्मसूत्र में उपनयन हेतु सर्वदा योग्य आचार्य का वरण आवश्यक बतलाया गया है।[6] आचार्य की जीवनशैली शिष्यों के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय थी, अतएव उनमें सद्–आचरणों का होना अवश्यम्भावी था। वास्तव में आचार्य शब्द की उत्पत्ति 'आचार' (आचरण) से ही हुई है। आचार्य शब्द को परिभाषित करते हुए निरूक्तकार कहते हैं कि–"वह आचार को ग्रहण करता है, शास्त्रों के अर्थों का संग्रह करता है अथवा बुद्धि का संग्रह करता है।[7] तद्युगीन विचारकों का मत था कि आचार्य को शांत स्वभाव का होने के साथ ही समदर्शी होना चाहिए। उन्हें शास्त्रों में पटु होना चाहिए। 'जीवनपर्यंत स्वाध्याय करने वाला होना चाहिए।'[8] उनके लिए प्रकांड पांडित्य का होना ही यथेष्ट नहीं, अपितु उन्हें वाक्चतुर, वक्ता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, तार्किक, रोचक कथाकार एवं कठिन–से–कठिन विषयों का तत्काल व्याख्या कर देने में प्रवीण होना चाहिए।[9] कालिदास के मतानुसार–"आचार्य को विद्वान ही नहीं अपितु पटु अध्यापक भी होना चाहिए। उनमें अत्युच्च योग्यता होनी चाहिए ताकि वह अपनी पवित्रता, चारित्रिक बल, पांडित्य एवं सदाचार जीवन शैली के द्वारा छात्रों के जीवन पर, जो उनके सान्निध्य में शिक्षा ग्रहण करते हों, ऐसा प्रभाव डाले, जिनकी छाप अमिट हो।"[10] जैनवाङ्गमय भगवती–आराधना में आचार्य की योग्यता के संदर्भ में कहता है कि–"जो पांच प्रकार के आचार का स्वयं निरतिचार पालन करता है एवं दूसरों तथा शिष्यों को पालन करने हेतु उपदेश देता है एवं प्रेरित करता है, वही आचार्य है।"[11] आचार्य भी बिना कुछ छिपाये अपना सारा ज्ञान शिष्य को प्रदान करते थे। कोई भी आचार्य यह सोच कर कि भविष्य में शिष्य अपने ज्ञान एवं विद्वत्ता से हतप्रभ कर उसकी वृत्ति पर आघात पहुँचा सकता है, कुछ भी उनसे नहीं छिपाता था। यदि वह अपना ज्ञान शिष्य से छिपाता, तो वह 'आचार्य' पद के अयोग्य समझा जाता था।[12] आचार्य भी सर्वदा नये ज्ञान की खोज में रत रहते थे एवं बीच–बीच में अपने से श्रेष्ठ आचार्य के पास ज्ञान प्राप्त करने में हिचकते नहीं, अपितु अपना सौभाग्य एवं उत्तरदायित्व समझते। गोपथब्राह्मण से ज्ञात होता है कि–"मौद्गल्य से पराजित होने पर मैत्रेय ने तत्काल अपनी पाठशाला बन्द कर दी एवं पूर्णज्ञान की प्राप्ति हेतु अपने प्रतिपक्षी आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया।"[13] इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेच्य काल में आचार्य अपने शिक्षण–प्रणाली में सुधार करके परिष्कृत ज्ञान शिष्य को प्रदान करने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहते थे एवं इस परिप्रेक्ष्य में यथासंभव प्रयास करते थे।

वैदिक काल के आरंभिक अवस्था में पिता ही आचार्य का उत्तरदायित्व निर्वाह करते थे। देवों, असुरों एवं मानवों की शिक्षा उनके पिता प्रजापति के आचार्यत्व में हुई थी।[14] श्वेतकेतु ने आरंभिक अध्ययन अपने पिता आरुणी के पास ही किया था।[15] भृगु ने अपने पिता वरुण से शिक्षा प्राप्त की थी।[16] किन्तु परवर्त्ती

काल में शिक्षा के प्रति आमजनों के अत्यधिक लगाव के कारण छात्रों की जिज्ञासा बढ़ती गई एवं वे अपनी ज्ञान–पिपासा मिटाने की खातिर अन्य आचार्य के पास जाने लगे। कालांतर में यह प्रथा सामान्य हो गई जिससे कि छात्र, परिवार एवं पिता से सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत किसी विशिष्ट आचार्य के पास ही शेष शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाने लगे। इस बदलते हुए परिवेश में आचार्य के कर्त्तव्य भी बढ़ते गए। शिष्य के उपनयन संस्कार संपादित करने का उत्तरदायित्व भी आचार्य की ही था। अथर्ववेद में आचार्यकरण प्रक्रिया का वर्णन मिलता है, जहाँ वर्णन है कि–"आचार्य उपनयन संस्कार के द्वारा ब्रह्मचारी को अपने विद्यागर्भ के भीतर प्रविष्ट करता है।"[17] एक अन्य सील पर कहा गया है कि आचार्य विद्या से शिष्य को उत्पन्न करता है।[18] इसी उदात्त मान्यता के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्मचारी को 'अन्तेवासी' भी कहा जाता था। जैसे माता के गर्भ में शिशु का पोषण होता है, ठीक उसी प्रकार अन्तेवासी अपने आचार्य के विद्यागर्भ में सभी प्रकार से आध्यात्मिक पोषण प्राप्त करता है। आचार्यगण अपने आश्रम में शिष्य के आगमन पर खुश होते थे।[19] शिष्यगण कपटशून्य हों, प्रामाणिक ज्ञान ग्रहण करनेवाले, इन्द्रिय दमन करने वाले हों एवं मन को वश में करने वाले हों, इसके निमित्त भी आचार्य यज्ञाहुति प्रदान करते थे।[20] आचार्य नित्यप्रति यह प्रयास करते थे कि उनके पास देश–देशांतर से शिष्यगण अध्ययनार्थ आएँ।[21]

किसी भी शैक्षणिक–परम्परा की मौलिक निधि उसमें अध्ययन करनेवाले होते हैं, क्योंकि कालांतर में उन्हीं के सम्यक् नियोजन से समाज एवं सामाजिक मूल्यों का परिवर्धन होता है। वैदिक समाज ने अध्येताओं के महत्ता को सर्वदा उच्च भाव से स्वीकार करते हुए उन्हें 'ब्रह्मचारी' शब्द से संबोधित किया।[22] ब्रह्मचारी का अर्थ है ज्ञान (ब्रह्म) के मार्ग पर चलने वाला अर्थात् ज्ञान–पिपासु। संपूर्ण वैदिक काल में अध्येताओं के लिए सर्वाधिक प्रचलित शब्द ब्रह्मचारी ही था। इसके अतिरिक्त शब्द भी प्रचलित थे, जिनमें से एक शब्द 'अन्तेवासी' था।[23] ब्रह्मचारी को 'आचार्यकुलवासी' भी कहा गया है।[24] उपरोक्त दृष्टांत से सहज ही ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारी अर्थात् शिष्य अध्ययनकाल में हमेशा आचार्य के आश्रम में रहते थे अर्थात् वे आचार्य के परिवार के सदस्य थे, जिससे वे आचार्य के संतान सदृश रहकर अध्ययन करते थे।

आचार्य से शिक्षा ग्रहण करनेवाले अन्तेवासी के अनेकानेक स्वतःस्फूर्त कर्त्तव्य भी थे। वे आचार्य के विद्यागर्भ से उत्पन्न होते अर्थात् विद्या प्राप्त करने के योग्य होते थे, जिस कारण आचार्य उनके माता–पिता के तुल्य थे।[25] तैतिरीयोपनिषद् में शिष्य के लिए आचार्य को देवस्वरूप व्यवहार करने का उपदेश दिया गया है।[26] शिष्य आचार्य के दैनिक एवं गृहकार्य में सहयोग करते थे। छात्रगण आश्रम के खर्च के निमित्त भिक्षाटन भी करते थे एवं पशुधन की वृद्धिकार्य के प्रति सदैव

तत्पर रहते थे। सत्यकाम–जाबाल ने चार सौ कृषगाय की तब तक सेवा की जब तक कि उसकी संख्या एक हजार नहीं हो गई।[27]

वैदिक काल में शिक्षा–प्रणाली का मूलाधर ब्रह्मचर्य–प्रणाली था। उस काल में सार्वजनिक शिक्षण की ऐसी प्रणाली संभवतः नहीं थी, जिनमें अध्येताओं की भर्त्ती व्यवस्था करते थे। अतः आचार्य एवं शिष्य का संबंध किसी संस्था के माध्यम से नहीं, बल्कि प्रत्यक्षतः उन्हीं दोनों के मध्य था। आचार्य एवं शिष्य परस्पर विद्या–सम्बन्ध से बंधे रहते थे। आचार्य सामान्यतः उन्हीं शिष्यों को विद्या–दान करते थे जो सर्वदा सत्यनिष्ठ, सदाचारी, उत्साही एवं उनके प्रति अनुरक्त रहते थे। इसी प्रकार शिष्य भी विद्याध्ययन के निमित्त प्रायः उन्हीं आचार्य के पास शरणागत होते थे, जिनकी विद्वत्ता की ख्याति सर्वत्र व्याप्त थी, भले ही इसके लिए उन्हें स्वगृह से दूर–देश ही क्यों न जाना पड़े। संपूर्ण अध्ययनकाल में वे आचार्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रहते थे एवं उनके अन्तेवासी हो जाते थे। इस स्थिति में शिष्य आचार्य के पारिवारिक सदस्य के रूप में संतान सदृश जीवन–यापन करते थे। अतः शिष्य की दैनिक–चर्या भी आचार्य के आश्रम के अनुकूल ही होती थी। आचार्य एवं शिष्य सर्वथा एक–दूसरे के कल्याण के प्रति सदैव तत्पर रहते थे, जिसकी पुष्टि अध्ययन के संदर्भ में शांतिपाठ से भी होती थी।[28] आचार्य एवं शिष्य का अंतर्संबंध पिता–पुत्र की भांति चलता रहता था। अनेक ब्राह्मण ग्रंथों में तथा उपनिषदों में भी आचार्य–शिष्य के वंश की जानकारी प्रात होती है।[29] आचार्य एवं शिष्य की इस आदर्श–परम्परा की छाप परवर्त्ती काल में भी व्याप्त रही। बुद्ध के शब्दों में 'आचार्य एवं शिष्य परस्पर सम्मान, विश्वास एवं एकत्रित जीवन के कारण अभिन्न हो गए थे।[30] यह परम्परा केवल ब्रह्मचर्यकाल तक ही नहीं चलती रहती थी अपितु समावर्त्तन पश्चात् भी विद्यमान रहती थी। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी बार–बार आचार्य के दर्शनार्थ जाना एवं सामर्थ्यानुकूल उपहार भेंट करना शिष्य का कर्त्तव्य था। वर्त्तमान समय में भी गुरु के पास शिष्य कुछ उपहार लेकर जाते हैं।

संदर्भ

1. अनंत सदाशिव अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ. 37 पादटिप्पणी यथाघटप्रतिच्छन्ना रत्नराजा महप्रभाः। अकिचित्करतां प्राप्तास्तद्वद्विधश्चतुर्द।
2. अथर्ववेद, 11/5/3 आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। एवं मनुस्मृति, 2/170
3. कठोपनिषद्, 11/9 नैषा मस्तिकर्णापनया प्रोक्तान्येव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
4. निरूक्त, 1/16 यथा जानपदीक विद्यातः पुरुषविशेषो भवति।
5. भागवत पुराण, भाग–3, बालक ध्रुव प्रसंग
6. आपस्तंबधर्मसूत्र, 1/1/1/11 तमसो वा एष तमः प्रविशति यम् अविद्वान्।
7. निरूक्त, 1/4 आचार्य आचारं ग्राह्यति। आचिनोत्यर्थान। आचिनोति बुद्धिमिति वा।

8. अनंत सदाशिव अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ. 2 पादटिप्पणी यावज्जीवमधीते विप्रः।
9. महाभारत, 5/33/33 प्रवृत्तवाक्चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभानवान्। आशु ग्रंथस्य वक्ता च यः स पंडित्य उच्यते।।
10. मालविकाग्निमित्र, प्रथमांक शिष्य क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रातिरन्यस्य विशेषरूपा। यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापायितव्य एव।।
11. भगवतीआराधना, सूत्र 419 आयरं पंचविहं चरिद जो णिरदिचारं उवदिसदि य अयरं एसो आयरणं णाम ।
12. आपस्तबधर्मसूत्र, 1/2/8/28 आचार्योप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहमारणः।
13. गोपाथब्राह्मण, 1/1/37
14. बृहदारण्यकोपनिषद्, 5/2/1
15. वही, 6/1 एवं छांदोग्योपनिषद्, 5/3
16. तैत्तिरीयोपनिषद, 3/1 भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपसार अधीहि भगवो ब्रह्भेति।
17. अथर्ववेद, 11/5/3 आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
18. आपस्तंबधर्मसूत्र, 1/1/1/16 स हि विद्यास्तं जनयति।
19. तैत्तिरीयपोनिषद्, 1/4 अमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।
20. वही विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचाणिः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचाणिः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिण, स्वाहा।
21. तैत्तिरीयपोनिषद्, 1/4 यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धतरायन्तु सर्वतः स्वाहा।
22. अथर्ववेद, 11/5
23. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/11 वेदमनूच्याचार्योन्तेवासिनमनुशास्ति।
24. छांदोग्योपनिषद्, 2/23/1 द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी।
25. अथर्ववेद, 11/5/3
26. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/11 आचार्यदेवो भव।
27. छांदोग्योपनिषद्, 4/4/5 तमुपनीय कृशानमवलानां चतुशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयान्नुवाच नासहस्रेवर्त्ते यति स ह वर्षगणे प्रोवास ता यदा सहस्रं संपेदः।
28. कठोपनिषद्, यह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य करवावरै। तेजस्विनावधीतमस्तु। म विद्विषाव हौ
29. शतपथब्राह्मण, 17/7/3/26–28, 10/6/5/9
30. महावग्ग, 1/25

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

गौतम बुद्ध के अनुसार वर्ण व्यवस्था की प्रासंगिकता

*डॉ. उषा किरण**

वर्ण व्यवस्था आज भी हिन्दू समाज की आधारशिला है। आधुनिक युग के लोकतांत्रिक मूल्यों, समानता, स्वतंत्रता से इसके टकराव आज भी जारी हैं। ऐसे में इस विषय का अध्ययन आज की सामाजिक परिस्थितियों में दिशा निर्देश का काम करेगा ।

साहित्यिक दृष्टिकोण से 'वर्ण' शब्द संस्कृत के 'वृञ वरणे' 'वृ' या 'वरी' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'वरण करना' या 'चुनना'। हो सकता है कि यह पेशे के चुनाव की ओर इशारा करता हो और इस रूप में वर्ण का अर्थ उस समूह से था जो एक विशेष प्रकार के पेशे को अपनाता था या समाज द्वारा निर्धारित कुछ विशेष कार्यों को करता था। वैदिक काल के लिये यह सम्भव न था कि वे शारीरिक लक्षणों को ठीक से माप सकें, इसलिये यह आशा नहीं की जा सकती कि वर्ण का अर्थ रंग या प्रजातीय भिन्नता हो। अतः वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की सामाजिक व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। यही कारण है कि इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित परम्परागत, रंग, कर्म, धर्म, गुण तथा जन्म आदि के भिन्न–भिन्न सिद्धांत प्रकाश में आए। सबसे प्राचीन दैवी या परम्परागत सिद्धांत ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित विवरण को स्वीकार करता हैः

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः .तः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।"[1]

मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानी गई। अतः उसके कार्य मुख से सम्बन्धित अर्थात् पठन पाठन, मंत्रोच्चारण तथा यज्ञादि माना गया। बाहू शक्ति का द्योतक है, अतः क्षत्रियों का मुख्य कार्य शक्ति के बल पर मानव जाति की रक्षा करना है।

* *सह प्राध्यापक, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, राँची वि.वि., राँची, झारखण्ड*

जांघ से उत्पन्न वैश्य का कार्य वाणिज्य माना गया। पैर का कार्य पूरे शरीर को गतिशील रखना है। अतः शूद्र का कार्य शेष तीनों वर्णों की सेवा करना माना गया। यह वर्ण विभाजन अंगों की उच्चता के अनुसार वर्णों की उच्चता को दर्शाता है। यह विभाजन सृष्टिकर्त्ता द्वारा माना गया था। सृष्टिकर्त्ता के सम्बन्ध में माना गया है–

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम।।"[2]

इस दैवी सिद्धांत को महाभारत स्मृति और पुराण ने स्वीकार किया। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की जड़ में गुणों की अभिव्यक्ति को भी विष्णुपुराण तथा मनुस्मृति आदि में स्वीकार किया गया है। मनु ने भी स्वीकार किया है कि गुण तीन हैं :

"सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत"।।[3]

गुण और कर्म दोनों के आधार पर भी वर्ण विभाजन किया गया ।

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम"।।[4]

जन्म के सिद्धांत से सहमति रखने वाले कुछ विद्वानों का कथन है कि वर्ण का आधार जन्म है, न कि कर्म। जो व्यक्ति जिस परिवार में जन्म लेता है, उसी के अनुसार उसके वर्ण का निर्धारण होता है। श्री वी. के चट्टोपाध्याय के अनुसार यदि किसी मनुष्य का वर्ण उसकी प्रवृत्ति या कर्म पर निर्भर होता तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय कहलाते क्योंकि उनका व्यवसाय युद्ध करना था। पर जन्म के कारण ही द्रोणाचार्य को ब्राह्मण कहा जाता है, न कि क्षत्रिय। अश्वत्थामा में ब्राह्मण के न तो कोई गुण थे और न कर्म ही। कर्म करते थे वे एक क्षत्रिय का और गुण में तो इतने क्रूर थे कि रात को पाण्डवों के शिविर में घुसकर सोए हुए द्रौपदी के बच्चों का उन्होंने वध कर डाला। फिर भी उन्हें ब्राह्मण ही कहा जाता है। युधिष्ठिर क्षत्रिय होते हुए भी सतोगुण के वास्तविक धारक थे। उनका स्वभाव ऐसा था कि चाहे कोई कितना ही अपराध करे, युधिष्ठिर उसे क्षमा करने को तैयार रहते थे। दूसरी ओर भीम छोटी–सी बात पर लड़ने को तैयार रहते थे। यदि गुणों को वर्ण का निर्णायक माना जाए तो दोनों का वर्ण अलग–अलग होना चाहिए। परन्तु वे दोनों ही क्षत्रिय थे क्योंकि क्षत्रिय कुल में उनका जन्म हुआ था। दूसरी बात यह है कि वर्ण–व्यवस्था एक सुनिश्चित व्यवस्था है, जब कि गुण तो किसी भी समय बदल सकता है!

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मत विरोध है वह इस प्रश्न को लेकर है कि वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म है या कर्म। यदि ध्यानपूर्वक उपरोक्त सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट है कि वर्ण–व्यवस्था जन्म और कर्म दोनों पर ही आधारित मानी गई।

आरम्भ में आर्य तथा अनार्यों में भेद करने के लिए तथा इन दोनों में पाए जाने वाले प्रजातीय व सांस्कृतिक अन्तरों के आधार पर सामाजिक दूरी को बनाए रखने के लिए वर्ण–व्यवस्था आर्यों के मस्तिष्क की एक उपज थी जिसका आधार जन्म व कर्म दोनों ही था। एक प्रजातीय समूह (आर्य या अनार्य) में जन्म लेने वाले लोगों को एक निश्चित श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया और उसी के अनुसार उनके कार्यों का भी विभाजन कर दिया गया। आर्य समूह में जन्म लेने वाले 'द्विज' कहलाए जबकि अनार्य समूह में जन्म लेने वाले लोग 'दास' या शूद्र नाम से परिचित हुए। पर इन दोनों समूहों में सम्पूर्ण पृथकता बनी न रह सकी और इनमें वैवाहिक सम्बन्ध कुछ–न–कुछ मात्रा में स्थापित हुए जिसके फलस्वरूप रक्त सम्मिश्रण हुआ, इससे द्विज की शुद्धता जाती रही और रक्त सम्मिश्रण की मात्रा के अनुसार यह द्विज वर्ण स्वयं एकाधिक समूहों में विभाजित हो गया और जन्म के आधार पर ही नहीं, अपितु व्यवस्था या कर्मों के आधार पर भी अपने को एक–दूसरे से पृथक मानने लगे। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म और कर्म दोनों ही माने गए।

डॉक्टर घुरिये का कथन है कि प्रारम्भ में केवल 'आर्य' और 'दास' ये दोनों वर्ण ही थे। आर्य लोग जहाँ भी पाये गये, वहाँ उन लोगों ने वहाँ के आदिवासियों को पराजित किया और उन्हें 'दास' तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों से सम्बोधित किया। इससे स्पष्ट है कि आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों को भी 'दास' कहकर पुकारा और अपने तथा उनके बीच अन्तर स्पष्ट करने के लिये 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया। साथ ही यह भी निश्चित है कि इस वर्ण–व्यवस्था या विभाजन का आधार पेशा या कर्म था न कि रंग या जन्म, क्योंकि उस काल में अन्य कारणों की अपेक्षा कर्म पर अधिक बल दिया जाता था जैसा कि पतंजलि के महाभाष्य तथा अन्य पौराणिक और धार्मिक ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। यदि इस प्रकार न होता तो विश्वामित्र, जो कि क्षत्रिय थे, ब्राह्मण न बन पाते। इस सम्बन्ध में ऐसे उदाहरण भी पाये जाते हैं जब शूद्र भी ब्राह्मण हो गये हैं।

उपर्युक्त मीमांसा से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था के निर्णायक कारण या आधार के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। परन्तु इन मतभेदों का विश्लेषण करके

हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि यह कहना अवैज्ञानिक है कि इस व्यवस्था का आधार मात्र कर्म और गुण था और जन्म से इसका कोई भी सम्बन्ध न था। यह हो सकता है कि कर्म या गुण प्रधान हो पर जन्म की पूर्णतया उपेक्षा की जाती थी, ऐसी बात नहीं है। जन्म से ही व्यक्ति को जो स्वाभाविक गुण प्राप्त होते हैं वह भी उस व्यक्ति के वर्ण के निर्धारण में महत्वपूर्ण थे, यह बात स्वीकार करनी ही होगी। गुण–कर्म व जन्म को व्यावहारिक स्तर पर लाकर सामाजिक संरचना के अन्तर्गत विभिन्न समूहों के कर्त्तव्य, कार्य और स्थिति को निर्धारित करने और तत्प्रदिष्ट सामाजिक व्यवस्था व संगठन को बनाये रखने के लिये ही वर्ण–व्यवस्था को विकसित किया गया था।

वर्ण व्यवस्था के विरोध में त्रिपिटकों में जो महत्वपूर्ण सुत्त है उनमें पहला वसिष्ठ सुत्त है। इस सुत्त में बुद्ध ने यह स्पष्ट किया है कि जाति भेद प्राकृतिक नहीं है। दूसरा अस्सलायण सुत्त में यह कहा गया है कि ब्राह्मण जो ब्रह्मा के मुख से प्रकट होने का दावा करते हैं, वह निराधार है। तीसरा, ऐसुकारि सुत्त में यह सिद्ध किया गया है कि ब्राह्मणों को कोई अधिकार नहीं है कि वे दूसरे वर्णों के कर्तव्य अथवा नैतिकता के मापदंड निर्धारित करें। चौथा मधुर सुत्त में यह स्पष्ट किया गया है कि नैतिकता और आर्थिक दृष्टि से जाति भेद की कल्पना करना विडम्बना मात्र है। जातक कथाओं में भी दर्शाया गया है कि जन्म से नहीं, गुण से कोई ऊँचा नीचा होता। 'उद्दालक' जातक में विचारोत्तेजक ढंग से जाति के प्रश्न पर विचार किया गया है, और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ब्राह्मणों का जन्म के आधार पर सर्वोच्चता का दावा व्यर्थ है। जाति तो केवल घमंड पैदा करती है, गुण और आचरण ही प्रधान है। अतः जाति तथा वर्णभेद, सभी व्यर्थ हैं। केवल आचरण एवं गुण सार्थक है। इसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे कुछ सन्दर्भ आये हैं जिनके द्वारा वर्णभेद सिद्धान्त की आलोचना की गई है।

कुछ पश्चिमी इतिहासकारों की यह धारणा है कि बुद्ध ने जाति प्रथा की निरर्थकता का दिग्दर्शन तो किया, किन्तु इसके उन्मूलन एवं नई व्यवस्था स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वे ऐसा मानते हैं कि बुद्ध के उपदेश केवल संघ के लिए थे और सामाजिक मूल्यों को बदलने में वे निष्क्रिय रहे। वे प्रव्रज्या एवं निर्वाण के सन्दर्भ में वर्णों की समानता पर जोर देते रहे। इन इतिहासकारों की इस धारणा का कारण यह होगा कि उन्होंने बुद्ध के बाद भी वर्णभेद के आधार पर भारतीय सामाजिक व्यवस्था को ज्यों का त्यों कायम देखा। किन्तु एक इसी कारण से ऐसा मानना गलत है। यदि अभी तक भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था का बोलबाला है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके

विरुद्ध में अब तक किसी ने व्यापक आन्दोलन ही नहीं छेड़ा। वास्तव में इस व्यवस्था के विरुद्ध बुद्ध ने ही एक व्यापक आन्दोलन छेड़ा था। दरअसल उनके आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य ही वर्ण व्यवस्था का विरोध करना था। वर्ण व्यवस्था के सामाजिक स्वरूप को देखते हुए इतना तो माना ही गया है कि जाति तोड़ने के सदर्भ में चलाये गये आन्दोलनों में निम्नलिखित आधारों पर कार्यक्रम लेना आवश्यक है–

1. वर्णाश्रम सिद्धान्त के शास्त्रीय आधार का खण्डन एवं उसके स्थान पर समतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन।
2. वर्णों के जो भिन्न नैतिक मापदंड कर्तव्य एवं अधिकार निर्धारित किये गये, उनको तोड़ना।
3. विवाह एवं खान–पान के निषेधों को तोड़ना एवं विभिन्न जातियों के सह भोजन तथा अन्तर्जातीय विवाह पर बल देना। शिक्षा के लिए सभी को समान अवसर देना।

वर्ण व्यवस्था को स्थायी एवं सुदृढ़ बनाने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका उपरोक्त आधारों ने निभायी है। इन आधारों पर कुछ एवं बाद की गतिविधियों को परखकर ही हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि वास्तव में बुद्ध के आन्दोलन का ध्येय जातिप्रथा को तोड़ना था या नहीं।

वर्णाश्रम सिद्धान्त का खण्डन : वर्णाश्रम सिद्धान्त के शास्त्रीय आधार का खण्डन बुद्ध ने कई अवसरों पर किया। पालि सुत्तों ने चतुवर्णो की शुद्धि के उपदेश के रूप में इन्हें प्रस्तुत किया है। बुद्ध ने स्पष्ट कहा कि वर्णों के विभाजन के आधार पर "अमुक वर्ण शुद्ध है एवं उच्च है तथा अमुक अशुद्ध है" मानना बुद्धिहीनता है। इसके पीछे ब्राह्मणों का वर्ण भेद सिद्धान्त तथ्यहीन है।

श्रावस्ती में नाना देशों से आये पाँच सौ ब्राह्मणों के सम्मेलन का उद्देश्य इस समस्या पर विचार करना था, "यह श्रमण गौतम चार वर्णो की शुद्धि का उपदेश देता है। कौन है जो इस विषय पर उसे परास्त कर सके?" इससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध उस समय तक इस विषय के आलोचक एवं विरोधी के रूप में सर्वविदित हो चुके थे। उनके इस अभियान का प्रभाव भी जनमानस पर पड़ रहा था जिसके कारण ब्राह्मण वर्ग चिन्तित हो उठा था। अतः अब उन लोगों के लिए यह आवश्यक था कि विशाल जनसभा में उन्हें इस विषय पर तर्क द्वारा पराजित किया जाये।

इस सम्मेलन में तीनो वेदों में पारंगत, इतिहास शास्त्रों में निपुण तरुण विद्यार्थी अस्सलायण को इसके लिए नियुक्त किया । अस्सलायण ने मान्य ब्राह्मण

ग्रन्थों के वर्णाश्रम सिद्धान्त के आधार पर ही सर्वप्रथम ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयास किया। "ब्राह्मण ही शुद्ध (श्रेष्ठ) हैं चूंकि ब्राह्मण ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न ब्राह्मण, ब्रह्मनिर्मित ब्रह्मा के दायद हैं।"

"लेकिन अस्सलायण ब्राह्मण की ब्राह्मणियों ऋतिमति गर्भिणी जनन करती पिलाती देखी जाती हैं । योनि से उत्पन्न होते हुए भी वे ऐसा कहते हैं, ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख उत्पन्न श्रेष्ठ वर्ण हैं!" युद्ध के प्रतिप्रश्न में वर्ण सिद्धान्त के अतार्किक आधार की ओर इशारा था और साथ ही एक तीखा व्यंग्य भी छिपा था। दरअसल, गौतम बुद्ध के खण्डन में अलौकिकता की उपेक्षा और उपहास था। उन्होने बगैर तात्विकता एवं अलौकिकता के बहस में पड़े सीधे यथार्थ की ओर इशारा किया। अस्सलायण से उनका दूसरा प्रश्न भी ऐसा ही था. "तुमने सुना है कि यवन कम्बोज में और दूसरे सीमान्त देशों में दो ही वर्ण होते हैं – आर्य और दास, आर्य दास हो सकता और दास आर्य।" अर्थात् गुण एवं आचरण से कोई भी आर्य (श्रेष्ठ) हो सकता है।

ब्राह्मणों के इस दावे का खण्डन भी कि वे ही ईश्वर से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं, उनके द्वारा जलायी यज्ञ की अग्नि शुद्ध और अलौकिक हो सकती है, बुद्ध ने वैसे ही आश्चर्यजनक अंदाज से किया। "यह किस आधार पर माना जा सकता है कि श्रेष्ठ वर्ण द्वारा उत्पन्न अग्नि ही शुद्ध प्रभास्वर अर्चिमान होगी एवं चंडाल निषाद कुल द्वारा उत्पन्न अग्नि अर्चिमान न होगी। क्या उस आग से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकेगा? अगर ऐसी कोई बात नहीं है तो ब्राह्मणों में क्या खास बल है जो अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं?" गौतम बुद्ध ने इस मान्यता का भी खण्डन किया कि ब्राह्मणों द्वारा निर्मित मंत्र द्वारा किसी पर बुरा या भला प्रभाव हो सकता है। अन्त में ब्राह्मणों को चेतावनी देते हुए उन्होंने इस सम्मेलन में कहा, यदि ब्राह्मण इस पाप दृष्टि (गलत धारणा) को नहीं छोड़ेंगे तो उनका प्रभाव नष्ट हो जाएगा।[5]

अतः बुद्ध के ये विचार तत्कालीन व्यवस्था और परिवेश में विस्फोटक थे। जिन मान्यताओं एवं सिद्धान्तों पर शंका करने का किसी ने साहस भी नहीं किया था, बुद्ध आम सभा में न केवल उसका खण्डन कर रहे थे, बल्कि उनके विरोध में समतावादी सिद्धान्त का प्रचार भी कर रहे थे। बुद्ध के इन विचारों का प्रभाव बुद्धिजीवी ब्राह्मणों पर भी पड़ा जिनमें सोणदंड ब्राह्मण की चर्चा सुत्तपिटक में आती है। सोणदंड को भी ब्राह्मणों ने बुद्ध से वर्णाश्रम सिद्धान्त पर तर्क–वितर्क के लिए उत्साहित किया किन्तु बुद्ध के साथ कुछ देर चर्चा के बाद वह उनसे इस विषय पर पूर्ण सहमत हो गया कि वर्ण, मंत्र, जाति के स्थान पर शील, गुण,

आचरण और शिक्षा को महत्व दिया जाना चाहिए। कोई भी व्यक्ति केवल इसलिए सत्पुरूष नहीं माना जा सकता है कि तथाकथित उच्चकुल में जन्मा है, बल्कि इस मान्यता का पालन ही हीनता है कि कोई अपनी जाति का अभिमान करके अन्य को नीचा समझे।[6]

बुद्ध के उपरोक्त खण्डन से ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता पर आघात होना स्वाभाविक था। बहुधा इसका अर्थ यह लिया जाता है कि वह केवल ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का विरोध कर रहे थे। इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले इस तथ्य को याद रखना होगा कि वर्णभेद सिद्धान्त का आधार स्तम्भ ही है ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता। इस तथ्य के खण्डन के साथ ही वर्णव्यवस्था का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही धराशायी हो जाता है। इसके अतिरिक्त बुद्ध के खण्डन के यथार्थवादी आधार को देखते हुए यह स्पष्ट है कि वे वर्णाश्रम सिद्धान्त से पूर्णतः असहमत थे। उसमें कोई सुधार या परिवर्तन नहीं, बल्कि उसे पूर्णतः अस्वीकार करने की अपील कर रहे थे। अतः इस व्यवस्था के व्यवस्थाकारों से उनका विरोध तो स्वाभाविक ही था।

वर्ण व्यवस्था हिंदू धर्म का केंद्र है। आज भी भारतीय समाज का व्यापक हिस्सा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से इससे निर्दिष्ट हो रहा है । इस व्यवस्था का विरोध करके गौतम बुद्ध ने एक प्रगतिशील वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले भारत की बुनियाद रखने का प्रयास किया।

परंतु विभिन्न कारणों से उनकी यह क्रांति हमारे देश में पूरी तरह सफल नहीं हो सकी। आज भी हमारे समाज में अंतरवर्णीय विवाह सहर्ष स्वीकार्य नहीं है। आज भी भारतीय हिंदू समाज जन्म से लेकर मृत्यु तक ब्राह्मणवादी व्यवस्था का किसी–न–किसी रूप में गुलाम है। वर्ण व्यवस्था के कई दुष्परिणाम सामने दिखाई देते हैं। अतः विकासशील भारत से विकसित भारत बनने के लिए गौतम बुद्ध के वर्ण व्यवस्था विरोधी विचारों पर तब तक विचार करते रहने की आवश्यकता है जब तक हम व्यक्ति को वर्णों में बाँटकर नहीं देखें, बल्कि सिर्फ व्यक्ति के रूप में उसका विचार कर सकें।

संदर्भ

1. ऋग्वेद 10/90/12
2. ऋग्वेद 10/90/1
3. मनुस्मृति 12/26
4. श्रीमद्भगवद्गीता 4/13
5. अस्सलायण सुत्त, मज्झिम निकाय, पृष्ठ–389
6. सोणदण्ड सुत्त बुद्धचर्या, पृष्ठ–22

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

प्रयोजनवाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन

*डॉ. अजय कुमार सिंह**

प्रेग्मेटिज्म (प्रयोजनवाद) शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'प्रेग्मा' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है क्रिया अथवा किया गया कार्य। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार यह शब्द ग्रीक भाषा के 'प्रेग्मेटिकोज' शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ है – व्यावहारिकता अथवा उपयोगिता। प्रयोजनवाद – के शाब्दिक अर्थ को समझने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि इस विचारधारा के अन्तर्गत क्रियाशीलता तथा व्यावहारिकता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रयोजनवादियों का अटल विश्वास है कि पहले क्रिया अथवा प्रयोग किया जाता है, फिर इसके फल के अनुसार विचारों अथवा सिद्धान्तों का निर्माण होता है। इसीलिये प्रयोजनवाद को प्रयोगवाद भी कहा जाता है, क्योंकि प्रयोजनवादी केवल प्रयोग को ही सत्य की एकमात्र कसौटी मानते हैं। प्रयोजनवाद अनुसार सत्य, वास्तविकता, अच्छाई तथा बुराई सब सापेक्ष शब्द हैं। ये पूर्व निश्चित नहीं अपितु इन सबको मानव अपने प्रयोग तथा अनुभवों के द्वारा सिद्ध करता है। प्रयोजनवादियों का यह भी विश्वास है कि जो विचार अथवा सिद्धान्त कल सत्य था, यह आवश्यक नहीं कि वह आज भी सत्य ही हो। ऐसी स्थिति में कोई भी निश्चित अथवा प्रचलित सिद्धान्त समस्त संसार को प्रगति के पथ से नहीं रोक सकता। प्रयोजनवाद को फलवाद इसलिये कहा जाता है क्योंकि इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक क्रिया का मूल्यांकन उसके परिणाम अथवा फल के अनुसार निश्चित किया जाता है। यदि क्रिया फलदायक है तो वह सत्य है, अन्यथा असत्य है। इस दृष्टि से कोई भी सत्य स्थायी न होकर सदैव परिवर्तन की अवस्था में है। अतः प्रयोजनवाद का दावा है कि सत्य सदैव देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। जो विचार, आदर्श तथा मूल्य किसी अमुक देश, काल तथा परिस्थिति में

** सह प्राध्यापक, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची*

व्यावहारिक तथा फलदायक सिद्ध हो सकते हैं, यह आवश्यक नहीं है कि उनका फल प्रत्येक देश, काल तथा परिस्थिति में भी वैसा ही सिद्ध हो।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोजनवाद का सम्बन्ध मानव तथा उसके जीवन से अधिक है इसलिए प्रयोजनवाद को एक मानवतावादी विचारधारा की संज्ञा भी दी जा सकती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जहाँ एक ओर प्रकृतिवादी प्रकृति केन्द्रित है तथा आदर्शवाद मन–केन्द्रित है वहाँ दूसरी ओर मानव – केन्द्रित है, जिसके अनुसार मानव का निजी अनुभव ही वास्तविकता का केन्द्र बिन्दु है।[1] प्रयोजनवाद के प्रवर्तक सी. एस. पीयर्स, विलियम जेम्स, शिलर तथा जॉन डीवी प्रमुख हैं।

प्रयोजनवाद का विकास : प्रयोजनवाद पर लिखने वालों का मत है, इस विचारधारा सबसे पहले सोफिस्ट दार्शनिकों ने बताया–"मानव सब बातों का मापदण्ड है। यही नहीं, की झलक हमें सुकरात तथा ह्यूम की प्रयोजनवादी विधियों तथा बेकन की विचारधारा में भी दिखाई पड़ती है। लॉक का भी मत है कि हमें अपना मस्तिष्क उन क्रियाओं के करने में लगाना चाहिये, जो हमारे लिए लाभप्रद हों।" अतः उसने बताया कि "हमें सब बातों का ज्ञान प्राप्त करना इतना आवश्यक नहीं है, जितना कि अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों का।" बर्कले तथा ह्यूम ने भी सत्य के निर्माण में प्रयोजनवाद का ही सहारा लिया था।

आधुनिक युग में प्रयोजनवाद का प्रयोग सबसे पहले एक अमरीकी दार्शनिक सी० एस० पीयर्स ने किया। पीयर्स ने बताया कि– हमारे विश्वास ही क्रिया के वास्तविक नियम हैं। वस्तुतः प्रयोजनवाद के लिए यही एक बिन्दु महत्त्वपूर्ण है। पीयर्स ने अपने प्रारम्भ के दिनों में प्रत्ययों या विचारों के अर्थ को निश्चित करने के लिए एक कसौटी बनाई थी। अपनी इसी कसौटी को उसने प्रयोजनवाद का नाम दिया। पीयर्स के मित्र एवं साथी विलियम जेम्स ने पर्स के इसी विचार पर नये ढंग से कार्य कर अपने व्यवहारवाद की स्थापना की।[2]

सी० एस० पीयर्स कांट के इस विचार से प्रभावित है कि तर्क का कार्य से और विचार का अनुभव से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वह कहता है, किसी भी प्रत्यय का अर्थ निश्चित करने के लिए इसका वस्तुओं के जगत् में प्रयोग करो और इसका जो भी परिणाम निकले, वही उस प्रत्यय के अर्थ का निर्माण करेगा। प्रयोजनवाद का भी मूलमंत्र है– विचार कार्यरूप में सफल होते हैं तो वे सत्य हैं।

सी० एस० पीयर्स का मत है कि, विचार हमेशा किसी–न–किसी सन्दर्भ में उत्पन्न होते हैं और साथ ही बिना अनुभव एवं प्रयोग के इनकी सत्यता की जाँच भी नहीं हो सकती। अतः कोई भी विचार एवं उसका अर्थ व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होता है। यदि हम सार्वजनिक दृष्टिकोण से किसी विचार की सत्यता का पता नहीं लगा सकते तो वह विचार पर्स की दृष्टि में अर्थहीन विचार है।

सी० एस० पीयर्स के पश्चात् अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम जेम्स ने इसको लोकप्रिय बनाया। विलियम जेम्स की प्रयोजनवाद पद्धति उसके द्वारा निरूपित सत्य के स्वरूप से प्रभावित है। जेम्स सत्य को जीवन और कार्य से जोड़ता है। वह कहता है कि सत्य ऐसे चीज नहीं है जिसे हम बाह्य संसार में खोजते फिरें। सत्य प्रत्यय या विचार की कोई स्थिर सम्पत्ति नहीं। सत्य घटनाओं के द्वारा व्यवहार में प्रगट होता है। मनुष्य स्वयं सत्य की रचना करता है। जेम्स ने अपनी पुस्तक प्रेग्मेटिज्म में एक स्थान पर लिखा है 'अनुभव के साथ सत्य भी उसी प्रकार निर्मित होते हैं, जिस प्रकार स्वास्थ्य, समृद्धि और शक्ति निर्मित होते हैं" इसीलिए जेम्स कोई निरपेक्ष या शाश्वत सत्य होने की बात नहीं स्वीकार करता है। जेम्स सत्य का सम्बन्ध हमारे अनुभव से जोड़ता है। वह कहता है, सत्य हमारे मानवीय प्रयत्नों और हमारे शेष अनुभवों के बीच सम्बन्ध मात्र है। सत्य की उत्पत्ति मनुष्य के उद्देश्य और संसार के बीच समंजन के प्रयत्न से होती है। सत्य की एक ही कसौटी है, उपयोगिता अर्थात् सत्य वही है जो मानव–जीवन की हर परिस्थिति में उपयोगी हो। वह कहता है कि हमें यह देखना चाहिए कि यदि किसी विचार अथवा विश्वास को सत्य मान लिया जाये तो उसके सत्य होने से किसी के मूर्त्त जीवन में क्या अन्तर पड़ता है। दर्शनशास्त्र के इतिहास में सत्य का यह नवीन सिद्धान्त है। अभी तक सत्य का अर्थ यथार्थता से लिया जाता था जिसकी खोज अध्यात्मवादी, भौतिकवादी, यथार्थवादी, बुद्धिवादी, अनुभववादी आदि सभी अपने–अपने ढंग से करते थे। कोई सत्य को अपने मन से बाहर ढूँढ़ता था, और कोई उसे मन में ही उसे खोजता था। विलियम जेम्स इन्हें व्यर्थ की खोज कहता है और सत्य को क्रियाशीलता अर्थात् प्रयोजनवाद से जोड़ता है।[3]

सत्य के सम्बन्ध में जेम्स की एक और धारणा यह है कि सत्य स्थिर न होकर परिवर्तनशील है। केवल व्यावहारिक जीवन के विचार ही नहीं बदलते रहते, वरन् विज्ञान के सत्य भी परिवर्तित होते रहते हैं। उदाहरण के लिए परमाणु पहले अविभाज्य माना जाता था। किन्तु अब उसका विभाजन कर लिया गया है। अतः अब वह विभाज्य माना जाता है। इस प्रकार समय, परिस्थिति और स्थान के अनुसार सत्य बदलता रहता है। किसी एक सिद्धान्त या विचार को हमेशा के लिए सत्य मान बैठना रूढिवादिता का दीन है।

अन्त में जॉन डीवी के बल से अमरीका में तथा डॉ० शिलर के प्रभाव से इंग्लैण्ड में प्रयोजनवाद का महत्त्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया। दर्शन को डीवी की मुख्य देन उपकरणवाद के नाम से प्रसिद्ध है। डीवी ने यह सिद्धान्त अनेक वर्षों और अनेक लेखों की रचना के बाद सन् 1938 में Logic : The Theory of Enquiry में प्रस्तुत किया इसमें डीवी के ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र तथा

मनोविज्ञान सम्बन्धी विचार शामिल हैं।[4] डीवी के इस ग्रन्थ में पर्स तथा विलियम जेम्स का प्रभाव भी दिखाई देता है। अपने ज्ञानमीमांसीय विचार में डीवी बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों की आलोचना करता है। उसके अनुसार इन दोनों की सबसे बड़ी गलती यह है कि वे मनुष्यों को मात्र दर्शक मान बैठते हैं, जो या तो मन के प्रत्ययों को बाह्य संसार में देखते हैं (बुद्धिवाद) या बाह्य संसार की वस्तुओं को केवल अपनी इन्द्रियों की सहायता से एवं अनुभव के द्वारा ही जानते हैं (अनुभववाद)। इन दोनों से अलग डीवी मनुष्य को दृष्टि के साथ– साथ कर्त्ता भी मानता है और कहता है, चिंतन करने में मनुष्य कोई खोज नहीं करता–मनुष्य कोई खोज कर भी नहीं सकता, क्योंकि सत्य न तो बुद्धि में स्थित है और न बाह्य किसी वस्तु में स्थित हैं; सत्य का तो निर्माण होता है और यह निर्माण अपनी परिस्थिति तथा पर्यावरण का परीक्षण करते हुए हमारी बुद्धि करती है। इस प्रकार, डीवी ज्ञान को एक उपकरण मानता है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी समस्याओं को सुलझाता है और अपने को अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता है। डीवी की यह व्याख्या प्राणिशास्त्रीय व्याख्या कही जाती है। डीवी मनुष्य को दर्शकमात्र बनाने वाले दर्शन की निन्दा करता है। उसके अनुसार चिन्तन और क्रिया साथ–साथ चलते रहना चाहिए। जो चिन्तन समस्याओं से अलग होकर चलता है, वह व्यर्थ है। सही चिन्तन का उदय ही समस्याओं के बीच होता है। डीवी इन समस्याओं को सुलझाने में ज्ञान को उपकरण मानता है।

प्रयोजनवाद के प्रकार

(1) मानवतावादी प्रयोजनवाद – मानवतावादी अथवा मानवीय के अनुसार वही वस्तु अथवा सिद्धान्त सत्य है, जो मानव की इच्छाओं, आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा उद्देश्यों की पूर्ति करता हो एवं जिससे उसका कल्याण होता हो। दूसरे शब्दों में, केवल वही बात सत्य है, जो मानव प्रकृति को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करती हो। मानवतावादी प्रयोजनवादियों का विश्वास है कि, "जो बात मेरे उद्देश्य को पूरा करती है, मेरी इच्छाओं को सन्तुष्ट करती है, तथा मेरे जीवन का विकास करती है वही सत्य है।"[5]

(2) प्रयोगात्मक प्रयोजनवाद – प्रयोगात्मक के अनुसार सत्य वही वस्तु अथवा सिद्धान्त है, जिसको प्रयोग द्वारा सत्य सिद्ध किया जा सके। अतः इस वाद के अनुसार विज्ञान की प्रयोगशाला–" जिस बात को प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, वही 'सत्य है अथवा जो बात ठीक कार्य करती है, वही सत्य है"।[6]

(3) जीवशास्त्रीय प्रयोजनवाद – जीवशास्त्रीय के अनुसार मानव की उस शक्ति को महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, जिसकी सहायता से वह अपने आपको

वातावरण के अनुसार बनाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर वातावरण को भी अपने अनुकूल बना लेता है। इस वाद का प्रतिनिधित्व अमरीका के प्रसिद्ध दार्शनिक जॉन डीवी ने किया। डीवी का मत हैं–" प्रयोजनवाद की जाँच मानव को अपने वातावरण से अनुकूल करने की विचार प्रक्रिया से की जाती है।"[7]

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रयोजनवाद विचार को किसी कठिन अथवा समस्यात्मक स्थिति से अनुकूल करने का साधन मानता है। अतः इसको साधनवाद की संज्ञा भी दी जाती है। जॉन डीवी ने इस वाद को शिकागो विश्वविद्यालय में प्रतिपादित किया। अतः इसे शिकागो सम्प्रदाय भी कहा जाता है।

प्रयोजनवाद के सिद्धान्त

प्रयोजनवादी पूर्व निर्धारित सत्यों में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार सत्य सदैव देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। उनका विश्वास है कि जो वस्तु किसी अमुक स्थान पर किसी व्यक्ति के लिए सत्य है, वह दूसरे स्थान पर अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के लिए सत्य होना आवश्यक नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि के अनुसार सत्य सदैव परिवर्तनशील होता है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए विलियम जेम्स ने लिखा है– "सत्यता किसी विचार का स्थायी गुण–धर्म नहीं है। वह तो अकस्मात् विचार में निर्वासित होता है।"

प्रयोजनवाद के अनुसार सत्य निश्चित नहीं होता। प्रयोजनवादियों के अनुसार सत्य एक सापेक्ष शब्द है, जो व्यक्ति के विकास तथा उसके जीवन में आने वाली परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। इसका कारण यह है कि परिस्थितियों में परिवर्तन होने से व्यक्ति के सामने नई–नई समस्यायें उत्पन्न होती रहती हैं, जिनको सुलझाने के लिए उसके मस्तिष्क में नये–नये विचार आने लगते हैं। इन नवीन विचारों में केवल वही विचार सत्य हैं, जिनका प्रयोग करने पर उसे सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त होता है। अतः प्रयोजनवादियों का अटल विश्वास है कि सत्य का निर्माण उसके फल अथवा परिणाम से होता है। दूसरे शब्दों में, के अनुसार सत्य निश्चित नहीं होता। इस विचारधारा के अनुसार वह वस्तु जिसकी सहायता से हमारे जीवन के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति होती हो तथा जिससे हमारे जीवन को विकसित होने में सहायता मिलती हो, हमारे लिए सत्य है।

प्रयोजनवाद के अनुसार जीवन एक प्रयोगशाला है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में आने वाली नाना प्रकार की समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग करता है। प्रयोग की सफलता ही सत्य की खोज है। इस प्रकार समस्यायें ही सत्य की प्रेरक शक्ति हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा वह नवीन मूल्यों की रचना करता रहता है। इस

शक्ति के अतिरिक्त संसार में और कोई निश्चित माध्यम नहीं है, जिसके द्वारा ईश्वरीय शक्ति का संचार होता है। यही कारण है कि के अनुयायी ईश्वर को आदर्शवादियों की भाँति विशिष्ट न मानकर निश्चित स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा अमर है तथा धर्म का भी मानव के जीवन में विशेष महत्त्व है, किन्तु इन बातों के महत्त्व को वे उसी समय तक स्वीकार करने का तैयार हैं जब तक इनकी व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन में आवश्यकता हो तथा ये उसके जीवन को विकसित करने में सहयोग प्रदान करें, अन्यथा प्रयोगवाद आध्यात्मिक तत्त्वों की उपेक्षा करता है।

प्रयोजनवादियों का विश्वास है कि संसार में कोई भी वस्तु अपरिवर्तनशील तथा अन्तिम नहीं है। प्रत्येक वस्तु आगे बढ़ती है, परिवर्तित होती है तथा विकसित होती है। दूसरे शब्दों में, संसार परिवर्तनशील है तथा संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तन की अवस्था में है। मानव के जीवन में भी परिवर्तन हो रहे हैं। उसे अपने जीवन में अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जिन्हें सुलझाने के लिए उसे नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस जीवन संग्राम में मानव के अनुभव तथा विचार ही उसे उन समस्याओं के सुलझाने में सहयोग प्रदान करते हैं। अतः वास्तविक संसार अनुभव का संसार है।

संदर्भ

1. शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, एन. आर. सस्वरूप सक्सेना, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2021, पृ. 241
2. शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, एन. आर सस्वरूप सक्सेना, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2021, पृ. 242
3. पाश्चात्य दर्शन के सम्प्रदाय, डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनरसीदास, न्यू दिल्ली, 2019, पृ. 156
4. पाश्चात्य दर्शन के सम्प्रदाय, डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनरसीदास, न्यू दिल्ली, 2019, पृ. 160
5. "Whatever fulfils my purpose, satisfies my desire, develops my life, is true." - Humanist.
6. "Whatever can be experimentally verified is true, or works is true" - Experimentalists.
7. "By this type of pragmatism test is found in the function of thought in adapting the human organism to its environment." -John Dewey.

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

देरिदा की विसंरचना और भारत की वर्त्तमान परिस्थितियाँ

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया *

इस पेपर में 'डिकन्सट्रक्शन' के लिए 'विसंरचना' अनुवाद किया गया है। देरिदा ने इस शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से 'विखंडन' और इस विखंडन के पश्चात् एक अंतहीन नवीन अर्थों की संरचना के लिए किया है। प्रत्येक नवीन अर्थ के सृजन के लिए पूर्वगृहीत अर्थ का स्थगन/विखंडन आवश्यक हो जाता है अतः यहाँ इन पदों 'विखंडन' और 'रचना' के मध्य कोई बाइनरी[1] नहीं है। कहा जा सकता है की जहाँ विखंडन है : स्थगन है, वहीं किसी नवीन अर्थ की रचना भी है। इस प्रकार विसंरचना में 'विरचना' और 'रचना' साथ–साथ हैं।

प्रत्येक मूल कथ्य/लेखन में भेद[2] और स्थगन[3] की पठन प्रक्रिया के चलते अनंत पाठों की संभावना है। अगर हम भारतीय दर्शन और देरिदा विषय पर हुए अब तक के शोध–कार्य का सिंहावलोकन करें तो हमें ज्ञात हो जाता है कि देरिदा के विसंरचनावाद की नागार्जुन, शंकर, भर्तहरि, व्याकरण–दर्शन आदि से तुलना करते अनेक शोध अध्ययन हमें प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन यदि हमें देरिदा और भारतीय दर्शन के कुछ संप्रत्ययों के मध्य यदि कोई पद्धतिपरक समानता प्राप्त हो भी जाये तो भी तो हमें इनमें इस मूलभूत भिन्नता को नहीं भूलना चाहिए कि नागार्जुन और शंकर के लिए 'सत्' की अवधारणा केवल टेक्स्ट तक सीमित नहीं है और देरिदा के लिए टेक्स्ट के बाहर कुछ भी नहीं है। या तो हमें देरिदा और भारतीय दर्शन की पद्धतियों की तुलना करते हुए कुछ शोध कार्य प्राप्त होते हैं अथवा ऐसे शोध प्राप्त होते हैं जो देरिदा की विसंरचना को पश्चात् संस्कृति और सभ्यता में एक सर्वग्रासी निषेध की तरह देखते हैं क्योंकि देरिदा की विसंरचना

** असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र, वसंत महिला महाविद्यालय, (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विशेषाधिकार के अंतर्गत) राजघाट, वाराणसी–221001*

को उस 'लोगस' का विखंडन माना जाता है जिस पर पूरा पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति आश्रित मानीं जाती है। इस पेपर का उद्देश्य इस नवीन प्रकार के विश्लेषण को समझना है और साथ–साथ यह पता लगाना कि यदि इस विसंरचना को हम भारतीय रिक्थ के सन्दर्भ में देखें/समझें तो इसका क्या सैद्धांतिक रूप बन सकता है और भारत की वर्त्तमान की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में इसका क्या व्यावहारिक प्रभाव हो सकता है?

पश्चिम में एक नवीन दर्शन : विसंरचनावाद के साथ अपनी वैश्विक उपस्थिति दर्ज कराने वाले दार्शनिक जाक देरिदा (1930–2008) का जन्म फ्रांस के तत्कालीन उपनिवेश अल्जीरिया के एक छोटे से कस्बे में 1930 में एक यहूदी परिवार में हुआ था। इस देश में मुस्लिम बाहुल्य था और यहूदी अल्पसंख्यक थे। वहां की बहुसंख्यक आबादी के द्वारा अपमान और उत्पीड़न से बचाने के लिए 1870 में तत्कालीन फ्रेंच सरकार ने उन्हें 'क्रायमों–राज्यादेश'[4] के तहत फ्रांस की नागरिकता प्रदान करदी थी। लेकिन 1942 में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यहूदी विरोधी और नात्सियों से शत्रु–सहयोग करने वाली मार्शल पेतिन की फ्रेंच सरकार ने यह राज्यादेश देकर कर अल्जीरियाई समुदाय को फ्रेंच नागरिकता से वंचित कर दिया। उस समय देरिदा महज 12 वर्ष के थे और अल्जीरिया के एक सरकारी स्कूल में पढ़ रहे थे जहाँ से उन्हें बिना कोई कारण बताये निष्काषित कर दिया गया। 1943 में यद्यपि क्रायमों–राज्यादेश पुनः बहाल कर दिया गया लेकिन इस घटना के दंश ने उन्हें प्राकृतिक नागरिकता और प्रदान की गयी नागरिकता का अंतर समझा दिया था। एक ओर उनकी नागरिकता किसी के अनुग्रह का परिणाम है तो दूसरी ओर उनकी मातृभाषा फ्रेंच भी उनके कोलोनियल होने के कारण थी। इन बातों के चलते उनमें 'बाहरी' होने का बोध गहराता रहा और इसका उनके दर्शन पर प्रभाव पड़ा।

इस पेपर में 'डिकन्सट्रक्शन' के लिए 'विसंरचना' अनुवाद किया गया है। देरिदा ने इस शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से 'विखंडन' और इस विखंडन के पश्चात् एक अंतहीन नवीन अर्थों की संरचना के लिए किया है। प्रत्येक नवीन अर्थ के सृजन के लिए पूर्वगृहीत अर्थ का स्थगन/विखंडन आवश्यक हो जाता है अतः यहाँ इन पदों 'विखंडन' और 'रचना' के मध्य कोई बाइनरी[5] नहीं है। कहा जा सकता है की जहाँ विखंडन है : स्थगन है, वहीं किसी नवीन अर्थ की रचना भी है। इस प्रकार विसंरचना में 'विरचना' और 'रचना' साथ–साथ हैं।

देरिदा की इस रचना और विरचना युक्त विसंरचना में हम भाषाविज्ञान की रास्ते प्रविष्ट हो सकते हैं। भाषाविज्ञान में संरचनावाद को लाने का श्रेय फर्दिनां दे सोश्यो[6] (1857–1913) को है। सोश्यो से पहले पश्चिमी भाषाविज्ञान में भाषाओं का अध्ययन केवल ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से ही होता था।

सोश्यो का संरचनावाद भाषा को एक प्रकार का संकेत[7] विज्ञान मानता है। इसलिए जिसे हम शब्द कहते हैं, उसे वे एक संकेत कहते हैं जिसके दो पक्ष होते हैं – ध्वनि और अवधारणा। ध्वनि पक्ष को उन्होंने संकेतक[8] और अवधारणा पक्ष को संकेतित[9] कहा। भाषा का अपना एक अमूर्त स्वायत्य ढांचा होता है जिसे किसी समाज ने सदियों में तैयार किया होता है। क्योंकि उस समाज में रहने वाले व्यक्ति इस ढांचे/संरचना में भाषा–व्यवहार करते समय इस संरचना से जुड़े होते हैं अतः किसी सदस्य के द्वारा कोई शब्द/संकेत बोले जाने पर समाज को दूसरा सदस्य उसका अर्थ समझ जाता है। किसी संकेत/शब्द/ध्वनि के अर्थ को समझने का तात्पर्य है उस शब्द से सम्बंधित अवधारणा को समझ लेना। जैसे हिंदी भाषा में वृक्ष शब्द से उत्पन्न ध्वनि का सम्बन्ध वृक्ष की अवधारणा से है अतः यह शब्द बोले जाने पर इस भाषा को जानने वाला व्यक्ति इस शब्द से सम्बंधित अवधारणा को जान लेता है।

इस उपर्युक्त उदाहरण में इस साधारण सी प्रतीत होने वाली भाषा–प्रक्रिया में अनेक सूझ भरे जटिल मामले सन्निहित हैं। लेकिन मैं यहाँ केवल कुछ बातों पर ध्यान देना चाहूंगा जो हमारे आगे के देरिदा के विश्लेषण में काम आएंगे। पहली बात तो यह कि इस अर्थोत्पत्ति की प्रक्रिया में संकेतक और संकेतित का सम्बन्ध अनिवार्य, सहज अथवा प्राकृतिक नहीं है जैसा कि साधारणतया समझा जाता है। इसके विपरीत इनका सम्बन्ध मनमाना अथवा यादृक्छिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'वृक्ष' (संकेत) एवं वृक्ष की अवधारणा (संकेतित) के मध्य कोई अनिवार्य/प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है। सोश्यो अपनी इस निष्पत्ति के सन्दर्भ में यह तर्क उपस्थित करते हैं कि वृक्ष की अवधारणा प्राप्त करने के लिए अलग–अलग भाषाओं में अलग–अलग शब्द होते हैं। सोश्यो की सर्वाधिक क्रांतिकारी निष्पत्ति यही है कि भाषा विभेदों का तंत्र है, जिसमें कोई सकारात्मक तत्त्व नहीं है। तार्किक रूप से भाषा वस्तुओं से पहले है और उसका कार्य वस्तुओं के नामकरण के बजाय विभेद के संबंधों के माध्यम से उसकी अवधारणा स्थापित करना है।[10] सोश्यो के पहले साधारणतया यह माना जा रहा था कि 'वृक्ष' नाम का इसके अर्थ के साथ कोई सकारात्मक, वस्तुगत सम्बन्ध है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भाषा का यह संरचनात्मक तंत्र समकालिक होता है और जिसके केंद्र में बोले जाने वाला शब्द है। इसी आधार पर सोश्यो लेखन[11] पर वक्तृता[12] को वरीयता देता है। बाद में देरिदा अपने पूरक पाठ में इस महत्व क्रम को पटल देता है और लेखन को वक्तृता पर वरीयता प्रदान करता है।

लकाँ[13] ने फ्रायड के अचेतन–सिद्धांत के बारे में कहा है कि मनुष्य के बारे में यह इतनी बड़ी अंतर्दृष्टि थी कि स्वयं फ्रायड इसके पूरे निहितार्थ को स्वीकार न कर पाया और उसने स्वयं ही इस विचार को सीमित कर दिया। इसी प्रकार

सोश्यो का यह ज्ञात कर लेना कि भाषा केवल विभेदों/विरोधों पर ही आश्रित है, यह कोई साधारण खोज नहीं थी। लेकिन भाषा में किसी सकारात्मक वस्तु का न होना इतनी विस्मयकारी बात थी कि वह शीघ्र ही अपनी इस अंतर्दृष्टि पर आवरण डालने का प्रयास करने लगा।[14] उसके सामने समस्या यह थी कि यदि भाषा में अर्थोत्पत्ति विभेदों/विरोधों पर आश्रित है तो फिर यह भाषा सकारात्मक रूप से सक्रिय कैसे हो जाती है। सोश्यो ने समाधान यह निकाला कि यद्यपि संकेतक और संकेतित कागज के दो पृष्ठों के सामान अलग–अलग अस्तित्व रखते हैं लेकिन भाषा में, अर्थोत्पत्ति की प्रक्रिया में मिल कर एक संकेत के रूप में, इकाई की तरह काम करते हैं। इस प्रकार उसने संकेतक और संकेतित की विभेदक बातों को जोड़ कर उनमे अद्वितीयत्व उत्पन्न कर दिया और अपने मूल अन्वीक्षा के अनेक निहितार्थों पर नियंत्रित कर लिया। सोश्यो ने भाषा के विभेद को वश में करने कि लिए एकत्व का जो टांका लगाया था देरिदा ने बाद में अपने तर्क के बल पर उसे पुनः विखंडित कर दिया।

किसी भी नवीन प्रकार के चिंतन को समझना आसान काम नहीं होता है क्योंकि भाषा की स्वायत्त संरचना हमें हमेशा किसी संरचना के भीतर सीमाओं में सोचने के लिए विवश करती है। हमें आदत होती है किसी संरचना के अंतर्गत किसी शब्द को अर्थ प्रदान करने की, अतः किसी नई बात को समझने के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है प्रमुख शब्दों के अर्थों पर नए सन्दर्भों से पुनः विमर्श करना। विसंरचनावाद को समझने के लिए प्रथम महत्वपूर्ण शब्द है– दिफरांस[15]। देरिदा के लिए इस शब्द के अपने पारिभाषिक अर्थ हैं। क्रिया के रूप में न ही यह शब्द न ही सकर्मक है और न ही अकर्मक, बल्कि इसका एक संयुक्त अर्थ है। क्रिया के रूप में 'दिफेरर'[16] शब्द का अर्थ है : देश/स्थानिक भेद और 'देफर'[17] शब्द का अर्थ है : समय की अनुपस्थिति/उपस्थिति का स्थगन। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ फ्रेंच में सामान्यतः उपयोग होने वाले 'दिफेरर' (भेद) अथवा 'देफर' (स्थगन) नहीं हैं। देरिदा में यह शब्द दोनों अर्थों के मध्य क्रीड़ा करता है।[18] यद्यपि देरिदा यह शब्द सोश्यो के भाषा–दर्शन से ग्रहण करता है तथापि वह इसे अपनी विसंरचना के सन्दर्भ में इसके अर्थ का रूपांतरण करता है।

हम पुनः सोश्यो की तरफ लौटते हैं। हम विसंरचना को संरचनावाद के भेदध स्थगन से समझने की कोशिश करते हैं। जैसा कि पेपर के भाग–1 में हम यह समझ चुके हैं कि यद्यपि सोश्यो ने भी यह समझ लिया था कि अर्थोत्पत्ति का आधार भेद है : एक अक्षर का दूसरे अक्षर से भेद और एक संकेत का दूसरे संकेत से भेद। यह भेद ही अर्थोत्पत्ति का मूल है। लेकिन उसने अपनी इस अंतर्दृष्टि को अधिक महत्व नहीं दिया और उसने संकेत में संकेतक और संकेतित को एक

इकाई की तरह देखा और इस प्रकार वह संरचनावाद का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक बना। उसने अपनी इस इकाई में दिफरांस को पाट दिया और इन इकाईयों से सम/सकारात्मक अर्थोत्पत्ति के सिद्धांत को जन्म दिया जिसे हम संरचनावाद कहते हैं। अब हम आगे यह समझने की कोशिश करते हैं कि यह संरचना क्या है और देरिदा कैसे इस संरचना का विखंडन करके विसंरचना की नींव रखते हैं।

हम यहाँ संरचना और संरचना के विखंडन को देरिदा के एक निबंध– ''मानव विज्ञानों के विमर्श में संरचना, संकेत एवं क्रीड़ा''[19] के अवधारणात्मक दर्पण में समझने की कोशिश करते हैं। दरसल, 1966 में एक अमेरिकी विश्वविद्यालय ने देरिदा को संरचनावाद पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। योरोप में और विशेष रूप से फ्रांस में उस समय तक संरचनावाद की धूम मची हुई थी। लेकिन अटलांटिक के उस पार का बैद्धिक समाज उस समय तक संरचनावाद से लगभग अपरिचित था। देरिदा को बुलाने का उद्देश्य अमेरिकी बौद्धिक समाज को संरचनवाद से परिचित कराना था। इस उद्देश्य से विपरीत, इस व्याख्यान से देरिदा संरचनावाद के अवसान की घोषणा कर देते हैं।[20] अपने इस व्याख्यान में देरिदा पहले संरचनावाद को मानव इतिहास की एक बढ़ी घटना बताते हैं। ठीक यह बताने के बाद वे कहते हैं की यह 'संरचना' शब्द लेटिन शब्द 'इपिस्टेमे' की तरह : पश्चिमी विज्ञान और दर्शन की तरह पुराना भी है। एक बढ़ी घटना इसलिए क्योंकि सोश्यो के संरचना सिद्धांत ने पश्चिम को पहली बार यह बात बताई कि भाषाई अर्थोत्पत्ति में एक संरचना विद्यमान होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम भाषा के अध्ययन के द्वारा मनुष्य के सभी पहलुओं यथा राजनीति, समाज, संस्कृति आदि का अध्ययन कर सकते हैं। पुरानी इस अर्थ में कि यह संरचना भी पश्चिम के धर्मशास्त्र, तत्वमीमांसा और अतत्वमीमांसा की तरह लोगोसेंट्रिक है और पराभौतिक उपस्थिति युक्त है।

दरअसल, यदि भाषा का अर्थोत्पत्ति का सिद्धांत भेदाश्रित है तो भाषा को तो खंडन का, अनुपस्थिति का प्रतिभू होना चाहिए था। लेकिन सोश्यो ने संकेतक और संकेतित के मध्य टूटन को अनदेखा करके उसे एक संकेत के रूप में सकारात्मकता का प्रतिभू बनाकर स्वयं को लोगो–सेंट्रिज्म की परंपरा से जोड़ लिया। न्यू–टेस्टामेण्ट में लिखा है कि–''प्रारम्भ में केवल शब्द था, और शब्द ईश्वर के साथ था, और शब्द ईश्वर था।''[21]

इस्लामी परंपरा में भी इस उदाहरण का तुलनीय उदहारण 'कुन–फयकूनु' प्राप्त होता है, जिसका तात्पर्य होता है कि खुदा ने कहा 'हो जा' और वह 'हो

गया' अर्थात इस ब्राह्मांड की उत्पत्ति खुदा के शब्द से हुई।[22] देरिदा ने अपनी किताब ऑफ ग्रामेटोलॉजी में इस शब्द केन्द्रत्व के अनेक उदहारण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से में रब्बाई का एक प्रचलित उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ :

''यदि सम्पूर्ण समुद्र स्याही होता, और तालाबों के सभी सरकंडे कलम होते, यदि यह धरती और आकाश कागज होते और यदि सभी मनुष्य लिख रहे होतेकृ तो भी वह मिल कर उस 'तोराः' (दैवीय प्रकाशित शब्द) के बारे में न लिख पाते ... ।''[23]

देरिदा ने इसी जगह पश्चमी धर्मशास्त्र और तत्वमीमांसा से इस तरह के शब्द केंद्रण के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, इसी को देरिदा लोगो–सेंट्रिज्म कहता है, और सोश्यो का ध्वनि केंद्रित[24] भाषा दर्शन भी अन्ततोगत्त्वा यही शब्द–केन्द्रित्व अथवा लोगो–सेंट्रिज्म ही है। लोगो–सेंट्रिज्म से उसका तात्पर्य किसी पराभौतिक, रहस्यमयी, मनुष्य की सीमा के परे एक 'उपस्थिति' से है। और यह 'उपस्थिति' भाषा में अर्थोत्पत्ति के सिद्धांत के माध्यम से प्रविष्ट हो जाती है। यह पारलौकिक 'उपस्थिति' जो हमारा वास्तविक इहलौकिक जीवन है उसे बलपूर्वक, हिंसापूर्वक निरस्त कर देती है। यह 'उपस्थिति' ही शब्दार्थ को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करती है और यह दिशायुक्त संरचना शब्दार्थों को सीमित भी करती है। देरिदा के दर्शन में प्रमुख समस्या यही है कि क्या हम भाषा का ही प्रयोग भाषा के विरुद्ध करके इस 'उपस्थिति' को छिन्न–भिन्न कर सकते हैं?

देरिदा की दृष्टि में सोश्यो के फोनो–सेंट्रिज्म में पुरातन लोगो–सेंट्रिज्म की संरचना विद्यमान है। इस संरचना के बारे में देरिदा अपनी किताब 'राइटिंग और डिफरेंस' में बताता है कि प्रत्येक संरचना का कोई न कोई केंद्र अवश्य होता है और इस केंद्र की अवधारणा व्याघाती है। देरिदा के शब्दों में :

''मैं चाहता हूँ कि मैं संरचना को रेखांकित करूं और परिभाषित करूं, संरचना–अथवा कहें कि एक संरचना की संरचनात्मकता–यद्यपि यह हमेशा क्रियाशील होती है, हमेशा ही या तो उदासीन अथवा न्यूनीकृत कर दी जाती है, और जिसका कारण होता है केंद्र को प्रदान करने की प्रक्रिया अथवा उपस्थिति के पक्ष से इसकी चर्चा करना, एक स्थाई उद्भव से। इस केंद्र का कार्य संरचना को दिशा प्रदान करना, उसे संतुलन या व्यवस्था बनाये रखने तक सीमित न होकर– कोई एक अव्यवस्थित संरचना की कल्पना नहीं कर सकता–इन सबसे बढ़ कर यह सुनिश्चित करना भी होता है कि यह केंद्र इस संरचना की क्रीड़ा को सीमित भी करेगा। एक व्यवस्था की संगति और दिशा निर्देशन की क्रिया के द्वारा एक संरचना का केंद्र किसी आकार (फॉर्म) के अंतर्गत ही क्रीड़ा की अनुमति देता है।''[25]

देरिदा द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त संरचना की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि संरचना की अवधारणा आत्म–विरोध युक्त है। इसका केंद्र न केवल संरचना को संगति और दिशा प्रदान करता है बल्कि यह संरचना की क्रीड़ा को सीमित भी कर देता है। एक संरचना में अनेक उपसंरचनाएँ हो सकती हैं और इन संरचनाओं के क्रम को हम परिवर्तित नहीं कर सकते हैं क्योंकि क्रम केंद्र के द्वारा निर्धारित होता है। केंद्र चूंकि किसी संरचना के साकल्य का केंद्र होता है, और यह इस साकल्य का एक अंश नहीं हो सकता है, इसीलिए परंपरागत दर्शन इस केंद्र के बारे में विरोधाभासी बात कहता है कि यह केंद्र संरचना के अंदर होकर भी इसके बाहर होता है। "केंद्र संरचना के अंदर है",[26] "केंद्र संरचना के अंदर नहीं हैं"–इन प्रतिज्ञप्तियों में स्पष्ट विरोध है। यहाँ देरिदा यह दिखाने में सफल हो जाता है कि संरचना की अवधारणा व्याघाती है क्योंकि संरचना का एक केंद्र अवश्य होता है और यह केंद्र एक अर्थ में संरचना के अंदर होता है क्योंकि यही संरचना को दिशा प्रदान करता है, साथ ही साथ यह केंद्र एक अर्थ में संरचना के बाहर भी है क्यों कि यह केंद्र स्वयं संरचना में हिस्सा नहीं ले सकता क्योंकि तब यह केंद्र नहीं रह जाएगा।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि देरिदा को इस संरचना से, उपस्थिति से अथवा केंद्र से क्या आपत्ति है वह इनका विखंडन क्यों करना चाहता है? दरसल, देरिदा इस विखंडन के द्वारा पाश्चात्य दर्शन, संस्कृति, धर्म आदि की पराभौतिकता (मेटाफिजिक्स) का विखंडन करना चाहता है और इहलौकिक, वास्तविक न्याय की अवधारणा को प्राप्त करना चाहता है। वे पराभौतिक उपस्थिति से पराभूत मनुष्यता को मुक्त करना चाहते हैं। और मनुष्य को परतंत्र बनाने वाला औजार भाषा की संरचना है और वे इसी औजार का नवीन प्रकार से उपयोग करके उसे मुक्त करना चाह रहे हैं। देरिदा कि किताब 'डेसिमिनेशन' कि अनुवादक बारबरा जॉनसन अपनी अनुवादकीय भूमिका में लिखतीं हैं कि :

''पाश्चात्य विचार कि संरचना, देरिदा कहता है कि, हमेशा से ही दो विरुद्ध पक्षों अथवा ध्रुवों में विभक्त है : शुभ के विरुद्ध अशुभ, सत के विरुद्ध असत, उपस्थिति के विरुद्ध अनुपस्थिति, सत्य के विरुद्ध त्रुटि, तादाम्य के विरुद्ध भेदकता, मन के विरुद्ध जड़ता, पुरुष के विरुद्ध स्त्री, आत्मा के विरुद्ध शरीर, जीवन के विरुद्ध मृत्यु, प्रकृति के विरुद्ध संस्कृति, वक्तृता के विरुद्ध लेखन (इत्यादि)। यहां विरुद्ध पक्ष एक दूसरे से सामान और स्वतंत्र सत्ताधारी नहीं है। प्रत्येक जोड़े में द्वितीय पक्ष प्रथम का नकारात्मक, विकृत, अकाम्य रूप है..... दूसरे शब्दों में, यहां दो पद अर्थ की दृष्टि से एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं, बल्कि ये यहां उच्च–निम्न–क्रम में श्रेणीबद्ध हैं, जिनमें प्रथम पद काल और गुण दोनों दृष्टि से प्रधान है।''[27]

सम्पूर्ण पाश्चात्य विचार को देरिदा किसी न किसी रूप में उपरोक्त विरुद्धों की संरचना में बद्ध देखता है। फिर चाहे वह पाश्चात्य धर्मशास्त्र हों, पाश्चात्य अध्यात्मवादी अथवा भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा हो, फिर चाहे वह पाश्चात्य तत्वमीमांसा का खंडन ही क्यों न हो, सब किसी न किसी मात्रा में संरचनाबद्ध हैं। देरिदा पर अनेक सतही लेखन विसंरचना को संरचना का विखंडन भर मान लेते हैं और उसके दर्शन को नकारात्मक, संदेहवादी और सापेक्षतावादी आदि निंदा–सूचक नामों से बुलाते हैं। दरसल, विखंडन विसंरचना का मात्रा प्राथमिक कदम है, जिसका वास्तविक उद्देश्य हमेशा किसी लौकिक वास्तविक उद्देश्य के लिए नवीन अर्थों के द्वार खोल देना है। इसलिए देरिदा का पाठक यह देख कर चकित होता है कि वे एक तरफ तो प्लेटो, एरिस्टोटल, हाइडेगर, हुसर्ल आदि के दर्शनों में दृष्ट संरचनाओं का विखंडन करते हैं तो दूसरी और अपने नवीन पाठों/विश्लेषणों के द्वारा इनके लेखन से अनेक नवीन चिंतामणि भी बाहर लाते हैं। देरिदा 2 अक्टूबर 1994 में विलानोवा विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में नवीन डॉक्टरल कोर्स खुलने के उपलक्ष्य में आयोजित एक वार्ता में भाग लेते हैं। जहाँ वे बताते हैं की अगले दिन उनकी नयी किताब 'पॉलिटिक्स ऑफ फ्रेंडशिप' आने वाली है। देरिदा आगे बताते हैं कि उनका ये नवीन कार्य मुख्य रूप से प्लेटो और एरिस्टोटल पर है, आगे वे जोड़ते हैं कि ''मैं सोचता हूँ कि हमें उन्हें बारम्बार पढ़ना चाहिए और मैं मानता हूँ कि मैं चाहे जितना भी उम्र दराज हो जाऊं मैं स्वयं को उनके पाठ की दहलीज पर ही पाता हूँ। मैं उन्हें प्रेम करता हूँ उनके पाठ का प्रारम्भ बारम्बार करना चाहता हूँ।''[28] इसीलिए देरिदा प्लेटो, अरस्तु, कांट, हेगेल और मार्क्स आदि के बारम्बार पठन की अनुशंसा करता है। अपनी किताब 'मार्क्स के प्रेत' में वे पॉल वेलरी की इस बात का समर्थन देते नजर आ रहे हैं कि ''यह खोपड़ी कांट की है जिसने हेगेल को जन्म दिया, हीगेल ने मार्क्स को और मार्क्स ने....।[29] इस कथन में निहित है कि हम विसंरचना में रिक्थ को, परंपरा को अनदेखा नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार विसंरचना एक नवीन प्रकार का विश्लेषण है, जिसका लक्ष्य उस दबे, कुचले गए अर्थ को बाहर लाना है जिसे पराभौतिक उपस्थिति ने परंपरागत चिंतन में कभी बाहर नहीं आने दिया। और क्योंकि यह कार्य भाषा के नवीन प्रयोग के द्वारा होना है इसलिए यहाँ वक्तृता और लेखन की डायकोटॉमी हमारे लिए यहाँ महत्वपूर्ण बन जाती है। अपने लेख 'सिग्नेचर इवेंट कांटेक्स्ट' में देरिदा ने लेखन की तीन विशेषताएं बताईं हैं :

(1) लिखित संकेत पाठक की अनुपस्थिति में लिखा जा सकता है और लेखक की अनुपस्थिति में पढ़ा जा सकता है। श्रोता की विशिष्ट परिस्थिति वक्तृता को सीमित कर सकती है अथवा वक्ता की उपस्थिति श्रोता को विशेष दिशा में ले जा सकती है। लेकिन लेखन में दोनों की अनुपस्थिति होती है।

(2) लिखित संकेत अपने मूल सन्दर्भ के परिसीमन को तोड़ सकता है और अनेक भिन्न–भिन्न सन्दर्भों में पढ़ा जा सकता है, जैसा कि हम लोग उद्धरणों में करते हैं।

(3) हम ऐसा इसलिए कर पाते हैं क्यों कि लिखित संकेत वास्तव में अंतराल (स्पेस) का वशवर्ती है। अर्थात लिखित शब्द अनुपस्थिति पर ही लिखा जाता है। स्पेस अनुपस्थिति ही है। और फिर लिखित संकेतक की अपनी अवधारणा से तो भेद और दूरी है ही।[30]

यहाँ देरिदा का प्रमुख तर्क यही है कि यदि भाषा में अर्थोत्पत्ति का आश्रय भेद अथवा अनुपस्थिति है तो यह अनुपस्थिति वक्तृता की अपेक्षा लेखन में अधिक है। आगे के विश्लेषण में एक दूसरे कोण से भी देखा जा सकता है कि यदि लेखन को उसके मूल सन्दर्भ से अलग करके भी दोहराया जा सकता है तो यह तो प्रमाणिकता से शून्य भी हो सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विसंरचना में यह वरेण्य नहीं की लेखक को पूरी तरह से अनुपस्थित कर दिया जाये। अंततः हम अपने विश्लेषण में तर्क करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं की वास्तव में वक्तृता लेखन का ही एक प्रकार है और यहाँ पहुंचते ही लेखन और वक्तृता की विरुद्धता (डायकोटॉमी) समाप्त हो जाती है।

देरिदा अपनी इस विसंरचना पद्धति को दोहरी पढ़त (डबल रीडिंग) भी कहता है। पहली पढ़त में वह उन अर्थों से बहस करता है जो अभिप्राय सामान्यतः उस पाठ के लिए जाते हैं। दूसरी पढ़त में वह भेदध्स्थगन (डिफरेंस) करके अर्थ का प्रसार (डिसिमिनेशन) करता है। लेकिन यह सब भाषा के माध्यम से ही होता है अतः जब अर्थ का एकत्व लुप्त हो जाता है तो अर्थगत अनिश्चयात्मकता भी पूर्णरूपेण सामने आ जाती है। जितने अधिक अर्थ उतनी ही अधिक अनिश्चितता। कोई पाठ कभी अंतिम नहीं हो सकता, प्रत्येक पाठ में विस्थापित हुए जाने की संभावना बनी रहेगी। यह तो एक अनिश्चय और संदेह की स्थिति होगी। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि विसंरचना हमें अनिश्चितता की ओर ले जाती है। दर्शन का उद्देश्य निश्चित ज्ञान प्राप्त करना होता है और यह विसंरचना का दर्शन हमें अनेक पाठों की, अनेक अर्थों की अनिश्चितता की ओर ले जाता है। यही वह बिंदु है जिस पर देरिदा की आलोचना सबसे अधिक की जाती है।

देरिदा की विसंरचना, जो वास्तव में एक विशेष प्रकार का दार्शनिक विश्लेषण[31] है, इसकी अनेक खूबियां है। पहली विशेषता है कि यह भाषा–विश्लेषण पर आधारित है और मानता है कि वास्तव में किसी शब्द (सिग्नीफायर) और उस शब्द से जुड़ी अवधारणाध्अर्थ (सिग्नीफाइड) के मध्य विभेद की खाई विद्यमान है अतः अर्थोत्पत्ति भेद पर अथवा अनुपस्थिति पर आश्रित है। दूसरी विशेषता है कि देरिदा 'उपस्थिति' की भ्रान्ति पर आधारित लोगो–सेंट्रिज्म की आलोचना

करते हैं और सोश्यो के फोनो–सेंट्रिज्म को लोगो–सेंट्रिज्म का ही रूप मानते हैं। वे मानते हैं कि प्रत्येक पराभौतिक उपस्थिति पर आधारित दर्शन की एक संरचना होती है और वे इस संरचना में निहित विरोधाभास को दिखा कर विसंरचना की स्थापना करते हैं। देरिदा दुनियां का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि लोगो–सेंट्रिज्म में व्यक्ति हमेशा शुभ के विरुद्ध अशुभ, सत के विरुद्ध असत, उपस्थिति के विरुद्ध अनुपस्थिति, सत्य के विरुद्ध त्रुटि.....आदि कि डायकोटॉमी में सोचता था। इस डायकोटॉमी में प्रथम पद के अर्थ को उसके विरुद्ध के द्वारा दबा दिया जाता था और विसंरचना का एक उद्देश्य इस डायकोटॉमी से बाहर आकर दबे–कुचले अर्थ को बाहर लाना है। देरिदा मानता है कि भाषा में अर्थ की उत्पत्ति विभेद/अनुपस्थिति के आधार पर होती है अतः किसी किताब के अनेक पाठ हो सकते हैं। इसीलिए देरिदा किताबों को बारम्बार विसंरचनात्मक रूप से पढ़ने की अनुशंसा करता है। इसी स्थिति में ही एक पाठक स्वयं को अनेक पाठों की अनिश्चितता के मध्य पाता है। दरअसल, यह अनिश्चितता देरिदा की विसंरचना के मूल में ही विद्यमान है, यदि शब्दों और उनसे जुड़ी अवधारणाओं के मध्य दरारधविभेद विद्यमान है और और अर्थों की उत्पत्ति किसी उपस्थिति पर आश्रित न होकर किसी अनुपस्थिति पर आश्रित है तो किसी भी पाठ से कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

देरिदा के विसंरचना की यही सबसे बड़ी चुनौती है कि उसके आलोचक कहते हैं कि यह एक प्रकार का संदेहवाद है। इस चुनौती के प्रतिउत्तर में देरिदा की ओर से कहा जा सकता है कि वास्तव में यह न ही यह लोगो–सेंट्रिज्म का निश्चिततावाद है और न ही यह कोई संदेहवाद है। यह संदेहवाद इसलिए नहीं है क्योंकि यह संरचनावाद को पूरी तरह से निरस्त नहीं करता है केवल संरचावाद के उस भाग को निरस्त करता है जो पराभौतिक उपस्थिति से परिपूर्ण है। और यह संरचनावादी निश्चिततावाद भी नहीं है क्योंकि देरिदा इस संरचना में निहित विरोधाभास को अपनी विसंरचना में दर्शाता है। फिर हमें विटगेंस्टीन के इस कथन को भी नहीं भूलना चाहिए कि ''यदि आप प्रत्येक वस्तु पर संदेह करने का प्रयास करते हैं तो आप किसी भी वस्तु पर संदेह नहीं कर पाएंगे। संदेह की क्रीड़ा स्वयं ही निश्चितता को पूर्वापेक्षित करती है।''[32] देरिदा का संदेह ''मैं नहीं जानता'' (अनुपस्थिति/भेद) जानने की/नवीन दृष्टियों की आशा से भरा हुआ है और यही प्रत्याशा ही नवीन पाठों की भूमि का आधार है। जब आप देरिदा का कोई भी भी पाठ पढ़ते हैं तो संदिग्ध नहीं होते हैं बल्कि आप इस विस्मय का अनुभव करते हैं कि ''अरे! प्लेटो, अरस्तु, हाइडेगर या मार्क्स को इस प्रकार भी पढ़ा जा सकता है।''

देरिदा का जो भी कोई गंभीर पाठक होगा वह यह अवश्य महसूस करेगा की यह भाषा–दर्शन असीम संभावनाओं से युक्त है। हमारे राज्य की, हमारे समाज की, ऐसी कोई समस्या नहीं है जिस पर विसंरचना पद्धति से नवीन ढंग से विचार न किया जा सके। जब मैंने देरिदा को पढ़ना शुरू किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि जो कार्य जे. कृष्णमूर्ति अल्टीमेट फ्रीडम के बारे में कर रहे है ठीक वही काम देरिदा बाह्य जगत की समस्याओं के बारे में कर रहा है। जिस प्रकार सीमित अंतर्दृष्टि वाला विज्ञान मनुष्य को पूरी तरह से उत्परिवर्तित करके उसे दुःख के पार नहीं ले जा सकता है लेकिन वैज्ञानिक अंतर्दृष्टियों से मनुष्य की गरीबी को दूर किया जा सकता है, उसे अनेक अन्धविश्वाशों के परे ले जाया जा सकता है। उसी प्रकार देरिदा की अंतर्दृष्टियों/उसकी विसंरचना से मनुष्य की लगभग बाह्य जीवन की सभी समस्याओं का हल ढूंढ़ा जा सकता है।

हमें भारत में देरिदा को पढ़ते हुए, स्वयं से दो मूलभूत प्रश्न पूछने चाहिए। प्रथम यह कि हमें देरिदा को क्यों पढ़ना चाहिए? दूसरा प्रश्न कि देरिदा के भारतीय पाठ का क्या तात्पर्य हो सकता है? प्रथम प्रश्न कि हमें देरिदा को क्यों पढ़ना चाहिए? इसमें यह उप–प्रश्न छुपा हुआ है कि हमें पढ़ना क्यों चाहिए? इस प्रश्न में यह प्रश्न भी छुपा हुआ है कि हमें दर्शन क्यों पढ़ना चाहिए? क्योंकि आज पूरी तरह से न सही लेकिन सतही तौर पर भारतीय मानस को यह बात समझ आ गयी है कि हमें भौतिकी, रसायन, कम्प्यूटर, भैषिकी विज्ञान आदि क्यों पढ़ना चाहिए। लेकिन दर्शन क्यों पढ़ना चाहिए? सारे जड़/प्राकृतिक विज्ञान हमारे बाह्य जीवन को संवारने के लिए आवश्यक हैं। लेकिन भारतीय दर्शन को तो यहां मोक्ष–शास्त्र के रूप में परिभाषित किया जाता है और मोक्ष का तात्पर्य है कि जन्म और मृत्यु के बंधनों से परे की मानसिक अवस्था को प्राप्त करनाय जोकि शब्दातीत है। एक शब्दातीत अवस्था को प्राप्त करने के लिए शब्दों को पढ़ना एक स्पष्ट विरोधाभास है।

इस प्रश्न में एक और उप–प्रश्न निहित है कि हमें भारत में देरिदा को पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है? वैसे तो पढ़ने की क्रिया पर पूरी दुनियां में खतरा मंडराया हुआ है लेकिन भारत पर विशेष रूप से यह खतरा है। देरिदा जिस पराभौतिक 'उपस्थिति' की, जिस संरचना की बात करा रहा है जो पठन क्रिया को सीमित बनाती है और मनुष्य की वास्तविक समस्याओं से ध्यान भटका देती हैय यह पराभौतिक 'उपस्थिति' भारतीय दर्शन और संस्कृति में अधिक गहराई तक जड़ें जमाये बैठी है। इसी से जुड़ा एक प्रश्न और महत्वपूर्ण है कि हमारे पास तो नागार्जुन, शंकर, न्याय और व्याकरण जैसे समृद्ध दर्शन हैं फिर हमें अपने भारतीय पाठ के लिए बाहर से/देरिदा से प्रेरणा प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है?

उपरोक्त प्रश्न के दो संभावित उत्तर दिए जा सकते हैं। प्रथम कि यहाँ नागार्जुन, शंकर और जे. कृष्णमूर्ति आदि ने यह कहा है कि उनका किसी से विरोध नहीं है। ये दर्शन का सागर के सामान इतना बड़ा परिपेक्ष्य लेकर चलते हैं कि इसमें अनेक नदियां समां सकतीं हैं। सागर का नदियों से विरोध नहीं होता है। इस प्रकार एक भारतीय के लिए सैद्धांतिक रूप से कुछ भी अन्य–देशीय नहीं है। व्यवहार में हिन्दू और बौद्ध इस प्रतिज्ञप्ति का निहितार्थ कभी नहीं समझ पाए नहीं तो भारत में हिन्दू और बौद्धों के बीच कभी भौतिक संघर्ष न होता, वैचारिक संघर्ष तो बौद्धिक विकास के लिए जरूरी है। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत की डायकोटॉमी में यहाँ हमेशा व्यवहार में 'जगत' शब्द के अर्थ को दबाया गया है, यह दुहराते हुए भी कि उनका किसी से विरोध नहीं है। दरसल, परम सत्य के नाम पर भारत में जितनी व्यावहारिक प्रश्नों की उपेक्षा की गयी है उतनी अन्यत्र नहीं। एक और बात है जो देरिदा के विसंरचनावाद को महत्वपूर्ण बना देती है वह यह है कि आज जाने–अनजाने पाश्चात्य संस्कृति ग्लोबलाइजेशन के नाम पर पूरी दुनियां में अपना प्रसारण कर रही है। ऐसी वैश्विक परिस्थिति में देरिदा एक महत्वपूर्ण दार्शनिक बन जाते हैं, क्योंकि वे सटीक प्रकार से पाश्चात्य संस्कृति की आलोचना कर पाते हैं।

देरिदा के पठन के बारे में ऊपर दो मूलभूत प्रश्न उठाये गए थे। और अभी पहले प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की गयी कि हमें देरिदा को क्यों पढ़ना चाहिए? लेकिन इस प्रश्न के उत्तर में ही एक हद तक यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि देरिदा का भारतीय पाठ क्या हो सकता है? अब आगे इस पेपर के अगले भाग में इसी बात पर विचार करने का प्रयत्न किया जायेगा कि देरिदा के भारतीय–पाठ से क्या–क्या निहितार्थ हो सकते हैं?

आज का पढ़ा–लिखा भारतीय बौद्धिक समाज श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के एक लेख ''विचारों में स्वराज''[33] को महत्वपूर्ण मानता है। श्री भट्टाचार्य के इस दस पेज के निबंध के महत्त्व का पता इसी बात से लग जाता है कि 'जर्नल ऑफ इंडियन कॉन्सिल ऑफ फिलॉसफिकल रिसर्च' और 'इंडियन फिलॉसफिकल क्वाटरली' दोनों भारत की प्रतिष्ठित दर्शन–पत्रिकाएं इस निबंध पर अपने विशेषांक निकाल चुकीं हैं। इस निबंध में ही श्री भट्टाचार्य यह बात उठाते हैं कि वास्तव में आज के पढ़े–लिखे भारतीय व्यक्ति का अपना कोई स्वतंत्र भारतीय पाठ नहीं होता है। वे उदाहरण देते हैं कि जब कोई फ्रेंच व्यक्ति शेक्सपियर को पढ़ता है तो उसका अपना पाठ होता है वह अंग्रेजी पाठ से अलग होता है लेकिन जब कोई भारतीय शेक्सपियर को पढ़ता है तो उसका पाठ अंग्रेजी पाठ से भिन्न नहीं होता है जबकि परंपरा और इतिहास की दृष्टि से भारतीय मन अंग्रेजी साहित्य की आत्मा से फ्रेंच या जर्मन मन की अपेक्षा कहीं अधिक दूर है।[34] आगे इसी निबंध में श्री भट्टाचार्य लिखते हैं कि :

''अभी तक ऐसा कुछ नहीं है जिसमें भारतीय परिपेक्ष्य से पश्चिमी दार्शनिक तंत्रों पर किसी ने समीक्षात्मक निर्णय दिए हों और जबकि पश्चिमी दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन के मूल्यांकन का प्रयास किया जा चुका है। विश्व–संस्कृति को यदि प्राचीन भारत का कोई अतुलनीय योगदान है तो वह दर्शन के क्षेत्र में ही है और यदि आधुनिक भारतीय मन का, किसी भी प्रकार के उद्देश्य के लिए, दार्शनिकीकरण करना है तो हमें भारतीय–विचार का सामना पश्चिमी–विचार से कराना होगा और यदि संभव हो इनके समन्वय का प्रयास करना चाहिये अथवा इनमें से किसी भी विचार का तार्किक निषेध करना चाहिए।''[35]

क्योंकि भाषा में अर्थ की उत्पत्ति विभेद/अनुपस्थिति पर आश्रित होती है इसीलिए किसी भी लेखन के कई पाठ संभव है। कई प्रकार से एक कथन का विश्लेषण किया जा सकता। लेकिन जब हम भारतीय सन्दर्भ में पाठों की बात करते हैं तो यहां एक प्रमुख समस्या, उसकी अजानकारी में भारतीय का औपनिवेशिक मन है, जिसे भट्टाचार्य छाया मन कहते हैं। इस छाया मन की सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि यह प्राचीन भारतीय–दर्शन को विश्लेषण की वस्तु न मान कर संग्रहालय में रखी कोई श्रद्धा की वस्तु समझता है। यह छाया मन न ही कोई नवीन विश्लेषण करता है और यदि कोई अन्य भारतीय करे भी तो उसको हीन दृष्टि से देखता है। हमारा छाया मन इतनी हीनता के भाव से भरा है कि हम दूसरे भारतीय के नवीन विश्लेषण की सराहना नहीं कर पाते हैं। मैं एक बार अपने साथी शिक्षक से कह रहा था कि यदि देरिदा का जन्म भारत में हुआ होता तो संसार तो दूर यहीं भारत के लोग ही उसकी सराहना न कर पाते क्योंकि किसी नवीन प्रकार के दार्शनिक विश्लेषण की सराहना करने के लिए स्वयं भी विश्लेषण की दुष्कर प्रक्रिया में उतरना पड़ता है।

ऊपर भट्टाचार्य जिस प्रकार के भारतीय विचार का सामना पश्चिमी विचार से करने की बात कर रहे हैं, श्री यशदेव शल्य उसी प्रकार के नवीन दार्शनिक विश्लेषण के उदाहरण हैं। इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण भी हैं लेकिन इस तरह का विश्लेषण अभी तक भारत में दुर्लभ है। हमें आज भारत में एक नया भारतीय मन उत्पन्न करने के लिए एक नयी दार्शनिक क्रांति की आवश्यकता है। अभी तक भारत की प्रतिभा शास्त्रों को रटने वाले, यहां तक कि शास्त्रों की सतही समझ भी न रखने वाले, जादू–टोना दिखाने वालेभूत भागने वाले बाबाओं के हाथों में कैद है। यह सब बातें एक गरिमा युक्त मानव जीवन के प्रति अपराध की भांति हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गरिमायुक्त मानव जीवन जीने के लिए रोजगार और आर्थिक सुरक्षा के पहले एक विचारशील मन की आवश्यकता है, जो मनुष्य में दार्शनिक विचारों की समझ से उत्पन्न होता है। दर्शन का इतिहास रटने से नहीं बल्कि दार्शनिक–विश्लेषण की प्रक्रिया (दार्शनिकीकरण) में भाग

लेने से उत्पन्न होता है। और यदि हमारे प्रमुख दार्शनिक नागार्जुन, शंकर आदि कह रहे हैं कि उनके दर्शन का किसी से विरोध नहीं है तो इसका तात्पर्य हुआ कि पूरी दुनियां का दर्शन हमारा ही दर्शन है। आदर्श स्थिति में एक भारतीय सत्य से प्रतिष्ठित व्यक्ति का दार्शनिक–पाठ ही सबसे अधिक निष्पक्ष पाठ हो सकता है क्योंकि उसका दुनियां के किसी दर्शन से कोई वास्तविक विरोध नहीं है। इसी धरातल पर प्रतिष्ठित होकर श्री भट्टाचार्य कह रहे हैं कि हमें पूर्वी और पश्चिमी दर्शन का समन्वय करना है, अथवा यदि वह सत्यानुकूल नहीं है तो फिर चाहे वह भारतीय विचार हो अथवा पश्चिमी विचार हमें उसका तार्किक खंडन करना है।

जब हम विसंरचनात्मक के भारतीय पाठ की बात करते हैं तो हमने पेपर के पांचवे भाग में या समझने का प्रयास किया कि भारत में भी भारतीय संस्कृति, राजनीति और समाज के सन्दर्भ में भारतीय पाठों की आवश्यकता है। हमने वहीं यह भी समझने का प्रयास किया कि अपनी आदर्श स्थिति में यह पाठ सर्वाधिक प्रामाणिक पाठ होगा क्योंकि भारतीय परंपरा के प्रमुख दार्शनिक नागार्जुन, शंकर और जे. कृष्णमूर्ति जिस प्रज्ञा के धरातल पर वस्तुओं को देखते हैं उनका वास्तव में किसी से कोई विरोध नहीं है। एक 'अविरोधिनि' प्रज्ञा की परिस्थिति में ही एक पाठ सर्वाधिक प्रामाणिक हो सकता है।

जब हम यहां भारतीय परिस्थिति में विसंरचनात्मक पाठ की बात कर रहे हैं तो हमारी समस्या यहां देरिदा की ही तरह सामजिक और राजनीतिक है। चाहे हम वेदांत दर्शन में अथवा बौद्ध दर्शन में चाहे जितनी भी सैद्धांतिक ऊंचाइयों तक पहुंचे हों लेकिन व्यवहारिक रूप से हमारी स्थिति योरोपीय मनुष्य से बेहतर नहीं हैं। जैसा कि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य इशारा कर रहे हैं कि एक जर्मन या फ्रेंच का शेक्सपियर का अपना पाठ होता है लेकिन भारतीय का नहीं। इसका तात्पर्य हुआ कि अपने दर्शन और संस्कृति के साथ वहां का मनुष्य अधिक संगति में है और यहां भारत का मनुष्य भारतीय संस्कृति और दर्शन से टूटन की अवस्था में है। इसका कारण है कि एक भारतीय अपनी सम्पूर्ण दार्शनिक और सांस्कृतिक परंपरा को एक परंपरा के रूप में नहीं देख पाता है। एक परंपरा जिसमें हिन्दू आस्तिक परंपरा के साथ बौद्धों और जैनों की नास्तिक परंपरा भी शामिल है। देरिदा जिस परंपरा के सन्दर्भ में अपनी विसंरचना को प्रस्तुत कर रहा है उस परंपरा में कोई भी नास्तिक धर्म विद्यमान नहीं है। वहां सारे धर्म उपस्थिति परक है अनुपस्थिति परक नहीं हैं। मुझे विश्वास है कि यदि देरिदा की जैसी प्रतिभा वाला व्यक्ति यदि भारत में जन्म ले तो वह बुद्ध के अनुपस्थिति के दर्शन का चयन करता और फिर जिन लोगों ने भी बुद्ध के अनुपस्थिति के दर्शन में उपस्थिति के विजातीय तत्वों को समाहित कर दिया है वह उनका विखंडन करके नए

विसंरचनात्मक पाठ प्रस्तुत करता। आज हमें नए–नए रूपों में पाठों में यह समझना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति का अथवा भारतीय मन का निर्माण केवल वैदिक दर्शन से नहीं हो रहा है उसमें अवैदिक दर्शन का भी यदि अधिक नहीं तो बराबर का योगदान है। और यह बात हमारी कमजोरी नहीं हमारी/भारत की ताकत है।

विश्व संस्कृति में भारत के योगदान के बारे में टी. आर. व्ही. मूर्ति का यह निम्नांकित कथन महत्वपूर्ण हैः

''इस संबंध में महायान निरपेक्षतत्त्ववाद तथा अद्वैतवेदांत मूल्यवान हैं क्योंकि वे ऐसी आधारभूमि उपलब्ध कराते हैं जिस पर विश्वसंस्कृति का निर्माण कराया जा सकता है। निरपेक्षतत्त्ववाद ही ऐसा है जो अस्तित्व की मौलिक एकता के साथ–साथ भेद को स्वीकृति देता है। दृष्टिकोण की सर्वसामान्यता तथा भेदों के प्रति सहिष्णुता उनकी आत्मा है। दोनों ही तत्त्व की सार्वभौमता तथा अहंकार केंद्रित दृष्टिकोण से परे जाने पर बल देते हैं। परन्तु वेदांत अपने दृष्टिकोण में पारम्परिक है तथा वेद के प्राधिकार को स्वीकार करने के लिए बाध्य है, इसके साथ ही संभवतः यह एक खास परिवेश की भी मांग करते है, केवल उसी में यह फल–फूल सकता है। महायान उदार है तथा विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक संरचनाओं में स्वयं को समायोजित करने की, उनको आत्मसात तथा प्राणवान करने की अपनी क्षमता को सिद्ध कर चुका है। यह बात तिब्बत, मंगोलिया, चीन तथा जापान में देखी जा चुकी है।''[36]

यहां टी. आर. व्ही. मूर्ति ने हीनयान बुद्धिज्म को छोड़ दिया है नहीं तो कम्बोडिया, थाईलैंड, म्यांमार, भूटान, श्रीलंका आदि में बौद्धधर्म के प्रसार की बात की जा सकती थी। लेकिन इस वक्तव्य में टी. आर. व्ही. मूर्ति का यह विश्लेषण महत्वपूर्ण है कि विश्वसंस्कृति के निर्माण के सन्दर्भ में अद्वैत वेदांत एवं महायान बुद्धिज्म के सिद्धांतों में से अधिक अनुकूल महायान बुद्धिज्म है। यद्यपि मुझे टी. आर. व्ही. मूर्ति की इस बात में संदेह है कि शाश्वतवादी अद्वैत वेदांत के समान, थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ माध्यमिक बौद्ध दर्शन भी एक निरपेक्षतत्त्ववाद है। दरसल, बौद्धदर्शन एक व्यवहारिक दर्शन है जिसकी प्रज्ञा व्यावहारिक है जो कि व्यावहारिक वास्तविक जगत में मनुष्य के दुःख की समाप्ति के लिए क्रियाशील होती है। इसका लक्ष्य कोई निरपेक्षतत्त्व का ज्ञान न होकर हमारे वास्तविक जीवन में सक्रिय होकर दुःख निरोध करना है।

जब हम व्यावहारिक जगत के सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं की बात करते हैं तो हमारा प्रश्न यह नहीं है कि इस जगत/विषय का स्वरूप क्या है अथवा जो वस्तु इस जगत का यथार्थतः समझने की शक्ति रखती है उस प्रज्ञा काधविषयी का स्वरूप क्या है। हमारा प्रश्न यह होता है कि इस निरंतर

परिवर्तनशील विश्व में वह प्रज्ञा कैसे सक्रिय होती है जो इसे यथार्थतः समझ सकती है। दूसरे शब्दों में हम इस प्रश्न को इस प्रकार रख सकते हैं कि मनुष्य जगत के साथ अपने सम्बन्ध में दुःख कैसे उत्पन्न कर लेता है और मनुष्य का और इस जगत का वह सम्बन्ध क्या है जिसमें दुःख का अंत हो सकता है? यहां हमारा सरोकार उस तत्व के ज्ञान के साथ नहीं है जिसे जान लेने पर सबको जान लिया जाता है। यहां हमारा सरोकार जगत के साथ उस सम्यक प्रकार की क्रियाध्सम्बन्ध से है जिस सम्बन्ध में दुःख नहीं बल्कि आनंद उत्पन्न होता है। यहां आनंद कोई तत्व न होकर हमारे जगत के साथ सही सम्बन्ध/क्रिया का परिणाम है।

देरिदा के विसंरचनात्मक पाठ और कुछ नहीं बल्कि परंपरागत दर्शनों के अर्थों को पुराने देश–काल से तोड़ कर उन बातों को नवीन, आज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में, नयी भाषा, नए प्रकार के दार्शनिक विश्लेषण के साथ पढ़ना है। यह एक प्रकार का दार्शनिकीकरण ही है। आज भारत की चेतना प्राचीन संरचनाओं में कैद हो गयी है। भारतीय मनुष्य इन संरचनाओं का एक कल–पुर्जा बन कर रह गया है। भारत के सामान्य–जनों की संस्कृति का निर्माण अब रामायण, महाभारत अथवा उपनिषदों से नहीं हो रहा है। यहां भीड़ का संस्कृतीकरण अब टेलीविजन, ओ. टी. टी., सोशल मीडिआ– यूट्यूब, ट्विटर, फेसबुक आदि से हो रहा है। भारत के लिए और शेष विश्व के लिए भी यह एक गंभीर परिस्थिति है। इस परिस्थिति का सामना हम केवल अपनी परंपरा से प्राप्त ग्रंथों के नवीन पाठों से ही कर सकते हैं। अब विश्व को आर्थिक, सामजिक, राजनीतिक क्रांति के पहले एक दार्शनिक क्रांति की आवश्यकता है। भारत में सबसे पहले यह क्रांति आवश्यक है, क्योंकि उसी के पास दर्शन की सबसे समृद्ध परंपरा है। तभी वह शेष विश्व का नेतृत्व कर सकता है।

संदर्भ

1. Binary.
2. Difference.
3. Deferment.
4. See, Crémieux Decree- (2022 December 28)- In Wikipedia- https://en-wikipedia-org/wiki/Cr%C3%A9mieux_Decree
5. Binary-
6. Ferdinand de Saussure-
7. Sign-
8. Signifier-

9. Signified-
10. गोपीचंद नारंग (2004), संरचनावाद उत्तर–संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली–110001, पृ. 48
11. Writing
12. Speech
13. Jacques Lacan-
14. गोपीचंद नारंग (2004), संरचनावाद, पृ. 174–175
15. Differance-
16. Differer-
17. Defer-
18. Derrida uses différance as neologism…Its meanings are too multiple to explain here fully] but we may note briefly that the word combines in neither active nor passive voice the coincidence of meanings in the verb differer to differ (in space) and to defer (to put off in time) to postpond presence) Thus, it does not function simply either as differance (difference) or as différance in the usual sense (deferral) and pays on both meanings at once." See, Derrida Writing and Difference (1978) Translated by Alan Bass] Rouledge & Kegan Paul, London and Henley, PP- XIV-
19. See, Derrida, tenth chapter of Writin and Difference (1978) Structure Sign and Play in the discourse of the Human Sciences. देखिये, देरिदा के इस लेख का हिंदी अनुवाद, जाक देरिदा : मैं जीना सीखना चाहता हूँ, अनुवादक रामकीर्ति शुक्ल (2022), नयी किताब प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली–110032,nayeekitab@gmail.com, www.nayeekitab.in
20. जाक देरिदा : मैं जीना सीखना चाहता हूँ, अनुवादक रामकीर्ति शुक्ल 2022), पृ. 35।
21. In the begining was the word and the word was with God and the word was God- John 1/1
    देखिये, गोपीचंद नारंग (2004), संरचनावाद, पृ. 162
22. वहीं, पृ. 163

23. Derrida, Of Grammatology, Translated by Gayatri Chakravorty Spivak (1974). The Johns Hopkins university Press Baltimore and London, pp-16
24. Phonocentrism.
25. I wish to mark out and define, structure— or rather the structurality of structure— although it has always been at work] has always been neutralized or reduced] and this by a process of giving it a center or of refering it to a point of presence, a fixed origin- The function of this center was not only to orient] balance] and organize the structure— one cannot in fact conceive of an unorganized structure— but above all to make sure that the organizing principle of the structure would limit what we might call the play of the structure- By orienting and organizing the coherence of the system] the center of a structure permits the play of its elements inside the total form-ß Derrida] Writin and Difference (1978) pp-278-279.
26. Ibid, pp- 279
27. Western thought, says Derrida, has always been structured in terms of dichotomies or polarities : good vs- evil, being vs- nothingness, presence vs- absence, truth vs- error, identity vs- difference, mind vs- matter, man vs- woman, soul vs- body, lifevs- death, naturevs- culture, speech vs- writing- These polar opposites do not, however, stand as independent and equal entities- The second term in each pair is considered the negative, corrupt, undesirable version of the first… In other words, the two terms are not simply opposed in their meanings but are arranged in a hierarchical order which gives the first term priority in both the temporal and the qualitative sense of the word-ß See, Derrida (1981) Dissemination, Translated by Barbara Johnson, The University of Chicago Press, Chicago, pp- viii.
28. See Starting with Derrida] Sean Gaston (2007) Bloomsbury publication] New Delhi] pp- vii-

29. जाक देरिदा, मार्क्स के प्रेत (Specters of Marx), अनुवादक रामकीर्ति शुक्ल (2022), सेतु प्रकाशन, नोएडा (उत्तर प्रदेश) 201301, पृ. 77।
30. Derrida, Margins of Philosophy (1982) Translated by Allan Bass The University of Chicago Press, Chicago-60637, pp- 317-
31. यहाँ विश्लेषण शब्द को प्रयोग पश्चिमी विश्लेषण–सम्प्रदाय के अर्थ में नहीं किया जा रहा है। देरिदा की विसंरचना उस तरह के विश्लेषण की समीक्षा करती है।
32. If you tried to doubt everything you would not get as far as doubting anything- The game of doubting itself presupposes certainty. See, Ludwig Wittgenstein, On Certainity-115, Translated by Denis Paul and G- E- M- Anscombe (1969), Basil Blackwell Oxford, PP- 125.
33. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, विचारों में स्वराज, हिंदी अनुवाद– डॉ. प्रताप चंद्र, भारतीय दर्शन के पचास वर्ष, सं अम्बिकादत्त शर्मा (2006), विश्वविद्यालय प्रकाशन सागर (म. प्र.), पृ. 373–382, See Original, Krishnachandra Bhattacharya] Swaraj in Ideas, Indian Philosophical Quarterly, Vol- XI, No- 4, Oct- 1984, pp- 383-393.
34. See, Krishnachandra Bhattacharya, Swaraj in Ideas-7, pp- 386-
35. "There is nothing like a judgment on western systems from the standpoint of Indian philosophy, and although some appraisement of Indian philosophy has been attempted from the western standpoint. The most prominant contribution of ancient India to the culture of the world is is in the field of philosophy and if the Mordern Indian Mind is to philosophies at all to any purpose] it has to confront Eastern thought and Western thought with one another and attempt a syntheses or a reasoned rejection of either, if it is possible." Krishnachandra Bhattacharya, Swaraj in Ideas-9, pp-386.
36. टी. आर. व्ही. मूर्ति (1955), केंद्रीय बौद्ध दर्शन, हिंदी अनुवाद– सच्चिदानंद मिश्र (2019), मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर दिल्ली–110007, पृ. 373।

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

सामाजिक चेतना के विकास में शिक्षा दर्शन की उपयोगिता

(विवेकानंद के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. प्रियंका तिवारी *

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा को व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने हर समस्या का निदान शिक्षा को बताया है। शिक्षा के उद्देश्यों का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं, जो शिक्षा प्रणाली जन साधारण को जीवन संघर्ष से जूझने की क्षमता प्रदान करने में सहायक न हो , जो मनुष्य के नैतिक बल का उसकी सेवावृत्ति का उसमे सिंह के सामान साहस का विकास नहीं करती हो उसे हम शिक्षा नहीं कहेंगें। इन्होने सर्वहितकारी, सर्वव्यापी एवं मानव निर्माण करने वाली शिक्षा पर जोर दिया था। वे मानव की स्वतंत्रता को मूल बिंदु मान कर राजनीति से परे मानव निर्माण की योजना के समर्थक थे। शिक्षा को धर्म से जुड़ा मान कर विवेकानंद ने दोनों की मानव के अंदर पायी जाने वाली प्रवृत्ति को उजागर करना ध्येय माना है। मानव कल्याण का मूल बीज शिक्षा को मानकर विवेकानंद ने शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने की योजना बनाई। उन्होंने शिक्षा की एक उदार एवं संतुलित प्रारूप देश के सामने रखा, आवश्यकता है विदेशी नियंत्रण हटाकर हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो और साथ ही साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञानं भी सीखा जाये।[1] हमें उद्योग–धंधों की उन्नति के लिए यांत्रिक शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी जिससे देश के युवक नौकरी ढूढ़ने के बजाय अपनी जीविका के लिए समुचित धनोपार्जन भी कर सकें तथा बुरे दिन के लिए कुछ बचा भी सकें। ज्ञान के विस्तार को भारत की सीमाओं से बाहर भी ले जाना चाहते थे, भारत ने संसार को अनेक बार आध्यात्मिक ज्ञान दिया। स्वामी जी ने धर्म प्रचार और लौकिक विद्या दोनों को ही मानव के लिए

* *सहायक प्राध्यापिका, दर्शनशास्त्र विभाग, जगजीवन महाविद्यालय, गया*

आवश्यक बताया। उनके अनुसार यदि लौकिक विद्या बिना धर्म के ग्रहण करना चाहो तो मै तुमसे साफ कह देता हूँ की भारत में तुम्हारा ऐसा प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा, वह लोगों के ह्रदय में स्थान प्राप्त नहीं कर सकेगा।

शिक्षा : ''यह मनुष्य को उसके आदर्श और असीम विकास की ओर ले जाने की प्रक्रिया है''। अर्थात सच्ची शिक्षा उसे कहा जा सकता है जिससे शब्द संचय नहीं, क्षमता का विकास होता है जिससे की वे सही दिशा में, दक्षता पूर्वक अपनी संकल्प शक्ति का नियमन कर सके।[2]

शिक्षा का उद्देश्य : स्वामी विवेकानंद के अनुसार, शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है, मानव में शक्तियां जन्म से ही विद्यमान रहती है। शिक्षा उन्हीं शक्तियों या गुणों का विकास करती है, पूर्णता बाहर से नहीं आती वरन मनुष्य के भीतर छुपी रहती है। सभी प्रकार का ज्ञान मनुष्य की आत्मा में निहित रहता है। ज्ञान चाहे सांसारिक हो या पारमार्थिक हो मनुष्य के मन में निहित है। यह आवरण से ढका रहता है जब वह आवरण धीरे धीरे हटता है तो मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होता है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में मानव प्रेम, समाज सेवा, विश्वचेतना और विश्वबंधुत्व की भावना का विकास करना है। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, धार्मिक, नैतिक, चारित्रिक, सामाजिक और व्यावसायिक विकास करना है। स्वामी जी ने धार्मिक विकास को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना है वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति उस सत्य और धर्म को मालूम कर सके जो उनके अंदर छिपा हुआ है। इसके लिए उन्होंने मन तथा ह्रदय के प्रशिक्षण पर बल दिया और बताया की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसे प्राप्त करके बालक अपने जीवन को पवित्र बना सके। स्वामी जी ने आजीवन इस बात पर बल दिया कि अपने ऊपर विश्वास रखना, श्रद्धा तथा आत्मत्याग की भावना को विकसित करना शिक्षा का महत्व पूर्ण उद्देश्य है। उन्होंने लिखा उठो जागो और उस समय तक बढ़ते रहो जब तक की चरम उद्देश्य की प्राप्ति ना हो जाए।[3]

पाठ्यक्रम : विवेकानंद शिक्षा में अध्यात्म के साथ विज्ञान एवं तकनिकी की शिक्षा आवश्यक मानते थे। स्वामी विवेकानंद का यह मानना था कि भारतीय अध्यात्म एवं पश्चिमी विज्ञान का समन्वय ही मानव कल्याण का सर्वाधिक विश्वसनीय आधार बन सकता है। विवेकानंद की शिक्षा व्यवस्था में कला को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उनके अनुसार ''कला हमारे धर्म का ही एक अंग है। ''उन्होंने विद्यार्थियों, शिक्षिकों एवं शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान चित्रांकित पात्रों की तरफ खींचा था। स्वामी विवेकानंद संस्कृत भाषा के शिक्षा पर अत्यधिक जोर देते थे क्योकि यही हमारी धर्म और संस्कृति की भाषा है। इसके साथ ही

मातृभाषा की शिक्षा आवश्यक मानते थे। विज्ञान एवं तकनीकी की उचित शिक्षा के लिए वे अंग्रेजी की भी शिक्षा महत्वपूर्ण मानते थे। स्वामी जी के अनुसार आध्यात्मिक ही नहीं बल्कि भौतिक विकास भी होना चाहिए इसके लिए इतिहास, भूगोल गणित, विज्ञान, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, तकनीकी शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि विषयों को भी पाठ्यक्रम में उचित स्थान देने के वे समर्थक थे। स्वामीजी छात्रों को शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ देखना चाहते थे। अतः पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा को स्थान देने के पक्षधर थे। स्वामीजी विदेशी भाषा की शिक्षा के समर्थक थे, पर मातृभाषा को प्रधानता देने की आवश्यकता सदैव अनुभव करते थे।

शिक्षण विधियाँ : स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि एकाग्रता है। जितनी अधिक एकाग्रता होगी उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उनका कहना था की एकाग्रता के बल पर जूता पोलिश करने वाला भी बेहतर ढंग से जूता पोलिश कर सकेगा एकाग्रता तभी आ सकती है जब मनुष्य में अनाशक्ति हो। स्वामी विवेकानन्द ने अनुकरण विधि, व्याख्यान विधि, स्वाध्याय विधि, तर्क और योग विधि और कुछ आधुनिक विधियों जैसे निर्देशन विधि, परामर्श विधि और प्रयोग विधि का समर्थन किया है इस सब में इन्होने योग विधि को सर्वोत्तम विधि बताया है।[4]

1. अनुकरण विधि—स्वामी विवेकानन्द के अनुसार बालक भाषा और व्यवहार की विधियाँ अनुकरण द्वारा ही सीखता है इसलिए इन्होंने शुद्ध भाषा और समाज सम्मत आचरण की शिक्षा के लिए इसे सर्वोत्तम विधि बताया। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि माता—पिता और शिक्षकों को बच्चों के सामने शुद्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए और आचरण के उच्च आदर्श प्रस्तुत करने चाहिए जिनका अनुकरण कर बच्चे शुद्ध भाषा सीखें और उत्तम आचरण करें। खेल—कूद, व्यायाम, योगासन एवं अन्य कुछ क्रियाओं की शिक्षा के लिए भी ये इस विधि को उपयुक्त मानते थे। ये लोगों को योग की शिक्षा इसी विधि से देते थे।

2. व्याख्यान विधि—तथ्यों की जानकारी मौखिक रूप से देने की विधि को व्याख्यान विधि कहते हैं। स्वामी जी यह बात मानते थे कि पूर्वजों द्वारा खोजे सत्यों का ज्ञान व्याख्यान विधि द्वारा सरलता और शीघ्रता से कराया जा सकता है। परन्तु ये किसी भी तथ्य को विवेक की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने पर बल देते थे। यही इनकी व्याख्यान विधि की विशेषता थी। ये वेदान्त के सिद्धान्तों की शिक्षा व्याख्यान विधि द्वारा ही देते थे पर तर्कपूर्ण ढंग से देते थे, वैज्ञानिक ढंग से देते थे।

3. तर्क एवं विचार—विमर्श विधि—तथ्यों को सीधे ग्रहण न करके उनके विषय में 'या' "यों', "कैसे प्रश्न करने, उनका तार्किक उत्तर प्राप्त करने, अपनी

शंकाओं को बार–बार उठाने और उनका समाधान खोजने की विधि को तर्क एवं विचार–विमर्श विधि कहते हैं। यह तर्क विधि भारतीय न्याय दर्शन की तर्क विधि से भिन्न है। इस विधि से शिक्षक शिक्षार्थियों की शंकाओं का समाधान करते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान् इसे शंका समाधान विधि भी कहते हैं। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की शंकाओं के समाधान हेतु तथ्यों की व्याख्या करते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान् इसे व्याख्या विधि कहते हैं। तथ्यों की व्याख्या में तथ्यों का विश्लेषण करना पड़ता है। इस आधार पर कुछ विद्वान् इसे विश्लेषण विधि कहते हैं। स्वामी जी किसी भी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए तर्कपूर्ण विचार–विमर्श करते थे इसलिए इन्होंने इस विधि को तर्क एवं विचार–विमर्श विधि कहा है।[5]

4. निर्देशन और परामर्श विधि–वैयष्टिक निर्देशन और परामर्श द्वारा शिक्षार्थियों का मार्ग निर्देशन करने, उनकी स्वयं सीखने में सहायता करने और बीच–बीच में उनकी शंकाओं का समाधान करने की विधि को निर्देशन एवं परामर्श विधि कहते हैं। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की क्या पढ़ें और कैसे पढ़ें, क्या करें और कैसे करें, इस सम्बन्ध में सहायता करते हैं। इस विधि में शिक्षार्थी स्वाध्याय अथवा स्व क्रिया द्वारा स्वयं सीखते हैं, शिक्षक तो उनका केवल मार्गदर्शन करते हैं। स्वामी जी किशोर और युवकों की शिक्षा के लिए इस विधि को उत्तम विधि मानते थे।

5. प्रदर्शन एवं प्रयोग विधि–स्वामी जी प्रायोगिक विषयों–विज्ञान एवं तकनीकी और क्रियाओं के शिक्षण एवं प्रशिक्षण के लिए इस विधि के प्रयोग का समर्थन करते थे। इस विधि में शिक्षक वस्तु अथवा क्रिया को प्रस्तुत करता है, शिक्षार्थी अवलोकन करते हैं, शिक्षक हर तथ्य को स्पष्ट करता है, शिक्षार्थी उसे प्रयोग करके निश्चित करते हैं। आज तो इस विधि में बच्चों की सक्रिय साझेदारी ली जाती है। अपने सही अर्थों में विज्ञान आदि प्रायोगिक विषयों की शिक्षा इसी विधि में दी जा सकती है।[6]

6. स्वाध्याय विधि का अर्थ है स्वयं अध्ययन करना। इस विधि में शिक्षार्थी तथ्यों का ज्ञान तत्सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन द्वारा करते हैं। स्वामी जी अपने धर्म–दर्शन के ज्ञान के लिए आर्य ग्रन्थों के अध्ययन पर बल देते थे। वे कहा करते थे कि सब कुछ उपदेशों एवं व्याख्यानों द्वारा नहीं बताया जा सकता, किसी भी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिए उससे सम्बन्धित प्रमाणिक ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक होता है। शिक्षार्थी द्वारा इन प्रमाणिक ग्रन्थों को स्वयं पढ़ना और स्वयं समझने का प्रयत्न करना ही स्वाध्याय विधि है। स्वाध्याय को स्वामी जी तब तक अधूरा मानते थे जब तक उस पर चिन्तन, मनन और निदिध्यासन नहीं किया जाए। इनका उदघोष था कि किसी भी तथ्य को विवेक की कसौटी पर कसकर

ही स्वीकार करो। इस प्रकार स्वामी जी द्वारा अनुमोदित स्वाध्याय विधि आज की पुस्तक विधि अथवा पुस्तकालय विधि से कुछ भिन्न है, कुछ अधिक है और कुछ अधिक उपयोगी है।

7. योग विधि– स्वामी जी इसे भौतिक एवं आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने अथवा ज्ञान की खोज करने की सर्वोत्तम विधि मानते थे। इनकी दृष्टि से भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अल्प योग (अल्पकालीन एकाग्रता) ही पर्याप्त होता है परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूर्ण योग (दीर्घकालीन एकाग्रता) की आवश्यकता होती है। आज के मनोवैज्ञानिक भी तो यही कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए सीखे जाने वाली वस्तु अथवा क्रिया पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। हमारा अपना अनुभव भी यही बताता है कि सीखने वाले में सीखने के लिए जितना अधिक योग होता है, वह उतनी ही शीघ्रता से सीखता है। स्वामी विवेकानन्द तो बचपन से ही इस विधि का प्रयोग करते थे।

विवेकानंद के अनुसार शिक्षक : शिक्षक का कार्य मार्ग से रुकावटों को हटाना है अर्थात व्यक्ति के अंतर्गत जन्मजात शक्ति पहले से ही विद्यमान है शिक्षा का कार्य उसे उजागर करना है।

सार्वभौमिक शिक्षा प्रसार के लिए स्वामी जी ने कहा अध्यापकों को सदाचारी, त्यागी और उच्च भाव से ओत–प्रोत होना चाहिए। शिक्षकों को निःस्वार्थ भाव से शिक्षा को देना चाहिए न की धन ,नाम और यश सम्बन्धी स्वार्थ की पूर्ति के लिए। शिक्षक में तीन बातें अवश्य होनी चाहिये। पहला, तो वह अपने विषय का विद्वान् हो जिस विषय की वह शिक्षा देता हो, उसके सम्बन्ध में उसे पूरी जानकारी हो तथा शिष्य के मन में उठने वाली किसी भी शंका का पूर्ण समाधान करने में वह समर्थ हो। इतना ही नहीं गुरु को शिष्य की आत्मा में प्रवेश कर उसमें ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करना चाहिये। गुरु की विद्वता शिष्य के लिये वरदान बनती है। दूसरा, वह चरित्रवान होना चाहिये। इसका सीधा अर्थ यह है कि उसका आचरण ऐसा आदर्श होना चाहिये, जिसका अनुकरण कर शिष्य अपने जीवन को भी उत्कृष्टता की ओर ले जा सके। शिक्षक स्वयं उच्च आदर्शों का उत्कृष्ट उदाहरण होना चाहिये। उसके ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया में कोई भिन्नता नहीं होनी चाहिये। जो वह कहे, वह स्वयं वैसा ही आचरण करे तभी शिष्य के सम्मान का पात्र बन सकेगा। तीसरा, उसका प्रत्येक शिष्य के साथ पितृवत व्यवहार होना चाहिये। प्रत्येक शिष्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम तथा उसे आगे बढ़ाने की भावना शिष्यों को उसमें दिखायी देनी चाहिये। उसे स्वार्थवश ज्ञान बेचने का व्यवसाय नहीं करना चाहिये तथा अपने सम्पूर्ण जीवन को निष्पाप बनाने का प्रयास करना चाहिये। स्वामीजी का मत था कि शिक्षक के प्रति शिष्य की अटूट श्रद्धा होनी चाहिये, पर वह श्रद्धा अन्ध–भक्ति नहीं हो, बल्कि समझ के साथ उत्पन्न होनी चाहिये।[7]

स्वामी विवेकानंद के अनुसार विद्यार्थी : विद्यार्थी के लिए स्वामी जी कठोर नियमों का पालन एवं इन्द्रिय निग्रह पर जोर देते थे जिससे छात्र शिक्षक में श्रद्धा रख कर सत्य को जानने का प्रयास करें। उन्होंने कहा ''शिक्षक के प्रति श्रद्धा, विनम्रता, समर्पण तथा सम्मान की भावना के बिना हमारे जीवन में कोई विकास नहीं हो सकता।'' विवेकानंद विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य पालन पर जोर देते थे इस काल में विद्यार्थी को मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इससे संकल्प शक्ति मजबूत होती है।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार विद्यालय : विवेकानंद गुरु गृह प्रणाली के पक्षधर थे उनके अनुसार आधुनिक परिस्थिति में विद्यालय प्रकृति की गोद में, शहर के कोलाहल से दूर नहीं बसाये जा सकते। इसलिए विद्यालय का पर्यावरण शुद्ध होना चाहिए और वहां अध्यन अध्यापन, खेल कूद, व्यायाम के अतिरिक्त भजन कीर्तन तथा ध्यान की क्रियाएं भी होनी चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार अनुशासन : अनुशासन का अर्थ है अपने व्यवहार को आत्मा द्वारा निर्देशित करना। अनुशासन के सम्बन्ध में उनके विचार प्रकृतिवाद से मिलते–जुलते हैं। उनका कहना था कि बालक को स्वानुशासन सीखना चाहिये। उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिये तथा उन पर अनुचित दबाव भी नहीं डालना चाहिये बल्कि उन्हें सीखने के लिये पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये। उन्हें स्व–अनुशासन की शिक्षा दी जानी चाहिये तथा सहानुभूतिपूर्वक सीखने के लिये उत्साहित करना चाहिये ।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार नारी शिक्षा : देश की उन्नति के लिए महिलाओं की शिक्षा अत्यंत आवश्यक माना है महिलाओं की शिक्षा के लिए उन्होंने तपस्वी, ब्रह्मचारिणी तथा त्यागी महिलाओं को प्रशिक्षण देना आवश्यक माना है। महिलाओं के समुचित विकास के लिए पुरूषों की तरह स्त्रियों को भी भाषा,गणित, विज्ञान, सामाजिक विषयों तथा लौकिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार शैक्षिक योगदान : स्वामी विवेकानंद शिक्षा के अनुसार जीवन के सभी पहलुओं को शामिल करना चाहिए – शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक, क्योंकि शिक्षा एक निरंतर प्रक्रिया है। उनके लिए, शिक्षा पूर्णता का अभिव्यक्ति है, जो पहले से ही मनुष्य में है, के रूप में परिभाषित करती है।

उन्होंने सुझाव दिया कि शिक्षा को मानव मस्तिष्क में सुधार करने का लक्ष्य रखना चाहिए यह मस्तिष्क में कुछ तथ्यों को भरने के लिए नहीं होना चाहिए। शिक्षा जीवन की तैयारी होनी चाहिए। विवेकानंद ने प्रचार किया कि हिंदू धर्म का

सार आदि शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत दर्शन में सबसे अच्छा व्यक्त किया गया था। और इस प्रकार, आधुनिक शिक्षा प्रणाली के लिए स्वामी विवेकानंद शिक्षण–शिक्षण प्रक्रिया में ध्यान और एकाग्रता पर अधिकतम जोर देना चाहते थे। सामान्य शिक्षा के अभ्यास में, क्योंकि यह योग के अभ्यास में है, पांच बुनियादी सिद्धांतों में जरूरी है–उद्देश्य, विधि, विषय, सिखाया और शिक्षक। उन्होंने इस तथ्य से आश्वस्त किया कि ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास करके, मानव मस्तिष्क में सभी ज्ञान का भी अभ्यास किया जा सकता है। शिक्षा, राजनीति, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र को फिर से अभिविन्यास देकर, स्वामी विवेकानंद समाज की बुराइयों को हटाना चाहते थे। इस परिवर्तन के लिए, उन्होंने शिक्षा पर एक शक्तिशाली हथियार के रूप में तनाव डाला।

निष्कर्ष : स्वामी विवेकानंद भारतीयता तथा आध्यात्मिकता के पुजारी थे उनके शिक्षा दर्शन का आधार वेदांत तथा उपनिषद ही थे। वे कहते थे की प्रत्येक मनुष्य में ही ईश्वर है ''अतः सभी मनुष्य से प्रेम करो'' का सन्देश दिया। उनका विश्वास था कि सभी प्रकार का सामान्य तथा आध्यात्मिक ज्ञान मन में ही है प्रत्येक व्यक्ति अपने आप स्वयं से ही सीखता है शिक्षक तो केवल सुझाव प्रस्तुत करता है।

संदर्भ

1. डॉक्टर अस्थाना ,गीता, पांडा अनिल कुमार (2009) साहित्य रत्नालय पेज न. 234–239
2. डॉक्टर त्रिपाठी नरेश चंद्र एवं डॉक्टर लाल बिहारी विश्वनाथ (2012) अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा पेज न. 73–76
3. डॉक्टर पांडेय रामसकल (2008) विनोद पुस्तक मंदिर आगरा। पेज न. 34–37
4. सक्सेना स्वरुप (2009) शिक्षा दर्शन एवं पाश्चात्य एवं भारतीय शिक्षा शास्त्रीय–लाल बुक डिपो मेरठ पेज न. 56–58
5. शेखावत, महेंद्र (1986), आधुनिक चिंतन में वेदांत, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी ,भोपाल पेज न. 41–42
6. मिश्र, आत्मानंद (1976) भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक। विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा पेज न. 89–92
7. रायजादा, बीएस (1996) शिक्षा में अनुसन्धान के आवश्यक तत्त्व राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर पेज न. 135–138

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

प्रौद्योगिकी दर्शन : एक नीतिशास्त्रीय समीक्षा

*डॉ. कुमारी सुमन**

प्रौद्योगिकी दर्शन का मुख्य विषय हैं इस वैज्ञानिक युग में जिस तरह प्रौद्योगिकी का विकास हो रहा है, कल–कारखाने का विस्तार हो रहा है, निजी क्षेत्र अधिक से अधिक लाभ कमाने की होड़ में औद्योगिक विस्तार कर रहे हैं, क्या यह सही है? औद्योगिक संस्थाओं के नियोक्ताओं का कुछ नैतिक दायित्व भी है? औद्योगिकीकरण के प्रभाव से सम्पूर्ण प्राणी जगत के जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों के लिए वो उत्तरदायी है या नहीं?[1] इस विषय पर चिंतन करना ही प्रोद्योगिकी दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। जैसा कि हम जानते हैं भारतीय नीतिशास्त्र में चार पुरुषार्थों की चर्चा की गयी है– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यहाँ पर प्रथम तीन को साधन और अंतिम को साध्य माना गया है। पर साधन और साध्य दोनों का समान महत्व होता है। यहाँ पर अर्थ द्वितीय पुरुषार्थ से है।[2] अर्थ का सम्बन्ध वृत्ति से हैं, अर्थात् जीविकोपार्जन के साधन से। जीविकोपार्जन के लिए अर्थोपार्जन आवश्यक है। पर यहाँ पर महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि अर्थोपार्जन के लिए नैतिक दायित्व का पालन आवश्यक हैं या नहीं ? विज्ञान के इस युग में मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं अधिक से अधिक भौतिक सुख–सुविधाओं के लिए वैज्ञानिक विकास हो रहे हैं। पर क्या उसका मानव जीवन पर बुरा प्रभाव पर रहा है, इस पर चिंतन हो रहा है? दर्शन का काम मात्र तत्वमीमांसीय विवेचना करना नहीं रह गया है, बल्कि दर्शन की शाखा नीतिशास्त्र की नई उपशाखा अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र के अन्तर्गत मानव जीवन से जुड़े सभी प्रकार की समस्याओं का नैतिक समाधान ढूढ़ना दर्शनशास्त्र का मूल विषय बन गया हैं।

प्रौद्योगिकी का विकास मानव जीवन को आसान बना दिया है। पर दूसरी ओर कई नई समस्याओं को भी जन्म दिया है। यहाँ पर एक छोटा–सा उदाहरण

* *असिस्टेंट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, जे.डी. वीमेन्स कॉलेज, पटना*

में देना चाहूँगी कि आज सम्पूर्ण विश्व में जलवायु परिवर्तन की समस्या कई समस्याओं को जन्म दिया है। अधिक गर्मी का पड़ना, बाढ़, भूकम्प, भूस्खलन, सुखाड़, अधिक ठंडा पड़ना, सुनामी इन सभी के पीछे जलवायु परिवर्तन उत्तरदायी हैं।[3] हम अधिक गर्मी से बचने के लिए एयर कन्डीसन का प्रयोग करते हैं। यह प्रौद्योगिकी की देन है। इस कारण हम भीषण गर्मी में भी ठंडा का आनन्द उठाते हैं। पर उस एयर कन्डीसन से वातावरण पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है उसपर हम विचार नहीं करते हैं। यह तो एक छोटा उदाहरण है। बहुत सारे उदाहरण हैं जहाँ एक ओर प्रौद्योगिकी वरदान साबित हो रहा है, वहीं दूसरी ओर अभिशाप बनते जा रहा है। इन सभी समस्याओं पर नैतिक दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में क्लैरेस बी. रैंडल ने न्यूयार्क टाइम्स मैंगजिन में अपना विचार दिया हैं जिसमें यह दर्शाने का प्रयास किया है कि मनुष्य स्वार्थवस कुछ पाप करते हैं चाहे उद्योगपति हो अथवा कोई व्यावसायी। उसे इससे बचने की आवश्यकता है। उसे अपने नैतिक दायित्वों का निर्वाहन करना चाहिए। इसी संदर्भ में लारू टोन हॉस्मर ने अपनी पुस्तक 'दि एथिक्स ऑफ मैनेजमेंट' में औद्योगिक नीतिशास्त्र पर प्रकाश डाला है।[4]

बीसवीं शताब्दी में एक अन्य क्रांति अति चर्चित हुई जिसे 'सूचना क्रांति, ज्ञान–क्रान्ति या बौद्धिक क्रांति का नाम दिया गया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास की इस चरम अवस्था को 'कम्प्यूटर–युग' के रूप में भी अभिहित किया जाता है। इस संचार क्रांति ने पूरे विश्व को समेटकर एक परिवार का आकार प्रदान किया। ऐसा कहा जाता है कि 1950 के बाद के वर्षों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इतने बहुआयामी परिवर्तन हुये जिनकी पूर्व में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यही कारण है कि इस कालखण्ड को कुछ चिंतक उत्तर–आधुनिकता का नाम देते हैं। पिछले तीन दशकों में औद्योगिक, प्रौद्योगिकीय नाभिकीय एवं अन्तरिक्ष के क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुए हैं उन्हें साइबर नेटिज समाज या सूचना समाज के नामाकरण की भी चेष्टा की गयी हैं। फ्रांस्वा ल्योतार ने कहा है कि उत्तर आधुनिकवाद, सत्य को जानने के अन्तिम आधारों एवं तर्कों के सभी प्रयासों की पकड़ से परे हैं।[5] उन्होंने ज्ञान विज्ञान की प्रचलित प्रणालियों को मेटा–नैरेटिव कहा है। हाल में होने वाले परिवर्तनों को अलविन हॉफलर ने फ्यूचर–शाक, थर्ड वेब और पॉवर शिफ्ट नामक चर्चित पुस्तकों में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रौद्योगिकी के विकास के कारण हमने अनेक उपलब्धियाँ अर्जित किया हैं। लेकिन भौतिक उपलब्धियों के बावजूद

मानवीय मूल्य, का ह्रास हुआ हैं। मानव मात्र की आन्तरिक हताशा, कुण्ठा, मनोव्यथा और नैराश्यपूर्ण स्थिति में में वृद्धि नहीं हुई है? क्या नैतिक मूल्यों का ह्रास नहीं हुआ है? क्या मानवीय मूल्यों के समक्ष संकट उपस्थित नहीं हुआ है? वस्तुतः प्रौद्योगिकीय प्रगति मानव की भौतिक संवृद्धि में जितनी सहायक है, मानव अस्तित्व के लिए उतनी ही भयावह भी हैं। आज जिस न्यूक्लियर युग में हम रह रहे हैं, युद्ध और संघर्ष, प्रगति और विकास के कारक नहीं रह गये हैं। जैसे वे पहले माने जाते रहे हैं। आज होने वाला नाभिकीय युद्ध सम्पूर्ण विश्व के लिए खतरा है। मानवता के अस्तित्व के लिए खतरा है तथा विश्व शांति के लिए तो भयंकर खतरा है ही। वर्तमान में रूस–यूक्रेन युद्ध इसका ताजा उदाहरण हैं। पिछले अठारह माह से चल रहा यह युद्ध सारी मानवीयता को समाप्त कर दिया है। विश्व के अन्य देश इस युद्ध को समाप्त कराने, दोनों के बीच शांति स्थापित करने के बजाय और युद्धक टैंक, बम–बारूद की सहायता देकर दोनों को आपस में लड़ाने में मदद पहुँचा रहा है। वहाँ लाखों लोगों की मृत्यु हो चुकी है तथा पर्यावरण को जो हानि पहुँचा है उसकी भरपाई सौ वर्षों में भी नहीं हो पायेगी। इसलिए प्रौद्योगिकी विकास के स्थान पर आधात्मिक विकास की आवश्यकता है। नैतिक मूल्यों को विकसित करने की आवश्यकता है।[6]

प्रौद्योगिकी दर्शन की चर्चा हो और पर्यावरण पर इसके प्रभाव की चर्चा किये बिना अधुरा होगा। प्रौद्योगिकी के विकास का परिणाम है कि जैव विविधता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। बड़े पैमाने पर प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, वृक्षों की कटाई जैसी गतिविधियों से धरती पर बड़े बदलाव हो रहे हैं। प्रदूषित वातावरण और प्रकृति के बदलते मिजाज के कारण जीव–जन्तुओं और वनस्पतियों की अनेक प्रजातियों का अस्तित्व संकट में पड़ गया हैं। कई प्रजातियों तेजी से लुप्त होती जा रही है। वनस्पति और जीव–जंतु ही धरती पर बेहतर और जरूरी पारिस्थितिकी तंत्र प्रदान करते हैं। वन्य जीव चूंकि हमारे मित्र भी हैं, इसलिए उनका संरक्षण किया जाना बेहद जरूरी हैं। लेकिन प्रौद्योगिकी के विकास का ठीक विपरीत प्रभाव इस पर पड़ रहा है। ब्रिटेन स्थित स्मिथ सोनियन एनवायरनमेंटल रिसर्च सेंटर के मुताबिक विश्व के केवल 2.7 फीसदी हिस्से में ही अप्रभावित जैव–विविधता बची है।

जलवायु परिवर्तन के कारण बढ़ रही गर्मी से भी जैव विविधता खतरे में पड़ी है। अमेरिका की यूनिवर्सिटी ऑफ एरिजोना के शोधकर्त्ताओं का मानना है कि अगले पचास वर्षों में वनस्पतियों और जीव–जन्तुओं की प्रत्येक तीन में से एक

यानी एक तिहाई प्रजातियों विलुप्त हो जाएगी। शोधकर्त्ताओं ने दुनियाभर के छः सौ स्थलों पर पाँच सौ से ज्यादा प्रजातियों पर एक दशक तक अध्ययन करने के बाद पाया कि अधिकांश स्थानों पर चौवालीस फीसद प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं। इस अध्ययन में विभिन्न मौसमी कारकों का अध्ययन करने के बाद शोधकर्त्ता इस नतीजे पर पहुँचे कि यदि गर्मी ऐसे ही बढ़ती रही तो 2070 तक दुनिया भर में कई प्रजातियाँ खत्म हो जायेगी। वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ क्राइम रिपोर्ट 2020 के मुताबिक वन्य जीवों की तस्करी भी दुनिया के पारिस्थितिकी तंत्र के लिए बड़ा खतरा बन कर उभरी है। रिपोर्ट के मुताबिक सर्वाधिक तस्करी स्तनधारी जीवों की होती हैं।[7]

इंटरनेशनल यूनियन फॉर कंजर्वेशन ऑफ नेचर (I.U.C.N) की वर्ष 2021 की रिपोर्ट के अनुसार दुनियाभर में वन्य जीवों और वनस्पतियों की हजारों प्रजातियों संकट में हैं और आने वाले वक्त में इनके विलुप्त होने की संख्या और दर अप्रत्याशित वृद्धि हो सकती हैं। आइयूसीएन ने करीब एक लाख पैंतीस हजार प्रजातियों का आकलन करने के बाद इनमें से सैंतीस हजार प्रजातियों को विलुप्ति के कगार पर मानते हुए खतरे की सूची में शामिल किया हैं। करीब नौ सौ जैव प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी है और सैंतीस हजार से ज्यादा प्रजातियों पर विलुप्त होने का संकट मंडरा रहा है। दुनिया के सबसे वजनदार पक्षी के रूप में जाने जाते रहे एलिफेंट बर्ड का अस्तित्व खत्म हो चुका है। इसी प्रकार एशिया तथा यूरोप में मिलने वाले रोएदार गैंडे की प्रजाति भी अब इतिहास के पन्नों का हिस्सा बन चुकी है। द्वीपीय देशों में पाए जाने वाले डोडो पक्षी का अस्तित्व मिटने के बाद अब कुछ खास प्रजाति के पौधों के अस्तित्व पर भी संकट मंडरा रहा है। हाल में स्टेट ऑफ वर्ल्ड वडर्स' नामक रिपोर्ट में यह तथ्य सामने आया है कि दुनिया में पक्षियों की करीब उनतालीस फीसदी प्रजातियों की संख्या स्थायी है और मात्र छः फीसद प्रजातियाँ ही ऐसा हैं, जिनकी संख्या बढ़ रही है जबकि अड़तालीस फीसद प्रजातियों की संख्या में गिरावट दर्ज की गयी हैं। पर्यावरण वैज्ञानिकों का कहना है कि जिस प्रकार जंगलों में अतिक्रमण कटाई, बढ़ता प्रदूषण और पर्यटन के नाम पर गैर जरूरी गतिविधियों के कारण पूरी दुनिया में जैव विविधता पर संकट मंडरा रहा है, वह पर्यावरण संतलुन बिगड़ने का साफ संकट है। अर्थात् प्रौद्योगिकी के विकास का यह एक नकारात्मक पहलू का अंश मात्र है।

वर्तमान में प्रौद्योगिकीय विकास का नकरात्मक प्रभाव हमारे प्रतिदिन की दिनचर्या पर भी देखने को मिलता है। हम प्रतिदिन भोजन के रूप में जिस भोज्य

पदार्थ का उपयोग करते हैं फल–फूल, सब्जी, दूध मिठाई इत्यादि सभी में कृत्रिम दवाईयों का प्रयोग किया जाता है जिसका मानव स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए इन सभी समस्याओं पर नैतिक दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है। हाल के दिनों में प्रौद्योगिकी के विकास रूप में आनुवंशिक फसलों से पैदा होने वाले खतरे सामने आया है। यह मामला न्यायालय तक पहुँच गया है। सरसों तेल के उत्पादन को बढ़ाने हेतु आनुवंशिक बीज के प्रयोग, उत्पादन से मानव जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इसी तरह बिटी कपास की फसलों में काम करने वाले मजदूरों में त्वचा संबंधी रोग तेजी से उभर कर सामने आए हैं। इस प्रकार देखा जाय तो प्रौद्योगिकीय विकास से मानव जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

अंत में प्रौद्योगिकी विकास के क्षेत्र में चिकित्सा से संबंधित कुछ बातों की चर्चा करना चाहूँगी वर्तमान में विज्ञान के विकास ने मानव के हर खुशी को धरती पर उतार दिया है। विज्ञान की देन है 'सरोगेट माँ' वह महिला जो माँ बनना चाहती है पर शारीरिक रूप से वह माँ बनने में सक्षम नहीं है विज्ञान ने उसे भी माँ बनने का मौका दे दिया है।[8] यह बहुत ही खुशी की बात है पर जिस तरह से इसका दुरूपयोग हो रहा है यह चिंता का विषय है। यदि इसके नैतिक पहलू पर विचार करें बच्चे को जन्म लेने में नौ माह का समय लगता है। इस बीच जिस महिला के भाड़े की कोख लिया जाता है लेने वाले दम्पत्ति के बीच यदि कोई विवाद हो जाता है किसी कारणवस दोनों के बीच तलाक हो जाता है तो फिर उस बच्चे का क्या होगा ? उसका माँ या पिता कौन होगा यह विचारणीय प्रश्न है। इसी तरह बच्चे को जन्म देने के क्रम में यदि महिलाओं की मृत्यु हो जाती है तो वैसी स्थिति में उसके लिए कौन उत्तरदायी होगा। इस तरह बहुत सारे सवाल है जिस पर चिंतन करने की आवश्यकता है। मानक नीतिशास्त्र इस तरह के गंभीर विषयों पर चिंतन करने को मजबूर करती है। यह नीतिशास्त्रीय निहितार्थ हैं।[9]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत की संस्कृति समन्वयवादी रही है। यह विज्ञान का विरोधी नहीं है। जिस तरह प्रौद्योगिकी का विकास हो रहा है विश्व में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए आवश्यक है। पर भारत शुरू से वसुधैव कुटुम्बकम में विश्वास करती रही है। यहाँ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः में विश्वास करती रही है। यह समष्टिवाद को आदर्श मानती है, त्याग और बलिदान को महत्ता देती है, विश्व कल्याण, विश्व बन्धुत्व के आदर्श को स्वीकार करती हैं।[10] इन सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने में प्रौद्योगिकी बाधक नहीं

है, बस आवश्यकता है संकीर्ण मानसिकता के घेरे से बाहर आने की पूर्वाग्रहों के त्याग की, स्वार्थवाद से मुक्ति पाने की तथा उदारवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद, धार्मिक सहिष्णुता और प्रकृति के प्रति प्रेम–जगाने की। इसी संदर्भ में गांधी जी ने ठीक ही कहा हैं– प्रकृति मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति के लिए सक्षम है पर लालच की पूर्ति नहीं कर सकती है। अतः मानव के प्रकृति के साथ मित्रवत् संबंध बनाने की आवश्यकता है। प्रकृति का हम जितना दोहण करते हैं उतना ही पोषण भी करने की आवश्यकता है। विज्ञान के इस युग में प्रौद्योगिकी की उपेक्षा नहीं की जा सकती है, पर साथ ही नीतिशास्त्रीय निहितार्थ को भी ध्यान में रखना होगा। हमें सपोष्य विकास की अवधारणा को अपनाना होगा।

संदर्भ

1. प्रो. नित्यानन्द, मिश्र – नीतिशास्त्र सिद्धांत और व्यवहार, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2004, पृ 510
2. झा एवं मिश्रा – आचारशास्त्र के मूल सिद्धांत, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली–1994, पृ. 231
3. जनसत्ता, नई दिल्ली 23 मई, 2022, पृ. 6
4. प्रो. नित्यानन्द, मिश्र – नीतिशास्त्र सिद्धांत और व्यवहार, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2004, पृ 511
5. शिवभानु सिंह, समाज दर्शन का परिचय, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद–1999 पृ. 558
6. वेद प्रकाश वर्मा, नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड नई दिल्ली–1982, पृ.–12
7. जनसत्ता, नई दिल्ली, 28 नवम्बर 2022, पृ. 6
8. डॉ. रमेन्द्र, अधिनीतिशास्त्र एवं व्यावहारिक नीतिशास्त्र, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली–2017, पृ. 203
9. जे. एन. सिन्हा, नीतिशास्त्र, जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी–मेरठ–1978, पृ. 337
10. शिवभानु सिंह, समाज दर्शन का परिचय, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद–1999, पृ. 563

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

भारतीय चिन्तन परंपरा में मनुष्य का उद्देश्य

*डॉ. मो. जियाउल हसन**

भारतीय वैचारिक क्षितिज पर समकालीन एवम् एक ज्वलंत विचार–राशि यह मानती है कि भारत पर आधुनिक जीवन और चिंतन पर अन्य प्रबल सभ्यताओं का आक्रमण हो रहा है जो भारत की सभ्यता के ठीक विपरीत है। उसकी मान्यता है कि इस परिस्थिति में भारत की सदियों पुरानी सभ्यता तभी जीवित रह सकती है जब वह इस अपरिपक्व, नए, आक्रमणशील तथा शक्तिशाली जगत का सामना अपनी आत्मा की उन नयी दिव्यतर रचनाओं के द्वारा करे जो उसके अपने आध्यात्मिक आदर्शों के साँचे में ढली हो।[1] अर्थात, इस विचार के अनुसार अपनी महत्तर समस्याओं का समाधान अपने पुराने ज्ञान को पूर्णता तथा गंभीरता के साथ पुनः प्राप्त करने में है।[2] जबकि प्राचीन भारत में ही हम अजित केशकम्बल जैसे लोगों की उपस्थिति भी हम पाते हैं जो परलोक नहीं है, देवादि प्राणी नहीं है। लोक में सत्य को प्राप्त कर श्रमण–ब्राह्मण नहीं है जो इस लोक–परलोक को स्वयं जानकर या साक्षात्कार कर दूसरों को बतला सके।[3] अस्तु, इसी परिप्रेक्ष्य में हम जानते हैं कि दार्शनिक प्रणालियों के मुख्य स्रोत को समझाने का प्रयास दर्शनशास्त्र में एक दिलचस्प प्रयास होता रहा है। अभीहाल तक, इस विषय में यह मानना लगभग एक आम बात रही है कि दर्शन या तो प्रकृति की समस्या से शुरू होता है, जिसका अर्थ वस्तुनिष्ठता है, या मनुष्य की समस्या, जो व्यक्तिपरकता को दर्शाता है। मनुष्य स्वयं दोनों का मिश्रण है अथवा प्रकृति में मनुष्य भी सम्मिलित है, यह पूर्णतया अज्ञात नहीं है, परंतु कदाचित् यह बात भूला दी गयी है और इसे एक–दूसरे पर डाला अध्यारोपित किया जाता रहा है।

ऐसा माना जाता है कि प्रारंभिक पश्चिमी सोच प्रकृति की समस्या से शुरू हुई थी। यूनानी विचारकों ने ब्रह्मांड के चरम तत्त्व पर आश्चर्य करना शुरू कर

** सहायक प्राचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना (पटना विश्वविद्यालय, पटना)*

दिया और इसलिए, वैध रूप से दावा किया जाता है कि वे पहले वैज्ञानिक भी थे। हालाँकि, यह केवल प्रकृति तक सीमित एक विशेष मामला नहीं हो सकता। कुछ लोगों ने स्वाभाविक रूप से मन की प्रकृति (नाउस) पर विचार किया है और कुछ लोगों ने विशेष रूप से सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ने मानव ज्ञान और मूल्यों की प्रकृति पर विचार किया है।

भारतीय दर्शन के मामले में, ऐसा लगता है कि इसकी शुरुआत दूसरे तरीके से हुई है। ऋग्वेद के द्रष्टा ने प्राकृतिक वस्तुओं पर आश्चर्य व्यक्त किया है, लेकिन वह केंद्र, जिसने उन्हें उनकी व्याख्या या उपयोग करने के लिए प्रेरित किया है, वह स्वयं मनुष्य रहा है। मानव स्वभाव के रहस्य को उजागर करना, मनुष्य के सार को पहचानना, पारंपरिक भारतीय प्रणालियों की प्राथमिक प्रेरणा रही है। आत्मानं विद्धि (स्वयं को जानो) भारतीय दर्शन का प्रमुख सूत्र है और यह ज्ञान, जैसा कि वेदों, उपनिषदों और उन पर आधारित अन्य प्रणालियों के माध्यम से विकसित हुआ है, केवल ज्ञान–मीमांसा से सम्बंधित नहीं है। जानना अस्तित्व के लिए हैय वे अंतर्प्रवेश करते हैं। विचार और क्रिया के बीच, ज्ञाता और कर्ता के बीच का द्वंद्व, मनुष्य के ठोस अस्तित्व के पार हो गया है। यह अपनी पूर्णता में पूर्ण मनुष्य (मोक्ष) है जो भारतीय प्रणालियों की खोज का उद्देश्य है। यह मनुष्य के सच्चे आत्म की प्राप्ति के लिए है, यह उसकी मुक्ति के लिए है जहाँ विचार, भावना और कार्य एक साथ आते हैं। यह दार्शनिक रूप दर्शन और धर्म के बीच कोई कठोर अंतर नहीं करता है। दर्शन मानव अस्तित्व का हैय अतः व्यवहार और कर्म में यही धर्म है। धर्म वह है जो मनुष्य को धारण करता है–यह जीवन का दर्शन है। दर्शन और धर्म एक दूसरे के पूरक हैं। वे ठोस मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को चित्रित करने के लिए एक साथ मिल जाते हैं, जो न केवल सोचता है बल्कि कार्य करता है और महसूस भी करता है। अपनी सभी विविधताओं और आयामों के साथ, जीवन एक है। इस अवधारणा को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि धर्म का ज्ञान ही जीवन का सबसे बड़ा गुरु है।

यह कुछ लोगों के लिए भ्रम का स्रोत रहा है जो हिंदू धर्म में आचार संहिता के अलावा कुछ भी देखने में विफल रहते हैंय यद्यपि इसका इनकार नहीं किया जा सकता कि समाज के सदस्यों के वैयक्तिक एवं पारस्परिक व्यवहारों को नियंत्रित और निर्देशित करने के लिए कुछ सामाजिक नियम होते हैं।[4] जीवन में अपार विविधता की स्वीकृति के साथ वास्तविक जीवन इन संहिताओं के अंतर्गत प्रवाहित होता प्रतीत होता है। पारंपरिक भारतीय रूढ़िवाद का अर्थ आमतौर पर वैदिक परंपरा है जिसमें वेद, उपनिषद, भगवद्गीता और दार्शनिक प्रणालियाँ

शामिल हैं, जो वेदों और उपनिषदों की शिक्षाओं पर आधारित हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म और जैन धर्म को वैदिक दर्शन से स्वतंत्र होने का दावा किया जाता है, लेकिन वे परंपरा द्वारा व्यक्त आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ पूर्ण सामंजस्य में हैं। केवल चार्वाक प्रणाली, हालांकि मनुष्य के लिए समान चिंता साझा करती है, सोच की एक बिल्कुल अलग श्रेणी प्रस्तुत करती हैयबल्कि वह अपने चरित्र में भौतिकवादी है और यह दावा किया गया है कि, कुछ क्षेत्रों में कुछ अधिक औचित्य के साथ, यह भारतीय सोच की एक और विशिष्ट परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है, यानी, अनात्मवाद की परंपरा।

यह दावा करना अतिशयोक्ति होगी कि वेद, दर्शन की स्पष्ट झलक प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद द्रष्टा ने प्राकृतिक वस्तुओं पर, प्रकृति में शक्ति की अभिव्यक्ति पर आश्चर्य किया है, लेकिन ऐसा नहीं है कि किसी प्रणाली से उन्होंने मनुष्य के दृष्टिकोण से भी सोचना प्रारंभ कर दिया है। उन्होंने उद्देश्य की समस्या उठाई है और घटनाओं के प्रवाह को ऐतिहासिक अर्थ दिया है। मनुष्य के उद्देश्य के प्रति यह चिंता उसे देवताओं की प्रार्थना करने और मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर के बीच सटीक संबंध की तलाश करने के लिए प्रेरित करती है।दर्शन धीरे–धीरे उपनिषदों के माध्यम से प्रणालियों में पूर्ण परिपक्वता तक पहुँचते हुए क्रिस्टलीकृत हो गया है। ऐसा लगता है कि जीवन के उद्देश्य और अर्थ का पता लगाने के लिए मुख्य समस्या प्रकृति और आध्यात्मिक वास्तविकता के साथ मनुष्य का संबंध रही है। इस प्रकार माना जाए तो भारतीय परंपरा को मानवकेंद्रित माना जाना चाहिए। कोई व्यक्ति या व्यक्ति की प्रशंसा करके और निरपेक्ष को तुच्छ बनाकर प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास कर सकता है। या, कोई व्यक्ति को तुच्छ बना सकता है और निरपेक्ष को भुना सकता है। तीसरा विकल्प दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करना हो सकता है।कुल मिलाकर भारतीय पारंपरिक प्रयास इस सामंजस्य को प्राप्त करने और इस सामंजस्य से सभी अर्थ निकालने का रहा है। कोई भी भारतीय प्रणाली यह नहीं मानेगी कि मानव जीवन उद्देश्य से रहित है। उद्देश्य को नकारना भारतीय परंपरा की मानवकेंद्रितता के विरुद्ध है। यह उद्देश्य क्या है यह सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है।

इस संबंध में कुछ प्रश्नों निम्नवत हैं जिनके उत्तर सेउपरिवर्णित उद्देश्य सम्बंधित समस्या के समाधान को समझने का प्रयास किया जा सकता हैः

1. पारंपरिक व्यवस्थाओं में मनुष्य की अवधारणा क्या है? क्या कोई एकता हैइस संबंध में?

1.1 क्या व्यक्ति के पास उद्देश्य का कोई विकल्प है?या, क्या नियति उसे नियंत्रित कर रही है, यानी, क्या कोई स्वतंत्र रूप से चुना गया उद्देश्य है या यह पूर्व निर्धारित है?

2. क्या प्रकृति में कोई टेलीओलॉजी है?

2.1 तो क्या, मानव टेलीओलॉजी प्रकृति में व्यापक टेलीओलॉजी का एक हिस्सा है, या,

2.2 क्या मानव टेलीओलॉजी प्राकृतिक टेलीओलॉजी का निर्धारक व कारक है?

3. हिंदू विचारधारा में ईश्वर का क्या स्थान क्या है?

इन सभी समस्याओं को निम्नलिखित तीन में संक्षिप्त किया जा सकता है और यह आलेख व्यक्ति की प्रकृति और उसके उद्देश्य को समझने के प्रयास में उनसे निपटने का प्रयास करेगा।

(क) व्यक्ति का प्रकृति से संबंध,

(ख) व्यक्ति का समाज से संबंध, और

(ग) व्यक्ति का ईश्वरध्पूर्ण से संबंध।

यदि सामान्य तौर पर भारतीय परंपरा विशुद्ध रूप से आस्तिक या निरपेक्ष दर्शन की वकालत करती है, तो ऐसी सर्वव्यापक वास्तविकता से स्वतंत्र रूप से विद्यमान प्रकृति के लिए बहुत कम गुंजाइश होगी। प्रकृति और मनुष्य वास्तविकता के अभिन्न अंग होंगे और इस तरह उनका संबंध एक ही संपूर्ण के विभिन्न भागों के बीच का होगा। यह मोटे तौर पर भारतीय दर्शन की विचारधारा हो सकती है। लेकिन बारीकी से जांच की जरूरत है. व्यक्ति और प्रकृति के बीच संबंध स्थापित करने के लिए जिन तार्किक विकल्पों के बारे में सोचा जा सकता है, वे निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं:

(i) प्रकृति अपने मूल्यों और उद्देश्यों के साथ मानव अस्तित्व के प्रति शत्रुतापूर्ण है

(ii) प्रकृति मानव अस्तित्व के प्रति उदासीन हैय

(iii) प्रकृति मानव उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुकूल है।

(i) भारतीय दर्शन में आम तौर पर ऐसा दृष्टिकोण देखने को नहीं मिलता जहाँ यह कहा जाता हो कि मानव अस्तित्व प्रकृति की योजना के अंतर्गत नहीं है। स्थान और समय की असीमता एक सामान्य पृष्ठभूमि रही है लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं है जो दर्शाता हो कि प्रकृति मानव अस्तित्व के प्रति शत्रुतापूर्ण है। तथाकथित प्राकृतिक बुराई को नैतिक दृष्टिकोण से समझाना होगा।

इस तरह के दृष्टिकोण के अभाव का एक प्रमुख कारण यह हो सकता है कि इसके स्वीकार करने पर, 'शारीरिक जीवन' ही प्राथमिक मूल्य बन जाता है क्योंकि इसके लिए मनुष्य को संघर्ष करना पड़ता है। तो, जो अन्य मूल्य हैं, क्या उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए?इस प्रकार के किसी ऑन्टोलॉजी पर आधारित मूल्य–संरचना में ये नीचे के अनुक्रम की ओर खिसक आते हैं। चार्वाक प्रणालीदार्शनिक रूप से ऐसी पृष्ठभूमि पर उपलब्ध करा देता है। प्रकृति को मानव जीवन के प्रति, यदि शत्रुतापूर्ण नहीं तो, उदासीन होना आवश्यक है। परिणामस्वरूप, जो मूल्य–संरचना विकसित होती है वह मुख्यतः भौतिकवादी होती है। शरीर, जिसे एक वस्तु के रूप में माना जाता है, एकमात्र मूल्य बन जाता है। हम जानते हैं कि भारतीय विचार परंपरा, जिसे आम तौर पर निराशावादी माना जाता है, निराशा की परंपरा नहीं है। यह मानव अस्तित्व को हमेशा मृत्यु की चुनौती का सामना करने वाले क्षणभंगुर इकाई के रूप में नहीं देखता है। प्रकृति कम से कम इसका इरादा नहीं रखती। फिर भी, भारतीदार्शनिक प्रणालियोंकेलिए शारीरिक मृत्यु का कोई विशेष अर्थ नहीं है।

(ii) मानवीय उद्देश्य के लिए अनुकूल प्रकृति को पूर्णतः उदासीन माना जा सकता है।मानव अस्तित्व के लिए इस तरह के दृष्टिकोण का अर्थ यह होगा कि इसमें कोई टेलीओलॉजी नहीं है।इसका अर्थ होगा कि वह अव्यक्त रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धांत भी मान्य नहीं है। भारतीय विचारकों द्वारा प्रकृति में उद्देश्यपूर्णता की बात की जाती है। परंतु कुछ मात्रा में प्रकृतिवाद को स्वीकार किया गया है।

(iii) प्रकृति में उद्देश्यपूर्णता को दो तरीकों से समझाया जा सकता हैः (ए) लौकिक उद्देश्य है और मानव इस उद्देश्य इसका केवल एक हिस्सा है। (बी) प्रकृति का अपना कोई उद्देश्य नहीं हैय लेकिन यह मानवीय या दैवीय उद्देश्य की पूर्ति करता है। इन दोनों विचारों की अपनी–अपनी कठिनाइयाँ हैं। यदि (ए) को अपनाया जाता है, तो प्रकृति की अपनी योजना के हिस्से के रूप में मानवीय मूल्य महत्वहीन हो सकते हैं। यदि (बी) की वकालत की जाती है, तो प्रकृति की व्याख्या पूरी तरह से मानवकेंद्रित हो जाती है और प्राकृतिक विज्ञान के स्वतंत्र विकास के खिलाफ जा सकती है।

ऐसा नहीं है कि पारंपरिक सोच शुरू से ही विभिन्न विकल्पों पर स्पष्ट रही है। मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रकृति के मानवीय प्रयासों के प्रति उदासीन होने की संभावना को प्रारंभिक वैदिक विचारकों द्वारा खारिज नहीं किया गया है, हालांकि प्रकृति में चारों ओर हमेशा प्रयोजनवाद की अंतर्धारा विद्यमान रही है जिसकी एक दिलचस्प तस्वीर ऋग्वेद प्रस्तुत करता है। इससे आगे पौराणिक

कथाओं की आड़ में प्रस्तुत सामान्य प्रकृतिवाद और दैवीय प्रयोजनता का दोहरा सुझाव हमें देखने को मिलता है। ब्रह्माण्ड को एक ओर यांत्रिक उत्पादन का परिणाम माना जाता है और दूसरी ओर ब्रह्म (वैदिक सोच के बाद के विकास मं सर्वोच्च) को प्रकृति में हर चीज के भौतिक कारण के रूप में देखा जाता है। ऐसे ही सर्वोच्च पुरुष को ब्रह्मांड में हर चीज का स्वामी और अमरता का स्वामी माना जाता है। चेतन और निर्जीव वस्तुएँ उसके प्रसार के अलावा और कुछ नहीं हैं। ऐसा माना जाता है कि सर्वोच्च पुरुष अपने केवल एक चौथाई हिस्से के साथ पूरे विश्व में व्याप्त है। वह समय से परे हैय क्योंकि वह एक साथ भूत, वर्तमान और भविष्य है।

दर्शन के बाद के विकास के दौरान प्रकृतिवादी एवंअन्य प्रवृत्तियों का परस्पर संबंध रहा है। विविध दार्शनिक चिंतन वाले विशाल वैदिक साहित्य में इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि इस मुद्दे पर पूर्ण एकता रही होगी। लेकिन घटनाओं के प्राकृतिक प्रवाह को पूरी तरह से नकारे बिना प्रकृति को किसी प्रकार की व्यापक प्रयोजनता का श्रेय देने में आम सहमति रही है। उपनिषदों में, प्रकृ ति को कमोबेश दैवीय उद्देश्य को पूरा करने के रूप में देखा जाता है और कुछ आस्तिक प्रणालियों में इसे और विकसित किया गया हैय लेकिन प्रकृति की सीमित स्वतंत्रता पूरी तरह से छीनी नहीं गई है। दृष्टिकोण में सहमति को दो दार्शनिक प्रणालियों के संदर्भ में सामने लाया जा सकता है, एक ईश्वर में विश्वास और दूसरा इस तरह के विश्वास के बिना। न्याय प्रणाली ईश्वर को स्वीकार करती है और सांख्य इसे अस्वीकार करता हैय लेकिन वे दोनों प्रकृति में उद्देश्यपूर्णता में विश्वास करते हैं, हालांकि अलग–अलग डिग्री में। मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह है कि प्रकृति में टेलीओलॉजी कभी–कभी स्वतंत्र हो सकती है।

सांख्य दर्शन प्रकृति में स्वतंत्र टेलीओलॉजी प्रस्तुत करता है। इस प्रणाली में दो मूलभूत वास्तविकताओं को स्वीकार किया जाता है–पुरुष और प्रकृति। पुरुष का अर्थ है शुद्ध चेतना या आत्मा। प्रकृति अचेतन सिद्धांत है, पुरुष को छोड़कर बाकी सभी चीजों का गतिशील कारण यही मैट्रिक्स है। पुरुष अपरिवर्तनीय, निष्क्रिय और शाश्वत है। यह अपने स्वभाव से शुद्ध एवं स्वतंत्र है। लेकिन चेतना अनुभव के विषयों, यानी सामान्य व्यक्तियों में शरीर के साथ मिलकर प्रकट होती है। पुरुष का प्रकृति पर कोई नियंत्रण नहीं है। सत्व, रजस और तमस जैसे तीन आवश्यक घटकों (गुणों) से बनी प्रकृति हमेशा विकसित हो रही है। यह विकास दो प्रकार का है सजातीय (स्वरूपावस्था) और विषमांगी (विरूपावस्था)। सजातीय विकास में गुण स्वयं में बदल जाते हैं और प्रकृति इस स्तर पर गैर–रचनात्मक होती है। लेकिन विषम विकास में ये तत्व एक दूसरे के साथ

मिश्रित हो जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप प्रकृति की चीजों का उद्भव होता है। मानव शरीर स्वयं प्रकृति का एक उत्पाद है और सामान्य अहं या व्यक्ति चेतना का एक मिश्रण है और शरीर अचेतन प्रकृति का एक उत्पाद है। व्यक्ति की जो गतिविधि है वह प्रकृति के योगदान के कारण है जिसमें गतिविधि और परिवर्तन का सिद्धांत शामिल है। प्रकृति को रचनात्मक (विषम) विकास की ओर ले जाने के लिए पुरुष एक उत्प्रेरक के रूप में मौजूद है।

इस विकास की पूरी योजना एक अजीब तरीके से जानबूझकर की गई प्रतीत होती है। पुरुष के आनंद के लिए ही प्रकृति विकसित होती है। प्रकृति अलग–अलग पुरुषों की गतिविधियों की क्षमता के अनुसार उनके सुख और दुख के लिए विकसित होती है।प्रकृति इस प्रकार पुरुष को अंतरंग तरीके से संलग्न करती है और पुरुष अपने शरीर या प्रकृति के उत्पादों के साथ खुद को गलत तरीके से पहचानता है। लेकिन प्रकृति न केवल बांधती है पुरुष बल्कि प्रकृति से उसके भेद को समझकर उसे अपने स्वरूप का एहसास करने में भी मदद करता है। इस प्रकार प्रकृति हमेशा एक उद्देश्यपूर्ण तरीके से आगे बढ़ती हैय अर्थात् चारों ओर प्रयोजनवाद ही प्रतीत होता है।सांख्य प्रणाली का यह सिद्धांत, जो कि दर्शन की सबसे पुरानी प्रणालियों में से एक है,ब्रह्मांडीय प्रयोजनवाद की कठिनाइयों से बचने की कोशिश करता है जो तार्किक रूप से मानवीय उद्देश्य से स्वतंत्र हो सकती है। प्रकृति का उद्देश्य, व्यक्ति और ईश्वर दोनों से पूरी तरह स्वतंत्र, उसके नैतिक मूल्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रदान करके उसकी सहायता करने में मानवीय उद्देश्य की पूर्ति करना है।

प्रकृति के आस्तिक दृष्टिकोण में मूल अवधारणा भिन्न नहीं दिखती। विचार के लिए कोई वैष्णव दृष्टिकोण अपना सकता हैय क्योंकि ऐसा माना जाता है कि यह भारतीय आस्तिकता का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करता है। यह पूरे ब्रह्माण्ड को भगवान् विष्णु का या यूँ कहेंईश्वर का लीलाक्षेत्र (खेल का मैदान या खेल) मानता है। प्रकृति को ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में माना जाता है जो इसे पीठ के रूप में प्रदान करता है– भक्तों के लिए भगवान के साथ अपनी एकता स्थापित करने का आधार। भक्त उनके अंश हैं और प्रकृति व्यक्तियों को धार्मिक यात्रा करने के लिए आवश्यक क्षेत्र प्रदान करती है। इस सोच में प्रकृति को ब्रह्मांड को दिव्य उद्देश्य का एक हिस्सा माना जाता है। ईश्वर के लिए प्रकृति शरीर के समान है।

चार्वाक को छोड़कर, शरीर की पहचान मानव आत्मा से नहीं की गई है और न ही इसे उसी अर्थ में आध्यात्मिक माना गया है। लेकिन प्रकृति की उपज के रूप में शरीर का मानव आत्मा से गहरा संबंध माना गया है। चेतना को सामान्यतः मूर्त माना जाता है। शरीर केवल एक 'वस्तु' नहीं है – यह एक मूल्य है, भले ही

वह बाह्य हो। यह कुछ हद तक नैतिक मूल्यों द्वारा निर्मित होता है और व्यक्ति की मुक्ति में सहायक होता है। यह व्यक्तिपरकता का एक स्तर प्राप्त कर लेता है। इसकी तुलना उस मंदिर से की जाती है जहाँ चेतना रहती है। इसकी तुलना एक ऐसे रथ से की जाती है जिसमें घोड़ों के समान इंद्रिय और अन्य गतिशील अंग होते हैं। यह रथ चेतना से संचालित होता है और व्यक्ति इस रथ का स्वामी है। पारंपरिक मूल्य–संरचना में शारीरिक मूल्य को आम तौर पर उपेक्षित नहीं कियागया है, हालांकि इसे अपने आप में मूल्यवान नहीं माना जाता है। योग के माध्यम से इसे उचित रूप से शरीर को प्रशिक्षित और नियंत्रित करके उस आदर्श की प्राप्ति में सहायक हुआ जा सकता है जो पूर्णता है। शरीर के प्रति इस दृष्टिकोण को प्रकृति के मूल्यांकन के भारतीय तरीके का प्रतिनिधित्व करने के लिए लिया जा सकता है। नैतिक जीवन की पृष्ठभूमि मनुष्य ही प्रतीत होता है। प्रकृति का पृथक् अस्तित्व भारतीय दर्शन में कोई विशेष समस्या खड़ी नहीं करता। टेलिओलॉजिकल योजना में, प्रकृति से व्यक्ति तक का मार्ग कठिन नहीं है। अस्तित्व जानने के लिए है और जानने से अस्तित्व का अधिक से अधिक एहसास होता है। प्रकृति की उद्देश्यपूर्णता का तात्पर्य यह नहीं है कि यह सत्तामूलक रूप से गौण या व्युत्पन्न है। इसकी स्वतंत्रता और प्रयोजन एक साथ चल सकते हैं।

निष्कर्ष के तौर पर अब तक की गई चर्चाओं के माध्यम से प्राप्त उत्तरों को संक्षेप में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता हैः–

1. मनुष्य और प्रकृति के बीच कोई कठोर द्वैतवाद नहीं है। मनुष्य प्रकृति को अपने भीतर समाहित करता है, जैसे प्रकृति उसे अपने भीतर समाहित करती है।

(i)प्रकृति उद्देश्यपूर्ण है, भले ही इसका स्वरूप पूर्णतः भौतिक हो। प्रकृति को 'आत्म निर्माण की घाटी' कहा जा सकता है।

(ii)कर्म का नियम एक अर्ध–प्राकृतिक नैतिक कानून है जो नैतिक अनुसरण के संरक्षण की गारंटी देता है।

(iii)व्यक्ति एक प्रकार से नियति के वशीभूत हैं। लेकिन नियति उसकी अपनी रचना है. व्यक्ति कोई पूर्व–निर्धारित मशीन नहीं है, बल्कि नियमों के तहत काम करने वाला एक स्वतंत्र एजेंट है।

(iv)मूल्य वास्तविक हैं, पूर्णता सर्वोच्च मूल्य है। मनुष्य का आध्यात्मिक विकास उसके भौतिक और प्राणिक अस्तित्व को तोड़ने और धीरे–धीरे पूर्ण स्वतंत्रता में आनंदमय अस्तित्व के स्तर तक पहुंचने से शुरू होता है।

(v)विकास भौतिक जीवन की अनिश्चित श्रृंखला के माध्यम से चलता है, जिसमें आत्मा के विभिन्न शरीरों से जुड़े होने की संभावना होती है।

(vi)अशरीरी व्यक्तियों की धारणा आवश्यक रूप से सुझाई नहीं गई है, लेकिन शरीर बदलने में या शरीर के बिना भी आत्मा की निरंतरता पारंपरिक धारणा प्रतीत होती है।

शेष रहा प्रश्न व्यक्ति की सटीक प्रकृति और उसकी प्राप्ति या सिद्धि के बारे में। भारत की आत्मवादी परंपरा में व्यक्ति के लिए सर्वोच्च मूल्य मोक्ष या मुक्ति हैय लेकिन यह एकमात्र मूल्य नहीं है और न ही सभी मूल्य सामाजिक हैं। भारतीय परंपरा में आमतौर पर स्वीकार की जाने वाली मूल्य–संरचना (पुरुषार्थ) पूर्णता को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार करने में एकमत दिखाई पड़ता है। हालाँकि, इसे अचानक प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अन्य व्यापक, बाह्य मूल्य भी हैं और उन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। अन्य मूल्य 'अर्थ', 'काम' और धर्म' हैं जो आर्थिक मूल्यों, सुखमय मूल्यों और इन सभी आदर्शों के बीच उचित सामंजस्य का प्रतीक हैं। सामान्य परिस्थितियों में व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है जिसे समाज के सदस्य के रूप में सामान्य मूल्यों को आगे बढ़ाने का आदेश दिया गया है। यह तर्क दिया जा सकता है कि व्यक्ति के आध्यात्मिक मूल्यों पर अत्यधिक जोर देने के कारण मनुष्य के सामाजिक पहलू का अवमूल्यन हो जाता है। व्यक्तिगत मूल्यों के परिवर्तन पर सामाजिक मूल्यों की बलि दी जा सकती है। हालांकि ऐसी मान्यता में पूर्ण सत्यता नहीं है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय परंपरा में सर्वोच्च मूल्य सामाजिक मूल्यों से परे स्वीकार किया जाता है। किन्तु, सामान्य सामाजिक जीवन की महत्ता को कहीं भी गौण नहीं माना गया है। बल्कि, भारतीय परंपरा में मनुष्य के परम लक्ष्य को केंद्र में रखकर सामाजिक सामाजिक प्रतिमानों को संहिताबद्ध करने के कई प्रयास हुए हैं।[5]

संदर्भ

1. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग,पॉ.डिचेरी, 2007, पृष्ठ– 427
2. राधाकृष्णनय सर्वपल्ली, स्वतंत्रता और संस्कृति, गीतांजलि प्रकाशन, दिल्ली, 2020, पृष्ठ– 13
3. देवराजय डॉ. एन.के., भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1975, पृष्ठ– 69
4. पाटिलय डॉ. अशोक डी., समाजशास्त्रीय अवधारणा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2001, पृष्ठ– 154
5. सिंह य डॉ. बद्रीनाथ, नीतिशास्त्र, स्टूडेंट्स फ्रेंड्स एंड कंपनी, वाराणसी, 1995, पृष्ठ दृ 339

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

पातंजल योगदर्शन में मनोविकारों का स्वरूप

डॉ. लीला कन्याल *

मानसिक स्वास्थ्य का मूल आधार मन है, शरीर का स्वरूप स्थूल होने के कारण इसके रोग एवं विकृतियां सरलता से समझ में आते हैं और तदनुरूप उपचार भी होते हैं। किन्तु मन की प्रकृति सूक्ष्म है, इस कारण मनोरोग दिखाई नहीं पड़ते हैं। सामान्यतः इनकी जानकारी न होने के कारण उपेक्षा की स्थिति बनी रहती है। मानसिक व्याधियों से मनुष्य एवं समाज का जो अहित होता है वह शारीरिक बीमारियों से होने वाली हानि की तुलना में किसी भी प्रकार कम भयंकर नहीं है। बल्कि यह अधिक घातक एवं विनाशकारी है। आज समूची मानव जाति मानसिक स्वास्थ्य के गम्भीर संकट से गुजर रही है। बच्चा हो या बड़ा, स्त्री हो या पुरूष, शिक्षित एवं अशिक्षित सभी किसी न किसी रूप में मनोविकार एवं व्यक्तित्व विघटन के शिकार हैं। आज वैज्ञानिक प्रगति के साथ भौतिकता चकाचौंध ने स्थिति को और विपत्र बना दिया है। भोगवाद में ही जीवन का आदि अन्त खोज रहा है। मानव विखण्डन एवं विक्षिप्तता के नए–नए प्रतिमान गढ़ रहा है।

ध्यानतव्य है कि प्रस्तुत शोध पत्र की ध्येयता ही 'पातंजल योगदर्शन' के सम्बन्ध में मनोविकारों का स्वरूप को स्पष्ट करना है। यह स्पष्टीकरण निम्न बिन्दुओं के माध्यम से किया जायेगाः–

मनोविकारः–मनोविकार का अर्थ मन की अशांति है। आज मनोविकार की समस्या विकराल रूप लेती जा रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (who) की एक रिपोर्ट के अनुसार इस समय विश्व में लगभग चालीस करोड़ लोग मानसिक रोगों की चपेट में हैं। उचित उपचार न मिल पाने के कारण इनमें अधिकांश नारकीय जीवन की यंत्रणा झलने के लिए विवश हैं। अपनी बीमारी से तंग आकार कई

** पी.डी.एफ., दर्शनशास्त्र विभाग, हे.न.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल) उत्तराखण्ड*

तो आत्महत्या जैसे जघन्य कृत्य तक कर बैठते हैं। हमारे देश में हर छः मिनट में एक आत्महत्या, इसकी गम्भीर स्थिति को स्पष्ट करती है। इस चितांजनक एवं गम्भीर स्थिति का कारण जहां मनोरोगों के प्रति अज्ञानता है, वही उपलब्ध उपचार की भ्रांतिपूर्ण, त्रुटिपूर्ण एवं उथली प्रक्रियाएं भी कम दोषी नहीं हैं।

दैनिक जीवन की कठिनाईयों, उतार–चढ़ाव, चिन्ता, भय, बेचैनी एवं घबराहट इत्यादि स्थितियों से गुजरना पड़ता है। ये सब व्यक्ति मानसिक रोगी नहीं कहे जाते हैं। निराशा का जन्म गंभीर कारण से, यदि एक सामान्य अवधि के बाद वह कम न हो तो निश्चय ही असामान्य लक्षण हताशा मनोरोग या मनोविकार कहलाता है। अतः मनोविकार और कुछ नहीं कुचली, मसली, रौदी हुए भावनाएं हैं, यह दशा हमारे अपने परिवेष के दूषित चिन्तन के कारण होती है।

योगदर्शन में मनोविकारों का कारणः– मानसिक स्वास्थ्य पर समग्र रूप से विचार करने वाली यौगिक दृष्टि मनोविकारों के कारणों पर भी सूक्ष्मतम एवं आत्यांतिक रूप से विचार करती है। योग पद्धति चिकित्सा की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न रही है। यहां उद्देष्य समाधि की पूर्ण स्वस्थ अवस्था को प्राप्त करना है। इसमें विघ्नकारी तत्त्वों के रूप में ही यहां मन के विकारों पर चिन्तन किया गया है। इस सन्दर्भ में 'मन एवं मनुष्याणाम् कारण बन्धन मोक्षयो' की उक्ति प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार मन को ही मनुश्य के बन्धन एवं मुक्ति का कारण बताया गया है। यदि मन आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर उन्मुख है तो यह स्वास्थ्य, मुक्ति एवं स्वतंत्रता का हेतु है। यह इस लक्ष्य से विमुख है तो ऋषियों के अनुसार यह स्वतः ही विविध रोगों, बन्धनों एवं दुःख–संतापों का कारण बनेगा। चित्त की यह अवस्था ही अनेक प्रकार के मनोविकारों की उर्वर भूमि सिद्ध होती है। पातंजल योगदर्शन में मनोविकारों के मूल कारणों के रूप में पंचक्लेश का विचार प्रतिपादित है। पंचक्लेष अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेश एवं अभिनिवेश।[1] यह निम्न हैं:–

(1) अविद्या–यह अज्ञान का पर्याय है। अनित्य, अपवित्र, दुःख, एवं आनात्म विशयों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि रखना अविद्या है।[2] इसी कारण मनुष्य नष्वर को शाश्वत मान इसी को अपना आदि अन्त मान बैठता है। मल, मूत्र एवं विकार युक्त शरीर को परम पवित्र वस्तु मान आत्मा से भिन्न इन्द्रियों, चित्त, स्त्री, पुत्र, धन, मकानादि जड़ एवं चेतन अनात्म पदार्थों एवं तत्त्वों को आत्म स्वरूप मान बैठता है। जगत् के सुख एवं भोग में ही जीवन की सार्थकता अनुभव करता है। यौगिक दृष्टि में जीवन के प्रति यह भ्रम एवं भटकावपूर्ण चिन्तन पद्धति ही मनोविकारों का मूल कारण है।

(2) अस्मिता–पुरूष (दृक्शक्ति) तथा चित्त या (दर्शनशक्ति) दोनों भिन्न होते हुए भी उनकी जो अभिन्न प्रतीति होना अस्मिता है।[3] यौगिक दृष्टि में प्रकृति

या मन जड़ परिणामी क्रियाशील दृश्य हैं, और पुरूप या आत्मा, चैतन्य, अपरिणामी, निष्क्रिय एवं द्रष्टा हैं। दोनों नितान्त भिन्न हैं, किन्तु अस्मिता के कारण दोनों अभिन्न प्रतीत होते हैं। इसी कारण आत्मा द्रष्टा होते हुए भी मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ, मैं बीमार हूँ, मैं हूँ आदि भ्रम भ्रान्तियों में उलझा रहता है। मैं और मेरेपन की यह अति ही मन को आत्मा से विमुख कर विविध मनोविकारों को जन्म देती है।

(3) राग—राग का अर्थ सुखद अनुभूति। अविद्या से उत्पन्न अहंकार, मन, इन्द्रिय एवं शरीर द्वारा संसार के अनेक भोगों को भोगता है। जिसमें सुख मिलता है, उन विषयों के प्रति प्रेम ही राग है।[4] इसी महामोह के कारण व्यक्ति सुख भोगों के पीछे एवं तृष्णा से युक्त रहता है। राग भ्रमजंजाल के नशे में व्यक्ति बुद्धि विवके की शक्ति खो बैठता है। संसार सुख एवं विषय भोगों के दास बनकर रह जाता है। विविध मनोरोग इसी दशा में आकार लेते हैं। जिनकी विकरालता द्वेष के कारण और भयंकर हो जाती है।

(4) द्वेष—द्वेष का अर्थ ईर्ष्या है। राग से ही द्वेष जन्म लेता है। रागजन्य वस्तु या भोग में बाधा द्वेष का कारण बनती है। इसलिए राग एवं द्वेष दोनों अभिन्न रूप से जुड़े है। दुःख भोग के पश्चात् रहने वाली घृणा की वासना को द्वेष कहते हैं।[5] द्वेष से आवेषित मूढ़बुद्धि विविध मनोविकारों की जननी है।

(5) अभिनिवेश—विद्वान एवं मूर्ख सभी प्राणियों में स्वाभाविक रूप से मृत्यु का जो भय रहता है, इसे अभिनिवेश कहते हैं।[6] यह अस्मिता अविद्या से ही उत्पन्न होता है। भय अज्ञान के कारण होता है ज्ञानी व्यक्ति को भय नहीं होता है। भय की यह मूलप्रवृत्ति विविध रूपों में पोषण पाने से कई तरह के मनोरोगों को जन्म देती है।

भारतीय विद्याओं की गौरवशाली परम्पराओं में आयुर्वेदज्ञान का स्थान उलेखनीय है। आयुर्वेद में मनोरोगों के तीन प्रमुख कारण हैंः—1 प्रज्ञापराध 2 असात्म्येन्द्रिया संयोग 3 परिणाम।[7]

योगदर्शन में मनोविकारों का स्वरूप एवं लक्षण—योग चरम स्वास्थ्य का विज्ञान है, जिसका अभीष्ट आत्मसाक्षात्कार एवं समाधि की पूर्णावस्था की प्राप्ति है। योग पद्धति चिकित्सात्मक होने की बजाय साधना प्रधान है। यहाँ आध्यात्मिक साधना में मानसिक आरोग्य एक आवश्यक शर्त रही है। इसे प्राप्ति किये बिना आध्यात्मिक साधना सम्भव नहीं है। पातंजलयोग में मनोविकारों के स्वरूप एवं लक्षणों का विषय योग साधना के मार्ग में आने वाले विघ्न व्यवधानों के रूप में किया गया है, इन्हें 'चित्त विक्षेप' की संज्ञा दी गई है। चित्तविक्षेप नौ हैंः—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व एवं अनवस्थितत्व।[8] यह निम्नलिखित हैंः—

(1) व्याधिः—व्याधि का अर्थ रोग है। वात, पित्त एवं कफ तीन धातु हैं।[9] शरीर या इन्द्रिय समुदाय में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न होना 'व्याधि' है। इस दशा में चित्त में बेचैनी बढ़ती है।

(2) स्त्यानः—स्त्यान का अर्थ है मानस आलस्य। महर्षि व्यास ने चित्त की अकर्मण्यता को स्त्यान कहते हैं।[10] पत्नी का मोह, पुत्रों की आसक्ति, विषय भोग की इच्छा एवं जीविकोपार्जन के व्यापार चित्त को उलझाये रखते हैं। इससे मन में सक्रियता का अभाव हो जाता है।

(3) संशयः—संशय का अर्थ है संदेह। जैसे हम कहते है कि ऐसा भी हो सकता है, ऐसा नहीं भी हो सकता है, यह संशय है।[11] क्या मुझे सफलता मिलेगी? क्या मेरा परिश्रम व्यर्थ चला जाए? यह संशयात्मक मनोरोग विघ्न है। इसमें साधक का चित्त एकाग्र नहीं हो पाता है।

(4) प्रमादः—प्रमाद का अर्थ अंतः करण की दुर्बलता है। प्रमाद अविवेक से उत्पन्न होता है। योग साधनों में उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति न होना प्रमाद कहलाता है। प्रमाद में व्यक्ति अभीष्ट कर्त्तव्य कर्म को नहीं कर पाता हैं, जिससे वह विक्षिप्त बना रहता है।

(5) आलस्यः— आलस्य का अर्थ सुस्ती है। तमोगुण की अधिकता के कारण षरीर में भारीपन हो जाना और इसके कारण साधना में प्रवृत्ति न होना है 'आलस्य' है।[12] अतः शरीर में आलस्य से उत्पन्न निष्क्रियता चित्त विक्षेप का मुख्य कारण है।

(6) अविरतिः— अविरति का अर्थ बेचैनी है। पत्नी पुष्प आदि की सुगन्ध एवं स्वादिष्ट भोज्य पेय आदि।[13] विषय संयोग से उत्पन्न अभिलाषा राग अविरति है।[14] इस तरह इन्द्रियों का विषय भोगों से न हटा सकना विक्षेप का कारण है।

(7) भ्रान्तिदर्शनः— भ्रान्ति का अर्थ अयथार्थ ज्ञान है। व्यास ने विपरीतज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहा है।[15] जब योगी साधक असाधनों को साधन समझने लगते हैं यह भ्रान्तिदर्शन विघ्न बन जाता है। भ्रम की यह मनोदशा भी विक्षेप का एक प्रमुख कारण है।

(8) अलब्धभूमिकत्व (मानसिक अस्थिरता):—योग अभ्यास जैसे—जैसे आगे बढ़ता है वैसे—वैसे योगी साधक भूमियों की प्राप्ति नहीं होती है। इससे साधक का उत्साह शिथिल पड़ जाता है। मन के अस्थिर होने से विक्षेप उत्पन्न होता है, जिसे वह ध्यान नहीं कर पाता।

(9) अनवस्थितत्व (मानसिक बेचैनी):—मधुमती आदि भूमियों में से किसी एक की प्राप्ति हो जाये किन्तु उसमें निरन्तर चित्त की स्थिति न हो तो यह अनवस्थितत्व कहलाता है।[16] इससे मनोभूमि डांवाडोल रहती है व विक्षेप की स्थिति बनी रहती है।

मनोविकारों के पांच साथीः—चित्तविक्षेप के पंच साथी को सहभू भी कहते हैं। दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास एवं प्रश्वास।[17] यह निम्नवत् हैंः—

(1) दुःखः—दुःख का अर्थ विपत्ति है। दुःख जिसके साथ सम्बन्ध होने से पीड़ित हुए प्राणी उस प्रतिकूल वेदनीय हेय दुःख की मुक्ति के लिये प्रयत्न करते हैं[18] उसे दुःख कहते हैं। मानव जीवन में तीन प्रकार के दुःख हैं आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख एवं आधिदैविक दुःख।

(2) दौर्मनस्यः—मन की इच्छा पूर्ति न होने से चित्त में जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे दौर्मनस्य कहते हैं।[19] जब प्रयास करने पर भी साधक की इच्छा पूति नहीं होती तो चित्त व्याकुलित होता है।

(3) अंगमेजयत्वः—शरीर के अंगों का कम्पित होना अंगमेजयत्व है।[20] व्याधि आदि अन्तराय शरीर को दुर्बल करते हैं जिससे शरीर के अंगों में कम्पन्न होता है।

(4) श्वासः—वह प्राण जो बाह्य वायु का नासिकाग्र के द्वारा आचमन करता है वह श्वास कहलाता है।[21] यह प्राण क्रिया यदि निरन्तर चलती रहे, कुछ समय के लिये भी न रूके तो चित्त समाहित नहीं हो सकता है।

(5) प्रश्वासः—प्राणी भीरत की वायु को बाहर निकालते हैं इसे प्रश्वास कहा गया है। यह प्रश्वास क्रिया भी निरन्तर चलती रहती है। यह भी समाधि के अंगभूत पूरक प्राणायाम का विरोधी होने से समाधि का विरोधी है।[22] पंच विघ्र विक्षिप्त चित्त में ही होते हैं एकाग्र चित्त में नहीं।

आधुनिक मनोविज्ञान में मनोरोग के तीन प्रकार हैंः—1 मनस्ताप (Neurosis), 2 मनोविक्षिप्तता (Psycosis), 3 व्यक्तित्व विकार (Personality Disorders)।

मनोविकारों का निवारण :—योग पद्धति मनोपचार के विषय पर आत्यांतिक दृष्टि से विचार करती है। इसके अनुसार मानसिक रूग्णता का मूल कारण चित्तवृत्तियों का बाह्य विषय वस्तुओं में आसक्ति, उलझाव एवं बिखराव है। इन्हें यदि समेटकर अंतर्मुखी किया जाय, आत्मचेतना (पुरूष) की मूल सत्ता में प्रतिष्ठित किया जाए तो चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाएगा। स्वतः ही पूर्ण स्वास्थ्य की स्थिति प्रकाशित हो उठेगी।

(1) अभ्यास एवं वैराग्यः— चित्त विकारों की निवृत्ति अभ्यास एवं वैराग्य से होती है।[23] चित्त की स्थिरता के लिए किया गया प्रयत्न अभ्यास है।[24] अभ्यास को निरन्तर करते हुए सिद्धि को प्राप्त करना उसके उपायों को बतलाते हैं कि अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्ता पूर्वक एवं निष्ठापूर्वक करना चाहिए।[25] अभ्यास के द्वारा चित्त की चंचलता की निवृत्ति रूप स्थिरता होना निश्चित है। वैराय दृष्टि

अर्थात् लौकिक रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द विषयों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होना तथा अदृष्ट अर्थात् अलौकिक पूर्ण रूप से वशीकार अर्थात् अधिकार प्राप्त कर लेना वषीकार संज्ञा नाम का वैराग्य कहलाता है।[26]

(2) क्रियायोगः—जिन साधको का चित्त समाहित नहीं है उनको क्रियायोग का अभ्यास करना चाहिए। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान का अभ्यास करते हुए इनको अपने जीवन में धारण करने का नाम क्रियायोग है।[27] मनोभूमि में अचूक परिवर्तन होने से दूषित विचार मन से सहज रूप से निकल जाते हैं।

(1) तपः—तप का अर्थ प्रज्जवलित करना है। इन्द्रियों को अनुचित विषयों से रोकना ही तप है। महर्शि व्यास तप द्वन्द्व सहन करने की क्रिया है।[28] व्यासमुनि लिखते हैं कि जो तपस्वी नहीं है उसको योग सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि क्लेश वासनाओं से अनादिकाल से चित्त आच्छादित है ये वासनाएं बड़े ही चित्त—विचित्त हैं। समस्त चित्त विक्षेप आवरण से परिपूर्ण है। तप के द्वारा ही उन ग्रन्थियों का भेदन किया जा सकता है।[29] तप के प्रभाव से अशुद्वियों का क्षय होता है।

(2) स्वाध्यायः—प्राचीनकाल में ऋषि—मुनि एवं महापुरूष स्वाध्याय के माध्यम से जीवन को सही दिशा प्रदान कर चेतना की उच्च अवस्था को प्राप्त करते थे। स्वाध्याय स्वयं के परिष्कार व आत्मोथान के लिए आवश्यक अंग है। व्यास ओम् का जप करना एवं मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है।[30] स्वाध्याय से भ्रम, गलत धारणा एवं गलत विचार दूर हो जाते हैं।

(3) ईश्वरप्रणिधानः— साधक जितने भी कर्म करता है उन सब क्रियाओं एवं कर्मो को परम गुरु ईश्वर के लिए समर्पित कर देने का नाम ईश्वरप्रणिधान है। इसके साथ ही उन कर्मों के फल के प्रति किसी भी प्रकार की कामना न होना ईश्वर प्रणिधान है।[31] चित्त विकारों को दूर करने के लिये ईश्वर रूप एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।[32] जिसके फलस्वरूप मानसिक सुख एवं शांति की प्राप्ति होती है।

(3) अष्टांगयोगः— यह आठ अंग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि।[33] यह निम्नवत् हैं:—

(1) यम—नियमः— यम माध्यम से हम व्यवहार को परिष्कृत करते हैं। यम पांच हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।[34] यम व्रत (कर्त्तव्य) है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालन करने योग्य है। सामाजिक जीवन को एक मर्यादा में अनुशासित करते हैं। स्वयं के व्यवहार की शुद्धिकरण की जो प्रक्रिया है वह नियम कहलाता है। नियम पांच हैं— शौच, संतोश, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान।[35] यम—नियम का दीर्घकालीन अभ्यास व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों एवं मन पर अद्भुत नियंत्रण प्रदान करता है। जिससे मनोविकारों का शमन होता है।

(2) आसनः— जो स्थित एवं सुखदायी हो वह आसन है।[36] आसन चित्त की चंचलता को रोकती है। मनोरोगों के लिए प्रायः शीर्शासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, हलासन, चक्रासन आदि हैं। स्नायु दुर्बलता में उत्तानपदासन, पदांनुष्ठासन एवं ताड़ासन हैं तथा मानसिक शांति के लिए शवासन बताए जाते हैं।

(3) प्राणायामः— प्राण जीवनी शक्ति है, प्राणायाम वह प्रक्रिया है जिसमें प्राण पर नियंत्रण और उसका विस्तार किया जा सकता है। आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास और की गति का स्थिर हो जाना प्राणायाम कहललाता है।[37] प्राण वायु का शरीर में प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है। श्वास एवं मन का सीधा सम्बन्ध है, श्वास के नियमन के साथ मन भी स्वतः ही स्थिर एवं शान्त होने लगता है। इसके साथ प्राणायाम की विशिष्ट प्रक्रियाएं मनोविकारों के शमन व उपचार में सक्षम पायी गयी है।

(4) प्रत्याहारः— इसमें इन्द्रियों को उनकी विषय वस्तुओं से हटाकर आत्म चेतना की ओर अभिमुख किया जाता है। प्रत्याहार मनोविकारों के उपचार में बहुत उपयोगी है। इसके द्वारा अचेतन ग्रन्थियों का उदात्तीकरण होता है। राजसिक एवं तामसिक वृत्तियां शक्तिहीन हो जाती है।

(5) धारणा ध्यान एवं समाधि :— धारणा मन की एक बिन्दु पर स्थिरता की स्थिति है। प्रत्याहार में प्रारम्भ की गई मन की अंतर्मुखता की प्रक्रिया का यह अगला चरण है जिसकी स्वाभाविक विकसित अवस्था 'ध्यान' है। यह उर्ध्वमुखी मानसिक ऊर्जा का 'तेल धारावत' सतत् प्रवाह है। यह आत्मोन्मुखी अन्तर चेतना का अविरल भाव प्रवाह है। इसका सतत् अभ्यास अचेतन की निम्न प्रवृत्तियां का रूपान्तरण कर उच्चतर दिशा प्रदान करता है। संचित संस्कारों का संवेग क्रमशः क्षीण होने लगता है। इसकी सफलता के अनुरूप व्यक्ति अपनी सहज स्वतंत्रता, स्वास्थ्य एवं आनन्द की स्थिति को प्राप्त होने लगता है जो समाधि की अवस्था में अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है।

निष्कर्षः— योग अभ्यास के लिये शरीर का स्वस्थ रहना अत्यावश्यक है क्योंकि योगसाधना के द्वारा कैवल्य का मार्ग प्रशस्त होता है उसका एकमात्र साधन मनुष्य का शरीर है। यही कारण है कि योग ने सर्वप्रथम शरीर और उसके बाद मन को स्वस्थ करने पर विचार किया। मानसिक स्वास्थ्य संतुलन को विकृत करने वाले विकारों को पातंजल योगदर्शन में 'चित्तविक्षेप' के रूप में प्रतिपादित किया गया है। व्याधि, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति (आसक्ति), भ्रान्ति इत्यादि है। यह मनोविकार योग साधना के मार्ग में विघ्न के रूप हैं। विकारों का मूल चित्त की रज एवं तम प्रधान मनोदशा है। मानसिक स्वास्थ्य की समस्या का जड़—मूल

से उपचार करती है। यह मानसिक रुग्णता एवं व्यक्तित्व विघटन का मूल कारण चित्तवृत्तियों के बाह्य बिखराव एवं भटकाव को रोकती है। उसे अंतर्मुख करके आत्मचेतना (पुरुष) की सुपरचेतन (Super Conscious) सत्ता की ओर उन्मुख करती है। इस प्रक्रिया में चित्तवृत्तियों के निरोध एवं आत्म जागरण की प्रक्रिया के अनुरूप, मानसिक स्वास्थ्य एवं व्यक्तित्व समाकलन का कार्य गहन, गम्भीर रूप से घटित होना षुरू होता है जो कि समाधि अवस्था में अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है। अष्टांगयोग की साधना यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि पूरी तरह व्यवहारिक एवं विज्ञान सम्मत है व्यक्ति को जीवन के उच्चतम ध्येय की ओर बढ़ने का मार्ग स्पष्ट करता है। अतः व्यक्तित्व का उपहार देकर महामानव, देवमानव एवं ऋषि–अवतार स्तर की ऊंचाई तक ले जाती है।

संदर्भ

1. अविद्यास्मितारागद्वेशाभिनिवेशाक्लेशाः। योगसूत्र 2/3
2. अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मानु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिविद्या। योगसूत्र 2/5
3. दर्शनशक्तत्ययोरेकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र 2/6
4. सुखानुशयी रागः। योगसूत्र 2/7
5. दुःखानुशायी द्वेषः। योगसूत्र 2/8
6. स्वरसवाही विदुशोऽपि तथा रूढ़ोघभिनिवेशः। योगसूत्र 2/9
7. तम खल्वेशांद्वयानामाप्तिदोशाणांत्रिविधंप्रकोपणं तद्यर्थअसात्म्येन्द्रियार्थ संसोगप्रज्ञापराधः परिण्ण्मश्चेति। चरकसूत्र 7/72
8. व्याधिस्त्यानसंषयप्रसादाऽलस्याऽपिरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमि कत्वाऽन वस्थितत्वानि चित्तपिक्षेपास्तेऽतराया। योगसूत्र 1/30
9. व्याधिर्धातुरसकरणवैशम्यम्। 1/30 व्यासभाष्य
10. स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। योगसूत्र 1/30 व्यासभाष्य,
11. संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं–स्यादिदमेव नैवं स्यादिति। योगसूत्र 1/30, व्यासभाष्य
12. आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरूत्वादप्रवृत्तिः। योगसूत्र 1/30 व्यासभाष्य,
13. अविरतिश्चित्तस्य विशय संप्रयोगात्मा गर्धः। योगसूत्र 1/30 व्यासभाष्य,
14. संप्रयोगात्मा सन्निकर्ष–जन्यो गर्धोऽभिलाशः। योगवार्तिक पृ. सं0 97,
15. भ्रान्तिदर्शन विपर्ययज्ञानम्। योगसूत्र 1/30 व्यासभाश्य,
16. अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। योगसूत्र 1/30 व्यासभाष्य,
17. दुःखदौर्मनस्याडमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः। योगसूत्र 1/31,

18. येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्। योगसूत्र 1/31, व्यासभाष्य।
19. इच्छाव्याघातात् चेतसः क्षोभः दौर्मनस्यम्। योगसूत्र 1/31, व्याससभाष्य,
20. यत् अगांनि एजयति कम्पयति तद् अंगमेजयत्वम्। योगसूत्र 1/31, व्यासभाष्य
21. प्राणे यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। योगसूत्र 1/31, व्यासभाष्य
22. अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्या। योगसूत्र 1/31,व्यासभाष्य।
23. अभ्यासवैराग्याभ्यांतन्त्रिरोधः। योगसूत्र 1/12
24. तत्र स्थितौ यत्रोऽभ्यासः। योगसूत्र 1/13
25. स तु दीर्घकालनैरन्तर्प्यसकारासेवितोदृढ़भूमिः। योगसूत्र 1/14
26. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वषीकारसंज्ञावैराग्यम्। योगसूत्र 1/15
27. तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र 2/1
28. तपो द्वन्द्वसहनम्। योगसूत्र 2/32 व्यासभाष्य
29. ना तपस्विनो योगः सिद्धयति अनादिकर्मक्लेशवासना चित्राप्रत्युयस्थिति विशयजाला चाशुद्धिननांन्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति उपरदनं। योगसूत्र 2/1 व्यासभाष्य
30. स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणांजपो मोक्षशास्त्राध्ययनंवा। योगसूत्र 2/1 व्यासभाष्य
31. ईश्वरप्रणिधानम् सर्वक्रियाणा परमगुरार्पणं तत्फलं संन्यासा वा। योगसूत्र 2/1 व्यासभाश्य,
32. तत्प्रतिशेधार्थेमेकतत्त्वाभ्यासः। योगसूत्र 1/32
33. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावडानि। योगसूत्र 2/29,
34. अहिंसा सत्यमस्तेयव्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः। योगसूत्र 2/30,
35. शौचसंतोशतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानियमाः। योगसूत्र 2/32,
36. स्थिरसुखमासनम्। योगसूत्र 2/46,
37. तस्मि्सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। योगसूत्र 2/49,

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

वर्त्तमान संदर्भ में उपनिषद् की आचार मीमांसा

डॉ. शोभा रानी *

''सत्यम् वद्, धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। (तै. उ.,11.1)

आधुनिक समय में नैतिक मूल्यों का दिन प्रतिदिन ह्रास हो रहा है और मानव समाज इसके आभाव मे खोखला सा प्रतीत होने लगा है। टेक्नोलॉजी के विकास से भौतिक उपलब्धियों की व्यापकता तो वर्तमान समाज को प्राप्त है, किन्तु नैतिक संकट से भी आज का मानव समाज ग्रस्त है। नैतिक संकट से ग्रस्त मानव समाज मे लड़खड़ाते हुए सामाजिक सम्बन्ध, मर्यादाओ का निषेध, उच्चतर मूल्यों की पराजय, सामाजिक मूल्यों का ह्रास, नैतिक मूल्यों के पतन आदि से समाज विकृत हो रहा है, ऐसे भारतीय सामाजिक परिवेश में आचरण संघीता के रूप में प्राचीन आचरणीय मूल्यों की प्रासंगिकता दिखती है। उन नैतिक मूल्यों के अनुशीलन द्वारा ही वि.त समाज को आदर्श समाज मे परिवर्तित किया जा सकता है। जैसा कि ग्रीक दार्शनिक सुकरात ने कहा था "virtue is knowledge and knowledge is through concepts": उन्हें यह विश्वास था कि यदि व्यक्ति को सद्गुण का ज्ञान रहे तो वह अवश्य ही उसके अनुसार अचछा आचरण करेगा। इन मूल्यों की सार्वभौमिक उपादेयता सिद्ध है। वेद और उपनिषद् जैसे ग्रंथों में मानव समाज के सुव्यवस्थित विकास के लिए नैतिक नियमों और आदर्शों का विस्तृत वर्णन है।

उपनिषद् को भारतीय दर्शन के मूल स्रोत या उद्गम स्थान माना जाता है। भारतीय दर्शन की कोई ऐसी प्रमुख विचारधारा नहीं है जिसका उद्गम उपनिषद में न हो। डॉ राधाकृष्णन ने कहा है कि उपनिषद् ऐसी आधारशिला है, जिनपर बाद के सभी दर्शन और धर्म निर्भर हैं। उपनिषद् शब्द की उत्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है, 'गुरु के समीप परम तत्त्व का गूढ़ उपदेश सुनने के लिए बैठना'। वस्तुतः उपनिषद् वह पथ प्रदर्शक

** सहायक प्राध्यापक, डी. सी. कॉलेज, हाजीपुर*

मानी जाती है जो हमे विविध आचार व्यवहार परक कर्तव्यों के पालन से अपूर्णता से पूर्णता, सीमित से असीमित की ओर ले जाता है। उपनिषदों में वर्णित नैतिकता का आधार उसका अध्यात्मवाद है। यहाँ श्रेय प्राप्ति का मार्ग प्रवृत्ति मूलक न होकर निवृत्ति मूलक है। उपनिषदों में वर्णित समस्त आचार के नियम इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साधन मात्र हैं।

मूल–श्रोत

उपनिषदों का विकास वेदों में विद्यमान विचारों से ही हुआ है, अतः उनका जीवन दर्शन वैदिक जीवन दर्शन से भिन्न होते हुए भी मूलतः इसी पर आधारित है। वेदों की भांति उपनिषद् भी पुनर्जन्म के सिद्धांत, आत्मा की अमरता, कर्मवाद, एवं ब्रह्मांड की परमसत्ता को पूर्णरूपेण स्वीकार करते हैं।

वेदों में कहा गया है कि सदाचार ही ऊपर उठाता है, दुराचार तो नीचे गिराने वाला है, आयु को क्षीण करने वाला है। वेदों में कहा गया है 'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः'। अर्थात दुराचारी सत्य के मार्ग को पार ही नही कर सकते। आचार का यह परिष्कृत रूप हमे उपनिषदों में भी देखने को मिलता है। आचार सम्पन्न व्यक्ति का ही जीवन व्यवस्थित और परिष्कृत होता है। मानक हिंदी कोश में आचार को परिभाषित करते हुए कहा गया है–आचार आचरण और व्यवहार का वह परिष्कृत रूप है, जो कुछ नियमों, रूढ़ियों, सिद्धांतो आदि के आधार पर स्थित होता और जिसका अनुशरण या पालन लोक में आवश्यक समझा जाता है।[1] स्पष्ट है कि मनुष्य का आचरण ही आचार है। मलिनता या अपवित्रता बाहरी हो या आंतरिक, हमारे अच्छे भावों को नष्ट करके उसे पाप कर्मों की तरफ प्रेरित करते हैं। इसलिए उपनिषदों मे भी बाह्य और आंतरिक शुद्धिकरण हेतु पालनीय अनेक विधान बताये गए हैं।

उपनिषद् में ज्ञान मार्ग को मुक्ति का मार्ग माना गया है। पर यहां ज्ञान मार्ग कर्म मार्ग से पृथक नही है। मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान तभी सम्भव है, जब वह अपना आचरण शुद्ध रखे और संयम संबंधी नियमों का पालन करे। 'आत्म उत्थान के लिए कहा गया है। ''अनुभवपरक आत्मा नही है, अपितु अनुभवातीत आत्मा है। अतः यह न सुखवादियों की आत्मा है, न बुद्धिवादियों की अपितु यह दोनों से परे है। यह समन्वित आत्मा है जो दोनों से ऊपर है। अतः विवेक के द्वारा स्थापित उच्च नैतिक नियम ही मान्य होना चाहिए''। पवित्र साध्य की प्राप्ति हेतु साधन भी पवित्र होना चाहिए और जिसका पालन श्रेयस मार्ग के लिए आवश्यक माना गया है।[2]

पुरूषार्थ विवेचन

वस्तुतः वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित नैतिक सिद्धांत मनुष्य के व्यावहारिक और संतुलित विकास के लिए पुरुषार्थ का विवेचन किया गया है वहीं सामाजिक

संतुलन के लिए भी वर्ण व्यवस्था का उल्लेख है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चारो पुरूषार्थों में समस्त जीवन मूल्य समाहित है। धर्म और मोक्ष को मुख्य एवं अर्थ और काम को गौण माना गया है। अर्थ व काम की प्राप्ति भी धर्मानुकूल होना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में चारो वर्णो की उत्पत्ति के संबंध में कहा गया है 'ब्रह्म' से ही चारो वर्णों की उत्पत्ति हुई है। चारो वर्णों की सृष्टी के पश्चात अनुशासन और व्यवस्था का पालन करने के लिए धर्म नामक तत्त्व की सृष्टि हुई। ये धर्म निश्चित रूप से वे सत्याचरण ही हैं जो काम, मोक्ष और अर्थ के मध्य सामन्जस्य स्थापित करते हैं। धर्म पालन हेतु एवं आत्मा शुद्धि के लिए इन्द्रिय निग्रह अथवा आत्मसंयम को विशेष महत्व दिया गया है। ''नैतिक कर्मों का लक्ष्य शुद्धता की प्राप्ति है तथा पूर्ण शुद्धता वही है जो मन, वचन और कर्म तीनों स्तरों की शुद्धता है।''[3]

कर्मवाद

कर्म का शाश्वत और सार्वभौम नियम जगत की नैतिक व्यवस्था का आधार है। कर्म में जन्म और जन्म से कर्म की परम्परा अवश्यम्भावी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है ''पुण्यों वै पण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।''[4] इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में कर्मवाद की तात्विक व्याख्या में कहा गया है ''अच्छे कर्म करने वाला अच्छी योनि में जन्म लेता है और वही बुरे कर्मों वाला सुकर या चांडाल योनि में जन्म लेता है।''[5] इसी प्रकार कौषीताकि उपनिषद् में भी वर्णन है। कर्म और जन्म की परम्परा अनादि है और समस्त नैतिक नियमों का मूल या सार है।

तप की महिमा

उपनिषदों में तप को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और मनुष्य के सर्वांगीण विकास का माध्यम है। यहाँ मानव समाज के सुव्यवस्थित विकास के लिए कई ऐसे तप व नियमों का वर्णन है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शम और दम क्रमशः मन और ज्ञानेंद्रियों को नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण साधन है।''[6] शारीरिक और मानसिक नियंत्रण हेतु पातंजल योग सूत्र में वर्णित यम और नियम का पालन प्रथम सोपान है। कई उपनिषद में भी इन बातों का पालन आत्म नियंत्रण हेतु प्राथमिक माना गया है। शान्डिल्यादि उपनिषदों में इनकी संख्या दस–दस बताई गयी है। इनके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धृति, मिताहार और शुचिता ये दस यम हैं, तथा तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, शास्त्रीय सिद्धांत का श्रवण, लज्जा, मति, जप एवम व्रत ये दस नियम हैं। ब्रह्मनोपनिषद के अनुसार शितोष्णहार, निद्रा पर विजय, सर्वदा शान्ति, निश्छलता, विष्येन्द्रय निग्रह ये दस यम है तथा गुरुभक्ति, सत्यमार्गानुरक्ति, मनोनिवृत्ति, सुखगत वस्तु (ब्रह्म) का अनुभव, संतोष, निसंगतता, एकांतवास, कर्मफल की

अभिलाषा का न होना और वैराग्य ये नियम है।''[7] इन सभी कर्तव्यों की बहुत ही सूक्ष्म और प्रायोगिक उपादेयता है। इशोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ऋषि त्याग के महान आदर्श को जीवन मूल्य के रूप में स्थापित करते हुए कहते हैं कि 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधा कस्य स्विध्नम्''[8] अर्थात जीवन में प्राप्त समस्त भोग सामग्री को त्याग की भावना के साथ भोग करो, क्योंकि समस्त भोग्य पदार्थों का स्वामी ईश्वर है। उसी का इस पर अधिकार है। भौतिक पदार्थ को प्राप्त करने की लालसा में किसी दूसरे के धन पर लोभ की दृष्टि मत रखो। उपनिषद् हमें शिक्षा देती है कि भौतिक पदार्थों के संग्रह और उपभोग से हमें आनन्द प्राप्त नहीं होता जैसा के कठोपनिषद् में में यमाचार्य ने कहा है ''न वित्तेन तर्पनियो मनुष्यः''।[9] दूसरे के धन को लालच की दृष्टि से देखना समस्त पापाचार और कुवृत्तियों की जड़ है। इन वर्त्तमान में व्याप्त भ्रष्टाचार धन की अत्यंत आशक्ति का परिणाम है। इन कल्याणकारी आदेशों को अपनाकर हम इस अव्यवस्था को हटा सकते हैं।

सत्यः—लगभग सभी प्राचीन भारतीय ग्रंथों में प्राथमिक रूप से सत्य के पालन पर विशेष बल दिया है। मुण्डकोपनिषद् में भी सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पंथा विततो देवयान।[10] अर्थात हमेशा सत्य की विजय होती है, असत्य की नही, सत्य से देवयान (स्वर्ग) का मार्ग प्रशस्त होता है। सत्यनिष्ठा, सत्यव्रत और सत्याचरण के अभाव में सभी व्रत, कर्म एवम आचरण बेकार हो जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सत्य ही ब्रह्म को धारण करता है। अतः इस सत्य से बढ़कर कुछकर कुछ भी नही। इस सत्य का ही प्राथमिक और सर्वोत्तम मूल्य बताया गया है।[11] सत्य की सार्वभौमिकता को अन्य दर्शनों में भी जिक्र किया गया है। गांधी जी ने तो सत्य की तुलना ईश्वर से की है।

निषेधात्मक मूल्यः

व्यक्ति के सर्वोत्तम उत्थान हेतु नकारात्मकता से भी दूर रहने की बात कही गयी है। हमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि भावनाओं से दूर रहने को कहा है। लोभ, आसक्ति, क्रोध आदि को दैत्य की संज्ञा दी गई है।[12] नारद परिव्राजक उपनिषद में भी राग, द्वेष, अहंकार, माया, द्रोह एवं मोह जैसे मानसिक विकारों के त्याग से मानसिक संतुलन के साथ साथ शारीरिक संतुलन भी कायम रहता है। शारीरिक, मानसिक और वाचिक नियंत्रण को त्रिदंड की संज्ञा दी गई है जो मनुष्य को पूर्णता के पथ पर ले जाते हैं। उपनिषदों में संतुलित नैतिक विकास हेतु संतुलित और शुद्ध आहार पर भी नियंत्रण की बात की गई है। आहार की शुद्धि से चित्त की निर्मलता स्वयं आती है।[13] महान चिंतक डॉ राधाकृष्णन ने भी कहा है "The indian thinkers believe in the dependence of mind on body, and so prescribe purity of food as necessary for the purity of mind"[14]

उपनिषदों में वर्णीत नैतिक सिद्धांत केवल निषेधात्मक और त्यागात्मक ही नही है, क्रियात्मक भी है। यहाँ दान, दया, सत्कर्म, आतिथ्य, आदि सदगुणों की प्रशंसा की गई है। इन सभी सत्कर्मों को उपनिषदों में तप की संज्ञा दी गयी है; जैसे ऋत तप, सत्य तप, श्रुत तप, शांति तप, दान तप आदि। इन सभी कर्मों का विशेष आध्यात्मिक और सामाजिक प्रयोजन है। "उपनिषदों में न केवल आध्यात्मिक कल्याण के लिए नैतिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है, अपितु उन्होंने सामान्य और विशिष्ट कर्मों की आचारसंहिता भी प्रस्तुत की है। उपनिषदों में वे सारे कार्य नैतिक मने गये हैं जिनमे मनुष्य राग द्वेष से मुक्त होता, जहां न्याय और युक्ति की प्रधानता होती है, जहां मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों के अतिक्रमण करता है, जहा लोकमंगल ही प्रेरक शक्ति होती है और जहाँ व्यक्ति अंतर्यामी, सर्वव्यापी सत्ता द्वारा नियुक्त विश्व संचालन की योजना में अपने को सहकारी समझता है। इसके विपरीत सारे आचरण अनैतिक हैं।"[15]

इस प्रकार उपनिषद् हमें अनुशाशित जीवन जीने के लिए प्रेरित करते हैं। यह गुरु शिष्य संवाद के माध्यम से उत्तम कोटि का आचार संहिता प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद में नैतिकता को आंतरिक तथा आचरण को माध्यम रूप में महत्वपूर्ण माना गया है। इसलिये आंतरिक शुद्धता पर ही विशेष बल दिया गया है। उपनिषदों में व्यक्ति की स्वतंत्रता को भी अहम माना गया है। स्वतंत्र इच्छा शक्ति से प्रतिपादित कर्तव्य से ही हमे कर्म फल का अधिकारी बनाया गया है। प्रायः उपनिषद् में नैतिकता की बात पर प्रश्नचिह्न लगाया जाता है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह गलत साबित होता है। "यदि मनुष्य का संसार ईश्वरमय है तो नैतिकता का अर्थ क्या है? वास्तव में, इश्वरत्व शक्यता है अर्थात वैसा हो सकता है, वास्तविकता नही है। इसलिए मानव आदर्श है शक्यता को वास्तविकता में परिवर्तित करने की। अतः अपने प्रयत्नों के द्वारा आदर्श की प्राप्ति आवश्यक है"[16] यहाँ उपनिषद की उपयोगितावादी दृष्टिकोण दिखती है जो कि सभी जिवों की मौलिक एकता में विश्वास करती है। इस प्रकार संसार तत्त्व का ही व्यक्त रूप है, और व्यक्ति का आदर्श है संसार के प्रति प्रेम। इस आधार पर उपनिषद हमे विश्वबंधुत्व की शिक्षा देता है।

अतः उपनिषदों में वर्णित नैतिकता एवम आचार केवल परलोकशास्त्र ही नही हैं, अपितु इनके पालन से हमें अपने व्यक्तिगत, समाज एवं राष्ट्रजीवन में भी उत्थान प्राप्त कर सकते हैं। यहां आत्मनियंत्रण और सांसारिक सुखों के रास्ते में उच्च स्तर के नैतिक परिकल्पना दिखती है। इसमें वर्णित आचार परक विचार (मीमांसा) किसी समाज विशेष अथवा वर्ण विशेष के लिए नही हैं, अपितु सम्पूर्ण समाज के लिए हितकर हैं। 'एकोअहं द्वितीयोनास्ति' अवश्य ही समत्व भाव का

संचार करता है। आज जब विश्व में वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंसा, असहनशीलता, अन्याय, शोषण, स्वार्थ आदि बुराइयां बढ़ती जा रही हैं, उपनिषदों द्वारा बताये गए नैतिक कर्तव्य जैसे संयम, आत्म त्याग, सत्य, दान, दया, अहिंसा आदि सदगुणों का विशेष महत्त्व है। इन सद्गुणों के अनुरूप आचरण करके ही मनुष्य नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है। अतः सांस्कृतिक धरातल पर खड़े होकर नैतिक चेतना जागृत करने के लिए उपनिषदों का आश्रय वर्त्तमान संदर्भ में भी समीचीन है।

संदर्भ

1. मानक हिंदी कोश– प्रथम खंड, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
2. अशोक कुमार वर्मा, नीति शास्त्र की रूपरेखा–मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा.लि., 1996, पृ. 328
3. बी. के. लाल, समकालीन भारतीय दर्शन– मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., 2009, पृ. 170
4. बृहदारण्यक उपनिषद 3.2.13
5. छःन्दोग्य उपनिषद 5.10.7
6. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.4.2
7. डॉ. राकेशमनी त्रिपाठी एवम डॉ सोहन राज तातेड़; जैनागमों और उपनिषदों की आचार मीमांसा– विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2011, पृ 72
8. छःन्दोग्य उपनिषद 8.3.4
9. कठ उपनिषद् 1/27
10. मुंडक उपनिषद् 3.1.6
11. छन्दोग्य उपनिषद् 8.3.4
12. कृष्ण उपनिषद् 9
13. पाशुपत उपनिषद् 2.36–37
14. डॉ. एस. राधकृष्णन : भारतीय दर्शन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस–Vol-1, 2008 पृ. 220
15. डॉ. राकेशमनी त्रिपाठी एवं डॉ. सोहन राज तातेड़ : जैनागमों एवं उपनिषदों की आचार मीमांसा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2011, पृ. 105
16. अशोक कुमार वर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा : मोतीलाल बनारसीदास, पब्लिशर्स प्रा.लि., 1996 पृ. 329

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में बौद्ध चिंतन की प्रासंगिकता

डॉ. प्रिया कुमारी दुबे *

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में व्याप्त अनीति, भ्रष्टाचार, आतंकवाद अन्तवैयक्तिक संबंधों में गिरावट मानवीय मूल्यों का ह्रास आदि विशालकाय समस्याएं अपने स्वरूप एवं प्राकृतिक विशेषताओं के कारण समाज के मूलभूत संरचना एवं प्रक्रियाओं को पूरी तरह से प्रभावित कर रहे है।

आज विश्व में हिंसा और सामाजिक भेदभाव बढ़ रहा है। मनुष्य विचारों से हिंसात्मक होता जा रहा है। आतंकवाद या फिर दो देशों के बीच युद्ध जैसे हालात हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में बौद्ध दर्शन कहीं ज्यादा प्रासंगिक हो जाता है। व्यक्ति के विनाशकारी विचारों को बदलना और उन पर नियंत्रण रखना बहुत जरूरी है। लगभग ढाई हजार साल पहले बुद्ध ने मानवीय प्रवृतियों का विश्लेषण करते हुए कहा था कि मनुष्य का मन ही सारे कर्मों का नियंता है। इसलिए मानव की गलत प्रवृतियों को नियंत्रित करने के लिए उसके मन में सदविचारों का प्रवाह कर उसे सद्मार्ग पर ले जाना जरूरी है। उन्होंने यह सदमार्ग बौद्ध धर्म के रूप में दिया था। अतः आज मानव मात्रा की कुप्रवृतियों, जैसे–हिंसा, शत्रुता, द्वेष लोभ आदि से मुक्ति पाने के लिए वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में बौद्ध दर्शन को समझने की जरूरत है।

बुद्ध और उनके धर्म के दर्शन का संसार में बहुत ऊँचा स्थान रहा है और यह दुनिया का एक मात्र धर्म है जो शांति पूर्वक अपने समय के अधिकांश देशों तथा सभ्यताओं में फैला है। बुद्ध पूर्व के ऐसे महाचिंतक है जिनका प्रभाव जाति के चिंतन और जीवन पर किसी अन्य से कम नहीं पड़ा और धार्मिक परंपरा के संस्थापक के रूप में ऐसे धर्मप्राण है जिनका आग्रह अन्य से न कम विस्तृत है, न कम गंभीर। विश्व–चिंतन और संस्कृति मानव जाति की विरासत में उनका

** दर्शनशास्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची (झारखण्ड)*

अपना स्थान है क्योंकि बौद्धक प्रामाणिकता, नैतिक उत्कटता और आध्यात्मिक अन्तदृष्टि की कसौटी पर वे निःसंदेह इतिहास के एक महान व्यक्ति के रूप में उतरते हैं।

बौद्ध दर्शन नैतिकता पर सर्वाधिक बल देता है और नैतिकता के माध्यम से व्यक्ति के अंदर तथा समाज में मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार अणुओं से निर्मित इस संसार में चेतना प्रमुख है। बौद्ध दर्शन अवैदिक, अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी होते हुए भी नैतिकतावादी, तर्कवादी एवं आदर्शवादी है। आत्मा क्षण–क्षण परिवर्तित चेतना की अविरल धारा है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान को ज्ञान के साधन मानते हुए बौद्ध दार्शनिक अनुभवात्मक ज्ञान को आवश्यक बताते है और प्रत्येक अनुभव को विवेक की कसौटी पर रखते हैं। वे तर्कबुद्धि को प्राथमिकता देते हैं।

बौद्ध धर्म–दर्शन का मूलाधार है तथा यही विशुद्धि का भी मार्ग है। भारत में बौद्ध दर्शन गहन बौद्धिक और सामाजिक विक्षुब्धता के काल में उत्पन्न हुआ था। यह वह काल था जब ईश्वर की सर्वशक्ति और सृजनात्मकता पर प्रश्न चिन्ह, जाति की गतिशीलता और जन्मजात पाबंदियों पर आघात होने लगे और न्यायवादियों के ज्ञानशास्त्र ने दार्शनिक विमर्श की आधारशिला रखी, वास्तविक दुनिया को तर्क और विवेक आधारित खोजो के लिए प्रेरणा दी थी और बोझिल कर्मकांडों एवं अविवेक अंधविश्वासों के बोझ से छुटकारा दिलाया।

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में महात्मा बुद्ध केवल इस कारण प्रासंगिक नहीं है कि वे बुद्ध हैं, उन्होंने एक महान विश्वधर्म का प्रवर्तन किया है, बल्कि आधुनिक देश काल स्थिति में उनका महत्व और प्रासंगिकता इस कारण बढ़ जाता है, क्योंकि उन्होंने मानवीय विवेक को स्वतः पल्लवित होने का परिवेश प्रदान किया। महात्मा बुद्ध के वचन धार्मिक कट्टरता की कैद में जकड़े रूढ़िवादी लोगों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। अपने महापरिनिर्वाण से पहले बुद्ध ने आनन्द से कहा था, ''हे आनंद तुम में से किसी का विचार हो सकता है कि शास्ता का वचन अतीत हो गया, अब हमारा कोई शास्ता नहीं है पर ऐसा विचार उचित नहीं है। हे आनंद! तुम अपने लिए स्वयं दीपक बनों।''[1] इस प्रकार ''अप्प दीपो भव' का उद्घोष हुआ। जो वर्तमान में विश्व के अनेक देशों में पफैल रही धर्मान्धता, कट्टरता, धर्म के स्वयंभू ठेकेदारों के अनुकरण की अंधभक्ति को रोकने का महामंत्र है। साथ ही यह स्वावलम्बन की ओर भी अग्रसर करता है। महात्मा बुद्ध नीर क्षीर विवेकशील होने को मानव का सबसे बड़ा धर्म मानते थे। जिस कार्य से सबके साथ स्वयं को भी सुख पहुँचे वही ठीक है। दूसरे को दुःख पहुँचाकर स्वसुख की कल्पना नहीं हो सकती है। सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध की हृदय विदारक हिंसा एवं नरसंहार के पश्चात् युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की, जिससे एक नये युग का

सूत्रपात हुआ। बुद्ध का संदेश आज भी न केवल भारत में वरन् संपूर्ण विश्व में उतना सार्थक है जितना बुद्ध के काल में था। उनके इस दृष्टिकोण ने ही बौद्ध धर्म को लोकप्रियता प्रदान की।[2] बौद्ध धर्म एक शांतिवादी, मानवतावादी और विश्वबंधुत्व की भावना रखने वाला दर्शन है। यदि भगवान बुद्ध के मानवीय विचारों को समाज के हित में प्रयोग में लाया जाए तो मानव समाज के सभी कष्ट बड़ी आसानी से दूर किये जा सकते हैं।[3] बौद्ध धर्म ऐसे नियमों का संग्रह है जो हमें यथार्थ के सही स्वरूप को पहचान कर अपनी संपूर्ण मानवीय क्षमताओं को विकसित करने में सहायता करता है। बौद्ध दर्शन में परस्पर निर्भरता, सापेक्षता और कारण–कार्य संबंध जैसे विषयों के बारे में चर्चा की जाती है। इसमें समुच्च्य सिद्धांत और तर्क–वितर्क पर आधरित तर्कशास्त्र की एक विस्तृत व्यवस्था है जो बौद्ध नीतिशास्त्र स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए हितकारी और हानिकारक बातों के बीच भेद करने की योग्यता पर आधरित है। बौद्ध धर्म मूलतः अनीश्वरवादी और अनात्मवादी है। अर्थात् इसमें ईश्वर और आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। लेकिन पुनर्जन्म को मान्यता दी गई है। बुद्ध ने सांसारिक दुःखों के संबंध में चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया और माध्यम मार्ग बताकर रास्ते दिखाए।

भारतीय संस्कृति को विश्वव्यापी रूप देने का विश्वगुरू के स्थान पर विरजित कराने में सनातन धर्म की एक शाखा के रूप में उपजे बौद्ध धर्म व आर्विभाव एक महत्वपूर्ण घटना रही है। सनातन में या हिन्दू धर्म में विष्णु के नवे अवतार के रूप में भगवान बुद्ध को गिना जाता है। लगभग 2600 वर्ष पूर्व सनातन से उपजा तथागत बुद्ध प्रवर्तित बौद्ध धर्म बाद में वैश्विक सांस्कृतिक व राजनैतिक, परिवर्तनों को जन्म देने का एक बड़ा कारण सिद्ध हुआ। बौद्ध धर्म को विश्व का तीसरा सबसे बड़ा वैश्विक धर्म बनाने में बौद्ध तत्व बड़े ही महत्वपूर्ण रहे हैं। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण वह बात रही हैं जिसमें भगवान बुद्ध ने कहा था कि हम सब स्वतंत्रता की कामना करते हैं, पर जो चीज मनुष्यों को अलग बनाती है वह है बुद्धि। पर स्वतंत्र मनुष्यों के रूप में हम अपनी अद्वितीय बुद्धि के उपयोग से स्वयं को और अपने विश्व को समझने का प्रयास कर सकते हैं।

आज विश्व में हिंसा और सामाजिक भेदभाव बढ़ रहा है। मनुष्य विचारों से हिंसात्मक होता जा रहा है। आतंकवाद या फिर दो देशों के बीच युद्ध जैसे हालात हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में बौद्ध दर्शन कहीं ज्यादा प्रासंगिक हो जाता है। व्यक्ति के विनाशकारी विचारों को बदलना और उन पर नियंत्रण रखना बहुत जरूरी है। लगभग ढ़ाई हजार साल पहले बुद्ध ने मानवीय प्रवृतियों का विश्लेषण करते हुए कहा था कि मनुष्य का मन ही सारे कर्मों का नियंता है। इसलिए मानव

की गलत प्रवृतियों को नियंत्रित करने के लिए उसके मन में सद्विचारों का प्रवाह कर उसे सदमार्ग पर ले जाना जरूरी है। उन्होंने यह सदमार्ग बौद्ध धर्म के रूप में दिया था। अतः आज मानव–मात्र की कुप्रवृतियों, जैसे–हिंसा, शत्रुता, द्वेष, लोभ आदि से मुक्ति पाने के लिए बौद्ध दर्शन को समझने की जरूरत है।

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म में सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक और राजनीतिक स्वतंत्राता व समानता की शिक्षा दी है। बुद्ध ने सांसारिक दुःखों के संबंध में चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया था। ये आर्य सत्य बौद्ध धर्म का मूल आधार हैं। इसके साथ ही सांसारिक दुःखों से मुक्ति के लिए बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग पर चलने की बात कही। आष्टांगिक मार्ग के साधन हैं– सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाक, सम्यक कर्मांत, सम्यक अजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और बौद्धकाल में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे, उसके परिणाम स्वरूप तत्कालीन विकृत संकीर्णताओं में आबद्ध समाज का उत्थान हुआ था। बौद्ध धर्म में केवल सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ही बदलाव नहीं हुआ, बल्कि राजनीतिक स्वरूप को भी बदलने का प्रयास किया गया था। बुद्ध के काल का सामााजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन उनके युग की समस्याओं को व्यापक रूप में देखने का प्रयास किया गया होगा। उन्होंने लोगों के कष्टों को समझा होगा, उसके निराकरण हेतु प्रयास भी किया। बुद्ध की दूरदृष्टि ही थी, जो उन्होंने अपनी शिक्षाओं के माध्यम से रूढ़िवादी अशिक्षित एवं विकृत समाज को एक आदर्श समाज के रूप में स्थापित करके ज्ञान के पूँज को सर्वत्रा पफैलाने का कार्य किया। यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं की बात करें तो छठी शताब्दी ई.पू. की तत्कालीन परिस्थितियाँ वर्तमान समाज में भी दिखाई पड़ती हैं। आज न केवल भारत में अपितु संपूर्ण विश्व के मानव के नैतिक मूल्यों में गिरावट आई है। वर्तमान समाज बौद्ध कालीन समाज से कहीं ज्यादा संकीर्ण हो गया है। यदि मानवता की बात की जाये तो आज मानव स्वकेन्द्रित एवं संकेन्द्रित हो गया है। दया, करूणा सदाचार सहिष्णुता, नैतिकता, मानवता लुप्त हो चुकी है। आतंकवाद मानवता के लिए खतरा बन चुका है। कदाचित बुद्ध की शिक्षायें बुद्ध काल की अपेक्षा वर्तमान में अधिक प्रासंगिक हैं।

बौद्धधर्म प्रारंभ से ही प्रगतिशील रहा, समयानुसार इसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन भी होता रहा, जिससे इसे आत्मसात करने वाले राष्ट्र भी प्रगतिशील बने रहे। बौद्ध साहित्य का यदि अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध युग ने एक समुन्नत व्यापार प्रणाली एवं मुद्रा विनिमय नीति का अनुसरण प्रारंभ कर दिया था।[4] जिस प्रकार बौद्ध धर्म दर्शन वैश्विक बंधुत्व सत्य, अहिंसा के विचारों द्वारा मानवता के विकास का संदेश है, उसी प्रकार वैश्विक व्यावसायिक

उन्नति का भी समर्थन करता है। विश्व की शीर्ष अर्थव्यवस्था वाले देशों में सम्मिलित चीन एवं जापान इसके प्रमुख उदाहरण हैं। जिन्होंने विभिन्न परिस्थितियों में स्वयं को समायोजित करके वैश्विक व्यवसायिक उन्नति की है। जबकि विश्व के कुछ राष्ट्र परंपरावादी रूढ़िवादी विचारधारा के कारण पिछड़ रहे हैं।

बौद्ध धर्म ने अतीत के अनेक वर्षों तक न केवल भारत में वरन समस्त एशिया में सांस्कृतिक संबंधें को प्रगाढ़ करने में अटूट सेतु का काम किया है। विश्व में बौद्ध शिक्षा का केन्द्र रहे नालंदा विश्वविद्यालय में पुनर्निर्माण के लिए जिस प्रकार से विभिन्न बौद्ध राष्ट्रों ने आगे बढ़कर योगदान करने की इच्छा शक्ति दिखाई है, वह बौद्ध धर्म की सबको जोड़ने वाली शिक्षा की ही परिणति है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बौद्ध शिक्षा प्रणाली जो व्यवहारिकता, आदर्शवादिता नैतिकता एवं दार्शनिकता का समन्वय था का प्रयोग समय की महती आवश्यकता है।[5] समाज के सबसे निचले पायदान पर स्थित लोगों को बौद्ध धर्म में अपेक्षाकृत अध्कि सम्मान दिया गया। उन्हें न केवल धर्म एवं संघ में प्रवेश दिया गया, बल्कि जात–पात के सिद्धांत को हाशिये पर रखा गया। श्रमिकों एवं कारीगरों की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई। समाज में दलित वर्ग, वचित एवं शोषित वर्ग के प्रति चिंतन को वरीयता मिली। उनकी आर्थिक विपन्नता पर मंथन शुरू हुआ जो कि वर्तमान में भारत सरकार की अंत्योदय योजना के रूप में किसी सीमा तक परिलक्षित भी होता है।

पर्यावरण के प्रति बौद्ध चिंतन एवं परिस्थितिकी संतुलन में उसकी समीचीनता पर चर्चा आवश्यक है। बौद्ध धर्म ने जीवन मूल्यों के अंतर्गत जीव हिंसा पर रोक अर्थात् अहिंसा के महत्व को प्रतिपादित करके न केवल प्राचीन भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाया था, अपितु भावी पीढ़ी के लिए एक आदर्श एवं व्यवस्थित जीवन शैली की आधरशीला भी रखी। पशु–पक्षी के वध का निषेध पालतू एवं जंगली पशुओं के संरक्षण पर बल देना तथा पशुबलि को धार्मिक कृत्व से अलग रखना पर्यावरण संरक्षण की दिशा में निःसंदेह उपयोगी सिद्ध हुए।

भगवान बुद्ध का पंचशील और निर्वाण का मार्ग

बुद्ध का पंचशील सिद्धांत आज समाज और देश–दुनिया के लिए प्रासंगिक है। ''शील ही लोक में कल्याणकारी एवं अनुत्तर है, सीले किरवे कल्याणं सीललोके अनुत्तर''[6] शील के महत्व को प्रतिपादित करते हुए गौतम बुद्ध ने एक ऐसा सामाजिक मापदण्ड सुनिश्चित किया जिसे दार्शनिक और सामाजिक भाषा में 'पंचशील' के नाम से पुकारा गया। जनता के लिए साधारण से लगने वाले शील सदाचार के मापदण्ड नियम एक नई सामाजिक संरचना की दिशा में प्रथम प्रयास था। पंचशील सिद्धांतों के अंतर्गत समाज के दिग्भ्रमित लोगों से यह अपेक्षा की

गई कि वे अपने नैतिक जीवन को सुधारें। सामाजिक बंधनों एवं सामाजिक मर्यादा का पालन करें।[7] यही सिद्धांत पंचशील के नाम से प्रसिद्ध हुए। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह–इन पंचशील सिद्धांतों के प्रतिपादन से समाज में एक नए विचार का जन्म हुआ तथा लोगों के मध्य एकता एवं सामाजिक न्याय का पथ प्रशस्त किया।[8]

महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित पंचशील सिद्धांतों का स्पष्ट प्रभाव हमें भारत की विदेश नीति में भी दृष्टिगोचर होता है, विशेषकर भारत एवं चीन के संबंध में। शांति, निःशस्त्रीकरण, गुट निरपेक्षता, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध जो भारत की विदेशनीति को निर्धरित करने के प्रमुख तत्व हैं, उनका उद्‌गम वास्तव में बौद्ध र्ध्म के सिद्धांतों में देखा जा सकता है।[9] बौद्ध दर्शन वैश्विक बंधुत्व शांति और अहिंसा का सामान्यीकरण करके समस्त मानवता के विकास का संदेश देता है, जिसे वैदिक वांगमय में ''संगच्छध्वं संवद्धवम् सं वो मनांसि जानताम्'' कहकर अभिव्यक्त किया गया था। वैश्वीकरण की अवधरणा में आज भी सहयोग, साहचर्य एवं समन्वय की आवश्यकता महसूस की जा रही है। बौद्ध चिंतन का महामंत्र 'संघ शरणं गच्छामि' के इस सत्य को स्वीकार करता है कि संगठित होकर ही मानवता की सेवा की जा सकती है।

मध्यम मार्ग का उपदेश देते हुए बुद्ध ने कहा कि मनुष्य को सभी प्रकार के आकर्षण और कायाक्लेश से बचना चाहिए। अर्थात्, न तो अत्यधिक इच्छाएं करनी चाहिए, न ही अत्यधिक तप (दमन) करना चाहिए, बल्कि इनके बीच का मार्ग अपना कर दुःख–निरोध का प्रयास करना चाहिए। सम्यक का अर्थ दो अतियों के बीच मध्यम स्थिति है। दोनों तरह की अति बुरी हैं। बीच का रास्ता ही ठीक है। बुद्ध का कहना है जो व्यक्ति अपनी जीवन–परिदृष्टि ठीक रखेगा, जो सही संकल्प या इरादा रखेगा, जिसकी वाणी अच्छी होगी, कर्म अच्छे होंगे, जिन्होंने जीविका के लिए बेहतर अर्थात् भ्रष्टाचार–मुक्त साधन चुने होंगे, जो अपनी इंद्रियों को नियंत्रण में रखने में लिए व्यायाम करते रहेंगे, वे दुःखमुक्त होंगे।

सम्यक वाणी, सम्यक कर्म और सम्यक जीविका 'शील' और सम्यक प्रयत्न सम्यक स्मृति व सम्यक समाधि को 'समाधि' कहते हैं। विभिन्न बौद्ध ग्रंथों में इसकी विवेचना की गई है। जैसे शील पांच हैं, जिन्हें पंचशील कहा जाता है। कोई व्यक्ति संघ में शामिल होने के पूर्व इन पंचशील की शपथ लेता है। ये पांच शील हैं– अहिंसा, चोरी न करना, झूठ न बोलना, काम संबंधी व्यभिचार न करना और नशा नहीं करना। ये पांच शील आमजनों के लिए है। लेकिन भिक्षुओं के लिए पाँच और शील हैं। उनके लिए दिन में कई दफा भोजन, आभूषण या कीमती चीजें धारण करना। स्वर्ण–रजत छूना, संगीत और गछेदार बिस्तर तक की मनाही है।

इसी तरह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम चीजों पर बौद्धों ने पर्याप्त विमर्श किया है। यह दर्शन पूरी तरह से यथार्थ में जीने की शिक्षा देता है। दलाई लामा ने कहा है – ''हम आस्तिक हो या अनीश्वरवादी ईश्वर को मानते हों या कर्म में विश्वास रखते हों, हममें प्रत्येक नैतिक नीतिशास्त्र का अनुशीलन कर सकता है।' आज पूरी दुनिया हिंसा, धार्मिक, उन्माद, नस्लीय टकराव जैसी गंभीर समस्याओं से जूझ रहा है। मानव अस्तित्व के लिए बड़े और गंभीर खतरे खड़े हो गए हैं। इंसान ने जहाँ विज्ञान, तकनीकी और यांत्रिकी में विकास और उसके उपयोग से अपार समृद्धि हासिल कर ली है, तो दूसरी ओर स्वार्थ, लोभ, हिंसा आदि भावनाओं के वशीभूत होकर वह आपसी कलह, लूट–खसोट, अतिक्रमण जैसे विनाशकारी मार्ग को भी अपना रहा है। अतः आज दुनिया में भौतिक संपदा के साथ–साथ मानव अस्तित्व को भी बचाना आवश्यक हो गया है। इसलिए आदमी के विनाशकारी विचारों को बदलना और उस पर नियंत्रण रखना बहुत जरूरी है। बुद्ध ने मानवीय प्रवृतियों का विश्लेषण करते हुए कहा था कि मनुष्य का मन ही सभी कर्मों का नियंता है। अतः मानव की गलत प्रवृतियों को नियंत्रित करने के लिए उसके मन में सद् विचारों का प्रवाह कर उसे सदमार्ग पर ले जाना आवश्यक है। उन्होंने यह सदमार्ग बौद्ध धम्म के रूप में दिया था। आपसी शत्रुता के बारे में बुद्ध ने कहा था कि वैर से वैर शांत नहीं होता। यह सूत्र हमेशा से सार्थक रहा है। डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर ने भी कहा था कि हिंसा द्वारा प्राप्त की गई जीत स्थायी नहीं होती, क्योंकि उसे प्रतिहिंसा द्वारा हमेशा पलटे जाने का डर रहता है। अतः वैर को जन्म देने वाले कारकों को बुद्ध ने पहचान कर उनको दूर करने का मार्ग बहुत पहले ही प्रशस्त कर दिया था। उन्होंने मानवशास्त्र के दुःखों को कम करने के लिए पंचशील और आष्टांगिक मार्ग के नैतिक व कल्याणकारी जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया था।[10]

कोरोना महामारी ने 'युद्ध नहीं, बुद्ध' की चेतना जगाया

कोरोना महामारी के दौर में बुद्धं शरणं गच्छामि..... की प्रार्थना को चरितार्थ करते हुए पूरा विश्व एक बार फिर भैषज्यगुरू' मेडिसिन बुद्ध' की शरण में हैं। दुनिया में एक बार फिर 'युद्ध नहीं बुद्ध' की कामना जाग्रत हुई है। बुद्ध मानव के लिए हमेशा प्रासंगिक रहे हैं, फिर आज उनकी प्रासंगिकता की तीव्रता का अनुभव विश्वव्यापी है। रोग बुढ़ापा और मृत्यु के मानवीय कष्ट से दुःखी होकर 2600 साल पहले राजकुमार सिद्धार्थ गौतम जब राजमहल से घटाटोप रात में मनुष्य के जरा–मरण–रोग से मुक्ति का उपाय ढूंढ़ने निकल पड़े, तब वह बुद्ध नहीं थे। कठिन तपस्या और एकांतवास के बाद जब उनमें बोधगया (बिहार) में पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न स्थिति में ज्ञान की ज्योति का 'शक्तिपात' हुआ, वह राजमहल का त्याग करने वाले राजकुमार से बुद्ध' हो गए।

बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध ने मानवमात्र के कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पित करते हुए 12 प्रतिज्ञाएं कीं। ये सभी प्रतिज्ञाएं मानव कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पित करने की प्रतिज्ञाएं थी। इनमें बुद्ध की छठीं तथा सातवीं प्रतिज्ञाएं आज उन्हें और भी प्रासंगिक सिद्ध करती हैं। बुद्ध ने छठीं प्रतिज्ञा की– बीमार, अशक्त, विकलांग सभी पूर्ण स्वस्थ हों और जो मेरी शरण में आयेंगे, वे रोग–शोक से मुक्त होंगे। सातवीं प्रतिज्ञा में उन्होंने कहा, मैं समस्त रोगियों, असहाय लोगों और गरीब लोगों को हर प्रकार के कष्ट और पीड़ा से मुक्ति दूंगा। बौद्ध महायान परंपरा में भगवान बुद्ध के आठ अवतारों में सातवाँ अवतार 'भैषज्यगुरू'' का अवतार है। तिब्बत में बुद्ध के मंजुश्री, अमिताभ पद्मसंभव आदि रूपों की मान्यता के साथ 'मेडिसिन बुद्ध' भी पूजित हैं। बौद्ध परंपरा के मूल ग्रंथ त्रिपिटक में बुद्ध को 'शल्यकतो अनुत्तरों' अर्थात् शल्यक्रिया में निपुण, उत्कृष्ट, अद्वितीय सर्जन की मान्यता है। पृथ्वी पर उनका प्रार्दुभाव ही मानवमात्रा के कल्याण और दुःख निवारण के लिए हुआ। उन्होंने धर्म के आचरण को कष्ट, पाप एवं पीड़ा के निवारण का मार्ग बताया। बौद्ध ग्रंथों में भगवान बुद्ध के हर रूप में उनकी रोगशमन शक्ति की महिमा का विशेष उल्लेख है। गिरिमानंद सुत में वर्णित एक चर्चित प्रसंग के अनुसार, राजगीर में बुद्ध के एक भिक्षु गंभीर रूप से बीमार हो गए। दूसरे भिक्षु आनंद ने भगवान बुद्ध को जब इस बारे में बताया, तो उन्होंने बीमार भिक्षु के लक्षण पूछे, फिर रोग के लक्षणों के आधार पर निदान किया तथा उपचार बताया कि साफ–सफाई के साथ रहकर एक सप्ताह बैठकर साधना करना है। ऐसा करने पर सातवें दिन ही बीमार भिक्षु पूर्ण स्वस्थ होकर बुद्ध के चरणों में पहुँचे।

महायान–बौद्ध परंपरा के अनुयायी जापान, चीन, तिब्बत, मंगोलिया, वियतनाम आदि देशों के बौद्धें का पारंपरिक विश्वास है कि केवल बुद्ध की मूर्ति के स्पर्श या उनके नामोच्चारण से ही अनेक रोगों का उपचार हो जाता है। कुछ जटिल रोगों के उपचार के लिए बौद्ध धर्म की 'भैषज्यगुरू' परंपरा में अनेक कठिन पूजा–उपचार पद्धतियाँ है। महायान सम्प्रदाय में अनेक मुद्राओं में भैषज्यगुरू की प्रतिमाएँ हैं। जापान के नारा शहर में आठवीं सदीं के विश्वप्रसिद्ध कोपफूकजी मंदिर में अत्यंत सुंदर बुद्ध प्रतिमा के एक हाथ में औषधिपात्र तथा दूसरा हाथ भूमि स्पर्श मुद्रा में है, जिसकी अनेक धार्मिक, आध्यात्मिक एवं तात्विक विवेचनाएँ बौद्ध साहित्य में मिलती है। इसी मंदिर में आठवीं सदी में जापान के बीमार सम्राट के स्वास्थ्य लाभ के लिए पूजन, उपचार किया गया वे पूर्ण स्वस्थ हो गए।[11]

यह स्पष्ट है कि शताब्दियों पूर्व महात्मा बुद्ध ने जिन सिद्धांतों एवं आदर्शों का प्रतिपादन किया वे आज के वैज्ञानिक युग में भी अपनी मान्यता बनाये हुए हैं तथा विश्व में उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयास कर रहे हैं। भारत में अपने

राजचिन्ह के रूप में बौद्ध प्रतीक को ही ग्रहण किया है तथा वह शान्ति एवं सह–अस्तित्व के सिद्धांतों का पोषक बना हुआ है। पंचशील का सिद्धांत बौद्ध धर्म की ही देन है। आधुनिक संघर्षशील युग में यदि हम बुद्ध के सिद्धांतों का अनुसरण करें तो निःसंदेह शांति और सद्भाव स्थापित हो सकती है।

आज भारत सहित विश्व में जो धार्मिक कट्टरवाद व टकराव दिखाई दे रहा है, वह सबके लिए बड़ी चिंता और चुनौती का विषय है। भारत में साम्प्रदायिक, दंगों और जातीय जनसंहारों में जितने निर्दोष लोगों की जानें गई हैं, वे भारत द्वारा अब तक लड़ी गई सभी लड़ाइयों में मारे गए, सैनिकों से कहीं अधिक हैं। अतः अगर भारत में धार्मिक–स्वतंत्रता और धर्म–निरपेक्षता के संवैधानिक अधिकार को बचाना है तो बौद्ध धर्म के धार्मिक सहिष्णुता करूणा और मैत्री के सिद्धांतों को अपनाना जरूरी है। दुनिया में धार्मिक टकरावों का एक कारण इन धर्मों को विज्ञान द्वारा दी जा रही चुनौती भी है। ईश्वरवादी धर्मों के अनुयायियों की संख्या कम होती जा रही है, क्योंकि वे विज्ञान की तर्क और परीक्षण वाली कसौटी पर खरे नहीं उतर पा रहे हैं।

अतः वे अपने को बचाये रखने के लिए तरह–तरह के प्रलोभनों द्वारा, चमत्कारों का प्रचार एवं अन्य हथकंडों का इस्तेमाल करके अपने अनुयायियों को बांध कर रखना चाहते हैं। उनमें अपने धर्म की अवैज्ञानिक और अंध–विश्वासी धारणाओं को बदलने की स्वतंत्रता एवं इच्छाशक्ति का नितांत अभाव है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म विज्ञानवादी और परिवर्तनशील होने के कारण विज्ञान के साथ चलने और जरूरत पड़ने पर अपने को बदलने में सक्षम है। इन्हीं गुणों के कारण अम्बेडकर ने भविष्यवाणी की थी कि यदि भविष्य की दुनिया को धर्म की जरूरत होगी तो इसको केवल बौद्ध धर्म ही पूरा कर सकता है।''[12]

बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य है– दुःख, दुख के कारण, दुख निरोध का मार्ग, दुख निरोध संभव है। दुख का कारण इच्छाएं हैं और प्रत्येक इच्छा की तृप्ति संभव नहीं है। इसलिए इच्छाओं पर लगाम होना चाहिए। जब–जब इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है तो वह दुःख का कारण बनती है।[13]

आज व्यक्ति और समाज दोनों ही भौतिक साध्न संपन्न है, फिर भी मन अशांत है। कारण स्पष्ट है कि दिन–प्रतिदिन परस्पर पनपते अविश्वास की भावना, जातीय वैमनस्य साम्प्रदायिक हिंसा, धार्मिक असहिष्णुता, अपराधीकरण, महिलाओं का अपमान एवं शोषण, मानवाधिकार हनन, भ्रूणहत्या, कानून का सरेआम उल्लंघन, राजनैतिक अपराधीकरण, निरंतर बढ़ती जनसंख्या का घनत्व, पर्यावरण प्रदूषण, भ्रष्टाचार एवं आतंकवाद इत्यादि समस्याओं से मानव–जगत आक्रान्त है, पीड़ित है और भयभीत भी। ऐसी ही विषम परिस्थितियाँ आज से अनेक वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध के समय में भी थीं। नाना प्रकार के दुखों से संतप्त,

विविध व्याधियों से पीड़ित एवं अशांत मानव को सुखी बनाना उनका कल्याण करना ही बौद्ध धर्म का प्रमुख लक्ष्य है। बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट निर्देश दिया है कि भिक्षुओं लोगों के हित–सुख के लिए लोक पर दया करने के लिए, देव–मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरण करें।[14] इस प्रकार भगवान बुद्ध की समस्त देशना मानव समाज एवं राष्ट्र के कल्याण एवं विश्वबंधुत्व की भावना से ओत–प्रोत है।[15]

भगवान बुद्ध ने स्पष्ट कर दिया था कि उनके अनुयायी स्वयं उनकी बातों को सुन कर जस का तस न मान ले बल्कि उनका परीक्षण करें, जांच करें जैसे एक सुनार सोने की गुणवत्ता की करता है। उन्होंने कहा था कि यदि हमें अपने विवेक और रचनात्मक का उपयोग करने से रोका जाता है तो हम मनुष्य होने का एक आधारभूत गुण खोते हैं। गौतम बुद्ध ने विश्व को पंचशील और निर्वाण का मार्ग दिखाया, यह मार्ग पहले की अपेक्षा आज ज्यादा व्यावहारिक सार्वलौकिक एवं सर्वाधिक उपयुक्त है। आमजन के लिए बुद्ध इतने श्रद्धेय थे कि जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द, में उनकी महाविष्णु के रूप में प्रशंसा की जो अहिंसा का पाठ पढ़ाने के लिए भगवान के रूप में अवतरित हुए। इसलिए बुद्ध के आगमन के पश्चात हिन्दू बौद्ध के रूप में व बौद्ध हिन्दू के रूप में समाहित हो गये। आज वे एक–दूसरे में पूरी तरह से घुलमिल गए हैं।

भारत की सांस्कृतिक सीमाओं के विस्तार में व बिना शस्त्र विश्वविजयी होने में प्रमुख योगदान दिया है, तथागत गौतम बुद्ध द्वारा प्रचलित बौद्ध धर्म ने। भगवान बुद्ध ने ईसवीं पूर्व 563 से ईसवीं पूर्व 483 तक अपना यशस्वी जीवन जिया और बौद्ध धर्म को स्थापित किया। आज विश्व में बौद्धें की संख्या लगभग 200 करोड़ हो गई है। विश्व के सभी महाद्वीपों में प्रचलित होकर यह एक विश्वधर्म के रूप में स्थापित हो गया। माना जाता है कि अकेले चीन में ही 100 करोड़ से अधिक बौद्ध हैं जो चीन की जनसंख्या का 80 प्रतिशात से अधिक है। आज वहाँ सभी बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषांतर हो चुका है। दक्षिण–पूर्वी एशिया में तो बौद्ध धर्म एक प्रमुख धर्म बन चुका है। थाइलैंड एक घोषित बौद्ध राष्ट्र है, यहाँ बौद्ध विहारों, लंबे सुनहरे स्तुप, बौद्ध वास्तुकला प्रमुख रूप से दिखती है।

भारत के लिए भगवान बुद्ध के सांस्कृतिक महत्व को स्वामी विवेकानंद द्वारा तथागत बुद्ध के लिए कहे गए इन शब्दों से समझा जा सकता है– जब बुद्ध का जन्म हुआ, उस समय भारत को एक महान आध्यात्मिक गुरू की परम आवश्यकता थी। भगवान बुद्ध कभी भी न वेद, न जाति, न पंडित और न ही परंपरा, कभी किसी के आगे नहीं झुके। उन्होंने निर्भय होकर तर्कसंगत रूप से अपना जीवन बिताया। निर्भर होकर सच्चाई की खोज की और विश्व में सभी के लिए अगाध–प्रेम रखने वाले ऐसे महामानव को विश्व ने पहले कभी नहीं देखा। बुद्ध

किसी भी अन्य धर्मगुरू से अधिक साहसी और अनुशासित थे। बुद्ध पहले मानव थे जिन्होंने इस दुनिया को आदर्शवाद का एक पूरा तंत्र दिया। वे भलाई के लिए भले और प्रीत के लिए प्रीतिकर थे। बुद्ध समानता के बहुत बड़े समर्थक थे। प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिकता प्राप्त करने का समान अधिकार है, यह उनकी शिक्षा है। मैं व्यक्तिगत रूप से भारत को बौद्ध–भारत कहूँगी क्योंकि इस देश ने धार्मिक विद्वानों से बुद्ध द्वारा दिये गये सभी मूल्यों और शिक्षाओं को आत्मसात कर उन्हें यहाँ के साहित्य में दर्शाया।

हमारे भारत से उद्‌भव हुआ बौद्ध धर्म आज चीन, जापान, वियतनाम, थाईलैंड, म्यांमार, भूटान, श्रीलंका, कम्बोडिया, मंगोलिया, तिब्बत, लाओस, हांगकांग, ताइवान, मकाउ, सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, रूस, तुर्किस्तान, तजाकिस्तान एवं उत्तर कोरिया समेत कुल 18 देशों का प्रमुख धर्म है। नेपाल, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, इंडोनेशिया, रूस, ब्रुनेई, मलेशिया आदि देशों में भी करोड़ों बौद्ध निवासरत है।[16]

निष्कर्ष

बौद्ध धर्म भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का वह मूल्यवान बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक तथा मानवतावादी जीवन पक्ष है जो संपूर्ण मानवता को अतीत की भांति, आज भी अंर्तदृष्टि प्रदान करता है। बौद्ध धर्म अत्यंत निर्मल, निष्कलंक, निश्छल, सार्वजनित, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सनातन, वैज्ञानिक एवं आशुफलदायी है, इसमें प्रज्ञा, शील, समाधि, सदाचार व ध्यानादि के माध्यम से शरीर व चित्त के पारस्परिक प्रभाव क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए मन के अंदर की गहराईयों में निरीक्षण करते हुए प्रपंच मय अनित्यबोधिनी प्रज्ञा को जागृत किया जाता है, ताकि मन एवं शरीर को विकार मुक्त किया जा सके। अतः बौद्ध धर्म व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के साथ–साथ उसे शुद्ध चित्त, विकार रहित शरीर व स्वास्थ्यप्रद वातावरण युक्त जीवन पद्धति प्रदान करता है। अपने अतीत के गौरव को याद रखकर चलना ही भविष्य का निर्माण है। दूसरे को हानि न पहुंचाना ही बुद्ध का दर्शन है। 'अप्पः दीपो भव' की कल्पना को स्वीकार करना आज की महती आवश्यकता है। आज के इस वैज्ञानिक एवं भूमंडलीकरण के रूप में जब पूरी दुनिया आतंकवाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद एवं वर्चश्व से संघर्षरत है तो भगवान बुद्ध की करूणा सहिष्णुता एवं विश्व शांति का संदेश संपूर्ण विश्व का मार्गदर्शन करेगा।

वर्तमान परिदृश्य में भगवान बुद्ध के नैतिकता सिद्धांतों से सामाजिक परिवर्तन कर संघर्ष निवारण किया जा सकता है। शांति और सद्‌भाव का मार्ग दुर्गम हो सकता है, असाध्य नहीं है। इस प्रकार 21वीं शताब्दी के वैकल्पिक तंत्र के प्रयोग व विकास की आवश्यकता है। बौद्ध दर्शन में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मुद्‌दों से संबंधित भगवान बुद्ध के विचारों और नजरिया वर्तमान समय में अब

अधिक प्रासंगिक है। भगवान बुद्ध के उपदेश सार्वभौमिक व सर्वकालिक है एवं वह सभी के लिए हितकारी है। विश्व स्तर पर पनप रहे भ्रष्टाचार, आतंकवाद, ईर्ष्या–द्वेष आदि को समाप्त कर एक स्वरूप संपन्न लोक मंगलकारी समाज बनाने के उद्देश्य से बुद्ध के उपदेश आज भी सक्षम व प्रासंगिक हैं। आज का मानव वर्तमान परिवेश में रक्षक की जगह भक्षक न बन जाये, इसके लिए हमें बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को अपनाना होगा। जिससे व्यक्ति के आचरण, बुद्धि व विचार में परिवर्तन हो सके, क्योंकि समाज में एकता एवं समानता, मैत्री, न्याय एवं विश्व बंधुत्व के माध्यम से ही ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना साकार हो सकेगी।

संदर्भ

1. दिनकर, रामसिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 143
2. चौधरी, हेमचन्द्र राय, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एशेन इंडिया, पृ. 306
3. धम्म सेनानायक, अंक 6 वर्ष 1 जून 2001, पृ. 6
4. पाण्डे, अजय कुमार, बौद्ध संस्कृति, पृ. 56
5. गुप्ता, एस.पी. एवं गुप्ता, अल्का, भारतीय शिक्षा प्रणाली का विकास, शारदा पुस्तक भवन इला. 2012, पृ. 44
6. पाण्डे, ब्रज मोहन, बौद्ध साधना एवं दर्शन, पृ. 88
7. चंचरीक कन्हैया लाल, भगवान बुद्ध का जीवन और दर्शन, पृ. 49
8. वही, पृ. 50
9. पंत, पुष्पेश, 21वीं सदी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध, नई दिल्ली, एम.सी. ग्राहिल एजूकेशन इंडिया प्रा.लि., 2014, पृ. 12
10. पाण्डेय, अजय कुमार, बौद्ध संस्कृति के विविध आयाम, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 76
11. पाठक, राममोहन आलेख, ''महामारी के दौर में एक बार फिर 'युद्ध नहीं : बुद्ध की चेतना जाग्रत', अमर उजाला, 26 मई, 2021
12. राज, मेनिया आलेख ''बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता'', जनसत्ता, 26 मई, 2021
13. वर्तमान परिवेश में बौद्ध धर्म अधिक प्रासंगिक जागरण, 18 दिसम्बर, 2013
14. महावंग्ग, पृ. 23
15. जैन, जिनेन्द्र, जैनविद्या एवं बौद्ध अध्ययन के आयाम, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 363
16. गुगनानी, प्रवीण आलेख ''भगवान गौतम बुद्ध ने विश्व को पंचशील और निर्वाण का मार्ग दिखाया'', प्रभा साक्षी समाचार पत्र, 7 मई, 2020

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

श्रीमद्भगवद्गीता के परिप्रेक्ष्य में सदगुणी अवस्था प्राप्ति का तार्किक विश्लेषण

डॉ. हेमचन्द्र कुमार *

श्रीमद्भगवद्गीता में मानव के उत्थान और पतन पर सम्यक् रूपेण विचार किया गया है। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण यह दिखाते हैं कि मानव के पतन का कारण क्या है, किस आन्तरिक प्रक्रिया के कारण मानव दुर्गुणी बन जाता है और सद्गुणी अवस्था को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है। श्रीकृष्ण का कहना है कि ''इन्द्रियाँ अत्यंत ही प्रबल एवं वेगवान है। इसे अभ्यास एवं वैराग्य से नियंत्रण में लाना चाहिए। जो मनुष्य अपनी चेतना को मुझ परमात्मा में स्थिर कर इंद्रिय संयम का प्रयास करता है वह सद्गुणी अवस्था को उपलब्ध हो जाता है।[1] परंतु जो इन्द्रियों के आवेग में आकर निरंतर इन्द्रिय विषयों का चिंतन करता है वह दुर्गुणी अवस्था को प्राप्त होता है''। दुर्गुणी व्यक्ति को गीता में आसुरी संपदा वाला व्यक्ति कहा गया है। इसके प्रमुख लक्षणों को बतलाते हुए कृष्ण कहते हैं–''हे अर्जुन दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान–ये आसुरी स्वभाव वालों के गुण हैं''।[2] भारतीय परंपरा में अज्ञान को बंधन का मुख्य कारण माना गया है।[3] श्रीकृष्ण भी मानव के पतन को अंतिम कारण के रूप में अज्ञान को स्वीकार करते हैं। यह भारतीय सनातन परंपरा का सम्मान है। कृष्ण का मानना है कि विषयों के प्रति आसक्ति या फलासक्ति का मुख्य कारण अज्ञान है और परिणाम बन्धनकारी तथा श्रेय साधनों से गिराने वाला है। विषयासक्ति मानव को अनैतिकता व अधःपतन के गर्त में फेंकती है। आसक्ति से विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना–पूर्त्ति न होने से क्रोध और क्रोध से अविवेक या मूढ़भाव उत्पन्न होता है।[4] अविवेक से स्मरणभाक्ति भ्रमित होती है अर्थात् उचित अनुचित का ज्ञान समाप्त हो जाता है, परिणामतः बुद्धि (ज्ञान शक्ति) नष्ट हो जाती है। बुद्धि नाश से मनुष्य अपने मूल लक्ष्य श्रेयस की प्राप्ति के सभी साधनों से विमुख हो भ्रष्ट होकर अमानवीय जीवन अर्थात् दुर्गुणी जीवन जीता है।

** सहायक प्रध्यापक, जे. एन. कॉलेज, मधुबनी, एल.एन.एम.यू., दरभंगा*

श्रीमद्भगवद्गीता में दुर्गुणी व्यक्ति को आसुरी संपदा से युक्त बतलाया गया है। आसुरी चित्त वाले लोग नारकीय जीवन जीते हैं। आत्मा के पत्तन होने से ये अधम गति को प्राप्त होते हैं। दुर्गुणी मनुष्य की प्रवृतियों का विश्लेषण करते हुए सोलहवें अध्याय में निम्नवत् लक्षण प्रस्तुत किया गया हैं –

1. ये बन्धनकारी आसुरी स्वभाव से युक्त होते हैं–दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और अज्ञान–प्रमुख आसुरी सम्पदा है।[6]
2. दुर्गुणी व्यक्ति में कर्तव्य–बोध नहीं होता, क्या करणीय है, क्या अकरणीय है इसकी चेतना उसमें नहीं पायी जाती। वस्तुतः इस प्रकार के लोग पवित्रता, उचित आचरण और सत्य से विहीन होते हैं।
3. ऐसे व्यक्ति जगत् के अंतिम आधार के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता ,उसके अनुसार जगत् कामेच्छा से उत्पन्न होता है।[7]
4. ऐसे व्यक्ति ज्ञानविहीन, आत्मविहीन, बुद्धिविहीन होते हैं और इनकी प्रवृत्ति अनुपयोगी एवं भयावह कर्मों में रहती है जो संसार को अशांति और विध्वंस की ओर ले जाता है।[8]
5. इस प्रवृत्ति के मनुष्य गर्व के मद एवं मिथ्या प्रतिष्ठा में डूबे रहते हैं, इनका चित्त मोहग्रस्त होता है, ये कभी न संतुष्ट होने वाले काम का आश्रय लेकर सदैव क्षणभंगुर वस्तुओं के द्वारा अपवित्र कर्म को सम्पन्न करते हैं।[9]
6. ऐसे व्यक्ति इन्द्रिय तृप्ति को मानव सभ्यता की मूल आवश्यकता बतलाते हैं'' और काम तथा क्रोध में मग्न होकर इन्द्रिय तृप्ति हेतु अवैध ढ़ंग से धनसंग्रह करते हैं।[10]
7. ऐसे व्यक्ति स्वयं को श्रेष्ठ मानते हैं, सदैव अहंकार में रहते हैं और सम्पत्ति तथा मिथ्या प्रतिष्ठा से मोहग्रस्त होकर पाखंड से युक्त नाममात्र के लिए बड़े गर्व के साथ यज्ञ करते हैं।[11]
8. मिथ्या अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध से मोहित होकर आसुरी व्यक्ति अपने शरीर तथा अन्यों के शरीर में स्थित भगवान् से ईर्ष्या और वास्तविक धर्म की निन्दा करते रहते हैं।[12]

तत्पश्चात् भगवद्गीता में मानव को दैवीय संपदा प्राप्ति का तर्किक विधान किया गया है। श्रीकृष्ण का मानना है कि आत्मा बुद्धि से भी श्रेष्ठ है परंतु आत्मा कूटस्थ, शाश्वत तथा सर्वव्यापी तत्त्व है। बुद्धि ही मानव शरीर में आत्मा की सर्वश्रेष्ठ कार्यात्मक अभिव्यक्ति है। अतः बुद्धि की शुद्धता निश्चयात्मकता आदि आत्मा के लक्षण बन जाते हैं और बुद्धि विनाश से ही आत्मा का अधःपतन होता

है। भगवद्गीता मानव को इस कठिन परिस्थिति से मुक्ति के लिए तथा व्यावहारिक जीवन के ऊर्ध्वगामी विकास के लिए शुद्धबुद्धि को श्रेष्ठ मानती है और मानव के पास यही साधन है। समत्वबुद्धि प्राप्त होने से व्यक्ति समदर्शी हो जाता है सम्पूर्ण सृष्टि उसके लिए ब्रह्ममय हो जाता है फलतः वह समस्त भूत की जो वस्तुतः ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, उसकी सेवा में तल्लीन हो जाता है। यह परहितार्थ कर्म अनासक्त भाव से सम्पन्न होने के कारण उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है। जैसे जनकादि राजाओं ने केवल नियत कर्मों को करने से ही सिद्धि प्राप्त कर ली।[13] क्योंकि नियत कर्म करने वाले इन कर्मों के रहस्य को जानते हैं वस्तुतः ये कर्म यज्ञ स्वरूप हैं। कृश्ण का मानना है कि समस्त यज्ञ करने वाले यज्ञों के अर्थ को जानने के कारण पाप कर्मों से मुक्त हो जाते हैं और यज्ञफलों को चखकर परम दिव्य लोक को उपलब्ध होते हैं।[14] यानी निष्काम कर्म फल भी उत्पन्न करता है परंतु यह उसे बाँधता नहीं है, बल्कि मुक्ति की ओर ले जाता है। क्योंकि कर्ता को फल के प्रति आसक्ति नहीं होती। वह कर्म के रहस्यों को जानता है और गीता में कहा गया है जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है उसी तरह हे अर्जुन! ज्ञान रूपी अग्नि भौतिक कर्मों के समस्त फलों को जला डालती है।[15] फलतः साधक दिव्य अवस्था को उपलब्ध होता है। स्पष्टतः इस सद्गुणी अवस्था की उत्पत्ति समत्व बुद्धि की प्राप्ति से ही संभव है। समत्वबुद्धि की प्राप्ति से व्यक्ति कर्मों के रहस्य को जान लेता। इस दिव्यज्ञान के कारण उसके समस्त कर्म यज्ञ स्वरूप हो जाता है साथ ही यह ज्ञान उसके समस्त भौतिक कर्मों का क्षय भी कर देती है। यज्ञार्थ कर्म करने से होती है, प्रज्जलित अग्निरूपी दिव्य ज्ञान के बोध हेाने से होती है और कर्मों के रहस्य जानने से होती है।

समत्वबुद्धि, बुद्धि के श्रेष्ठतम अवस्था है। यह सात्विक बुद्धि है। हालांकि यह प्रकृति है परंतु पुरूष को कैवल्य की स्थिति तक पहुँचाने की अद्भुद क्षमता से युक्त है। चेतन पुरूष के अत्यंत समीप होने के कारण सत्व बुद्धि में पुरूष की चेतना प्रतिबिम्बित होती है और इसमें विवके ख्याति होती है। यह पुरूष और प्रकृति के सूक्ष्म भेद को प्रकाशित कर मनुष्य को उस सीमा तक ले जाता है जहॉ उसके संकल्प, भाव और ज्ञान सभी दिव्य हो जाता है। इस दिव्य अवस्था (सद्गुणी अवस्था) के प्राप्ति हेतु समत्वबुद्धि के विकाश के लिए गीता में कई उपाय बताए गए है। समत्व बुद्धि के लिए अन्तःकरण की शुद्धता एवं मन पर नियंत्रण आवश्यक है। अन्तःकरण की भाुद्धि के लिए योगाभ्यास पर बल दिया गया है। शंकराचार्य का मानना है आसक्ति रहित कर्मों के सम्पादन से अन्तःकरण शुद्ध होता है और भाुद्ध अन्तःकरण में आत्मज्ञान उद्भूत होता है। जो आत्मज्ञानी

है वे समत्वबुद्धि से सम्पन्न तथा समस्त सद्गुणों से युक्त होते है। मन की चंचलता पर नियंत्रण के लिए अभ्यास और वैराग्य का मार्ग बताया गया है। साथ ही समत्वबुद्धि की प्राप्ति हेतु गीता में ईश्वर–भक्ति, स्वधर्म तथा लोकसंग्रह भी प्रमुख उपाय के रूप में वर्णित है।

इस प्रकार सिद्ध है कि सद्गुणी अवस्था की प्राप्ति या उत्त्पत्ति समत्वबुद्धि से ही संभव है। समत्वबुद्धि की विकास हेतु विभिन्न उपाय गीता में बतलाए गए है। जब समत्वबुद्धि प्रभावी हो जाता है, तब साधक दैवीय संपदा से युक्त हो जाता है और उसके समस्त आचरण लोककल्याणकारी हो जाती है।

सद्गुणी अवस्था के उत्त्पति के संदर्भ में गीता के निम्न श्लोक का विश्लेषण अत्यंत ही प्रासंगिक होगा–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।[16]

अर्थात् वेद प्रकृति के तीन गुणों (सत्व, रजस् और तमस्) के कार्य रूप समस्त भोगों और उनके साधनों को प्रतिपादित करते हैं। इसलिए हे अर्जुन! तू निस्त्रैगुण्य यानी गुणातीत हो जा ! तू निर्द्वन्द्व नित्यसत्त्वस्थ बन। तू योगक्षेम की भावना से भी ऊपर उठ जा और तू आत्मवान (पुरूष) हो जा।

यहाँ अर्जुन को आत्मवान होने को कहा जा रहा है। गीता के अनुसार प्राकृतिक परिस्थिति का परित्याग ही आत्मवान होना है। इस हेतु पुरूष को निस्त्रैगुण्य एवं निर्द्वन्द्व होना आवश्यक है। निस्त्रैगुण्य या गुणातीत का तात्पर्य प्रकृति के तीनों गुणों से पार जाना नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से यह संभव भी नहीं है। जबतक जीवनमुक्त व्यक्ति विदेहमुक्ति को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक गुणों का पूर्णतः त्याग संभव भी नहीं है। कृष्ण कहते हैं कि गुणातीत वह है ''जो सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश, रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति और तमोगुण के कार्यरूप मोह के प्रवृत्त होने पर भी उनसे न तो घृणा करता है और उनसे निवृत्त होने पर न तो उनकी आकांक्षा करता है''।[17] गीता पुरूष या आत्मा का दूसरा लक्षण निर्द्वन्द्वता बतलाती है। पुरूष निर्द्वन्द्व होता है। प्रकृति के गुणों की परिवर्त्तनशीलता से ही द्वन्द्व भाव उत्पन्न होते हैं। सुःख–दुःख, मान–अपमान, हानि–लाभ आदि द्वन्द्व, प्रकृति की अस्थिरता के कारण जन्म लेते हैं। द्वन्द्व की स्थिति में मन–बुद्धि स्थिर नहीं होते। द्वन्द्वता प्रकृति के गुणों के धर्म हैं। पुरूष होना निर्द्वन्द्वता की स्थिति है। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को पुरूष बनने के लिए निर्द्वन्द्व होने का उपदेश करते हैं।[18]

निर्योगक्षेम होना भी पुरूष का लक्षण है। योग का मतलब होता है अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और क्षेम का अर्थ होता है प्राप्त वस्तु का संरक्षण। इन दोनों ही

स्थितियों में चित्त की चंचलता बनी रहती है, चित्त स्थिर नहीं रहता है। चित्त की परिवर्तनशीलता प्रकृति के धर्म हैं। पुरूष को निर्योगक्षेम होना चाहिए।

तदन्तर इस श्लोक में अर्जुन को आत्मवान् होने का उपदेश दिया गया है। आत्मवान् होने से पूर्व श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रकृति के गुणों से उत्पन्न भावों के त्याग की ही शिक्षा देते हैं। प्रकृति वियोग ही आत्मसंयोग है। आत्मानुभूति के लिए प्रकृति वियोग से अलग कुछ करना नहीं है। यहाँ सांख्य के मत का विश्लेशण करना अप्रासंगिक नहीं होगा। पुरूष सचेतन और ज्ञाता होते हुए भी केवल निर्गुण होने के कारण कर्म करने का साधन स्वयं उसके पास नहीं है और प्रकृति कर्म करने वाली होते हुए भी जड़ अथवा अचेतन होने के कारण कौन सा कार्य करना है इसका ज्ञान उसे नहीं होता। स्वतः आकर्षण शक्ति से इसका संयोग होता है और सृष्टि में कर्म होते रहते हैं। प्रकृति के इस नृत्य से स्वयं के वास्तविक स्वरूप को भूलकर मोहवश या अभिमानवश पुरूष जब तक प्रकृति का यह कर्त्तृत्व स्वयं पर व्यर्थ ही ओढ़े रहता है और सुखः दुःख के पाश में स्वयं को उलझाये रहता है; तब तक वह बंधन ग्रस्त होकर त्रयतापों को भोगता है। परंतु जिस क्षण यह त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, यह ज्ञान उसे हो जाता है उसी क्षण वह आत्मवान् हो जाता है। मन, बुद्धि आदि प्रकृति के विकार होने के कारण बुद्धि को जो ज्ञान होता है वह भी प्रकृति के ही कार्य का फल है। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है सात्विक, राजस और तामस। सात्विक ज्ञान का बुद्धि में जब उदय होता है तो प्रकृति से पार्थक्य का बोध पुरूष को होने लगता है। वस्तुतः पुरूष निगुण है और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है। यह दर्पण जब स्वच्छ हो जाता है अर्थात प्रकृति के ही विकार रूपी बुद्धि सात्विक हो जाती है तो अपने वास्तविक स्वरूप का बोध इस स्वच्छ दर्पण में पुरूष को हो जाता है। और प्रकृति एक प्रकार से लज्जित होकर उस पुरूष के सम्मुख नृत्य करना बन्द कर देती है। फलतः पुरूष को अपने वास्तविक स्वरूप का बाध हो जाता है। यह अवस्था आत्मवान की अवस्था है, सत्त्वगुण के उत्कर्ष से प्राप्त होने के कारण सद्गुणी अवस्था है।

इस प्रकार सत्त्वगुण की उत्त्पत्ति आत्मज्ञान के द्वारा ही संभव है। आत्मा का ज्ञान आत्मा से संभव नहीं है। अतः आत्मा का ज्ञान बुद्धि को तीन कोटियों में से सात्त्विक बुद्धि से ही संभव है। सात्त्विक बुद्धि श्रेष्ठ, और उत्तम कोटि की बुद्धि है। सात्त्विक बुद्धि के उत्कर्ष होने पर अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण प्रभावहीन होने लगता है। एक तरह से यह अन्तःकरण जो प्रकृति का विकार है, पुरूश के लिए दर्पण का कार्य करता है। अन्तःकरण में जब तक रज और तम का प्रभाव रहता है अन्तःकरण में विक्षोभ रहता है, मलिन रहता है। फलतः आत्मा इसमें प्रतिबिम्बित ही नहीं होती। जैसे–जैसे रज और तम का प्रभाव घटता है

तथा सत्व का उत्कर्ष होता है वैसे वैसे अन्तःकरण निर्मल और स्वच्छ होता जाता है। इस अन्तःकरण रूपी स्वच्छ दर्पण में आत्मा प्रतिबिम्बित होता है फलतः उसे आत्मवान् होने का बोध होता है और सद्गुणी अवस्था की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः आत्मा ही समस्त सद्गुण का आश्रय है।

यह सद्गुणी अवस्था त्रिगुणातीत अवस्था है तथा यह स्थिति सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के परे है परंतु वह सात्त्विक अवस्था की ही पराकाष्ठा होने के कारण सामान्यतः उसका समावेश सात्त्विक वर्ग में ही किया जाता है, इसके लिए कोई नया वर्ग नहीं बनाया गया है।[19] हालांकि भागवत आदि ग्रंथों में इन तीनों गुणों से पार जा चुके पुरूष जो निर्हेतुक अभेदभाव से भक्ति करता है, उसे निर्गुण भक्ति नामक चौथा नाम दिया है। परंतु गीता में सत्वगुण के आत्यंतिक उत्कर्ष से प्राप्त त्रिगुणातीत अवस्था की गणना सात्त्विक वर्ग में ही की गई है।

संदर्भ

1. गीता, 2/60,61
2. गीता, 16/04
3. चटर्जी एवं दत्ता, भारतीय दर्शन, पुस्तक भंडार पब्लिशिंग हाउस, पटना, पृ 16
4. गीता, 2/62
5. गीता, 2/63
6. गीता, 16/04
7. गीता, 16/18
8. गीता, 16/09
9. गीता, 16/10
10. गीता, 16/11, 12
11. गीता, 16/17
12. गीता, 16/18
13. गीता, 3/20
14. गीता, 4/30
15. गीता, 4/37
16. गीता, 2/45
17. गीता, 14/22
18. गीता, 14/25
19. तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर, गीता रहस्य, तिलक बंधू, नारायण पेठ, पूना, पृ.सं. 631

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

वाक्यार्थबोध भट्ट मीमांसा के सन्दर्भ में

डॉ. पूजा सिन्हा *

वाक्यार्थ बोध भारतीय भाषा दर्शन का एक महत्वपूर्ण विषय है। वाक्य भाषा की महत्वपूर्ण इकाई है। सार्थक पदों के समूह से वाक्य का निर्माण होता है। अपनी बात को अन्यों तक पहुँचाने का स्पष्टतम माध्यम भाषा ही है। भाषा की अभिव्यक्ति वाक्यों के माध्यम से ही हुआ करती है। अतः भाषा विश्लेषण के अध्ययन के प्रसंग में वाक्यार्थबोध का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। मीमांसा शास्त्र में वाक्य एवं वाक्यार्थ सम्बन्धी सूक्ष्म तथा विशद चर्चाएँ बहुलता से प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि इसकी प्रसिद्धि वाक्यशास्त्र के नाम से भी है। इस प्रस्थान में दो मत हैं 1. अभिहितान्वयवाद एवं 2. अन्विताभिधानवाद। वाक्यार्थ के अतिरिक्त भी इन दोनों के सम्प्रदायों के बीच अनेक दार्शनिक विषयों पर मतभेद प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत आलेख का प्रतिपाद्य विषय अभिहितान्वयवाद पर चर्चा करना है। अतः यहाँ पर उसी की चर्चा की जा रही है। अभिहितान्वयवाद के प्रतिष्ठापक एवं समर्थक श्लोकवार्तिककार श्री कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र[1] इत्यादि हैं। इनके अनुसार वाक्य पदघटित होता है। पदों के अर्थ अभिधा–शक्ति से प्राप्त वाच्य, अभिहित होते हैं। अभिहित पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध, अन्वय आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि जैसे तत्त्वों की सहायता से होता है। इस मत में पदार्थों का अभिधान, मुख्यार्थ का बोधन चूंकि अन्वय, संसर्ग से पहले होता है, अतः इसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं।

पदों की अभिधाशक्ति उनके अर्थ बोधन में ही क्षीण हो जाती है अतः उससे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञापन नहीं हो सकता। पदार्थों का अन्वय अभिधा से अतिरिक्त अन्य शक्ति, लक्षणा के द्वारा में माना जाता है। इस प्रकार इस मत में पदार्थ को अभिधेय तथा वाक्यार्थ को लक्ष्य स्वीकार किया जाता है–'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः।'[2]

* *अतिथि प्राध्यापिका, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, गणेशदत्त महाविद्यालय, बेगूसराय*

पदार्थ पद के द्वारा वाच्य होते हैं तथा वाक्यार्थ पदार्थों के द्वारा लक्ष्य। अभिहितान्वयवाद सिद्धांत का प्रमुख प्रतिपक्षी 'अन्विताभिधानवाद' है। इसके अनुसार पदों के अर्थ परस्पर अन्वित दशा में ही प्राप्त होते हैं। अतः अन्वय के लिए किसी अतिरिक्त शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्विताभिधानवाद के खंडन में भाट्ट मीमांसक निम्नोक्त तर्क देते हैं–

(1) परस्पर अन्वित; सम्बद्ध दशा में अर्थों की प्राप्ति मानने पर पदों के गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य आदि अर्थ मिश्रित अवस्था में प्राप्त हाने चाहिये। जबकि ये अर्थ हमें अलग–अलग भी प्राप्त होते हैं। फलतः इस पक्ष को मानने में प्रत्यक्ष का अपलाप होता है।

(2) यदि वाक्य के सभी पद परस्पर जुड़े अर्थों को प्रदान करें, तो जितने पद होंगे उतने वाक्यार्थ भी होने लगेंगे। अतः प्रत्येक पद में वाक्य कहलाने की क्षमता हो जायेगी फलतः अनेक वाक्य स्वीकार किये जाने लगेंगे।

(3) लोक व्यवहार के द्वारा शक्तिग्रह के समय बालक अन्वयरहित अर्थ का ही ग्रहण करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह पदों का आवाप–उद्वाप करने में समर्थ नहीं हो पाता।

(4) अन्विताभिधानवादी एकमात्र अभिधाशक्ति के द्वारा दो कार्य; पदार्थ एवं वाक्यार्थ का अभिधान मानते हैं। यह बात है न्यायविरुद्ध है।

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थबोध पदार्थबोध के बाद ही हो पाता है, अतः दोनों में कार्यकारण भाव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जैसे काष्ठ का प्रयोजन अन्ततः पाक क्रिया की सिद्धि ही है तथापि काष्ठ 'पाक' का साक्षात् कारण नहीं है। इसी प्रकार पद भी यद्यपि वाक्यार्थ के लिए ही उच्चरित होते हैं पर वाक्यार्थ का बोध साक्षात् नहीं कराते। जैसे लकड़ी अग्नि के माध्यम से भोजन पकाती है, इसी प्रकार 'पद' पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार पदार्थ ही वाक्यार्थ के अव्यवहित कारण हैं। पदों से सामान्य पदार्थों का ज्ञान होता है तथा आकांक्षा आदि के द्वारा अन्वय होने पर विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है। यह विशिष्ट अर्थ ही वाक्यार्थ होता है।

लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध आवश्यक है। अभिहितान्वयवादी इसका कारण तात्पर्य की अनुपपत्ति मानते हैं। पदों का अन्वयरहित–स्वतन्त्र अर्थ श्रोता द्वारा चाहे गये विशिष्ट अर्थ की पूर्ति नहीं करता। फलतः पदार्थ अनुपपन्न हो जाता है। पदार्थों में अन्वय के द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति लक्षणा शक्ति से होती हैं। इससे वक्ता का तात्पर्य पूरा हो जाता है तथा अनुपपत्ति का निवारण हो जाता है। पार्थसारथिमिश्र की निम्नोक्त कारिका अभिहितान्वयवाद को स्पष्टतः प्रतिपादित कर देती है–

'तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षाद् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु।
पदस्वरूपदाभिहितैः पदार्थः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्।।'[3]

इस सिद्धांत के मूल सिद्धांत के परिचय के बाद हमने देखा कि आचार्य भर्तृहरि ने इसे किस प्रकार प्रस्तुत किया है–

भर्तृहरि के रचयिता वास्तुकारों द्वारा– आचार्य भर्तृहरि, कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र आदि मीमांसकों से न्यूनतम तीन शताब्दी पूर्ववर्ती हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत मीमांसा के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन एवं अपेक्षाकृत प्रारम्भिक हैं। ध्यातव्य है कि भर्तृहरि ने कहीं भी 'अभिहितान्वयवाद' या 'अन्विताभिधानवाद' का कहीं नाम नहीं लिया। यह विभाजन वाक्यकाण्ड के टीकाकार पुण्यराज ने किया है।[4] परवर्ती सभी विद्वानों ने इसका अनुसरण भी किया है। इस परम्परा के अनुसार भर्तृहरि ने अभिहितान्वयवाद सम्बन्धी तीन वाक्यार्थ–सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इनका विवरण अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है–

(1) संसर्ग–वाक्यार्थ : संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष के अनुसार पदों से अन्वयरहित सामान्य अर्थ का अभिधान होने के बाद वाक्यगत अन्य पदार्थों से उनका अन्वय होता है। अन्वय द्वारा एक विशिष्ट अर्थ आता है, जिसे हम वाक्यार्थ की संज्ञा दे देते हैं। इस प्रकार इस मत को मानने वाले पदार्थ को वाक्यार्थ नहीं अपितु उनके विशिष्ट संसर्ग को वाक्यार्थ मानते हैं। पदों का अर्थ वाक्य में रहने पर भी उतना ही होता है जितना कि उनके वाक्य से अलग होने पर। पदार्थ सामान्य अर्थ होता है तथा जब वह दूसरे सामान्य–पदार्थों से सम्बद्ध होता है तब हमें संसर्गात्मक विशिष्ट अर्थ वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

(2) निराकांक्ष पदार्थ–वाक्यार्थ : निराकांक्ष पदार्थ–वाक्यार्थवाद के अनुसार 'वाक्यार्थ' वह 'पदार्थ' है जो सभी पदार्थों के साथ अन्वययोग्य तथा सामान्यरूप होता हुआ दूसरे पदार्थों के साथ आने के कारण आकांक्षा रहित एवं विशेष अर्थ में सिमट गया हो इस पक्ष में वाक्य एवं वाक्यार्थ के सम्बन्ध को अनुमान प्रमाण से प्राप्त माना जाता है। 'सामान्य अर्थ वाला पदार्थ विशेष अर्थ में विश्रान्त, पर्यवसित या निराकांक्ष हो जाता है'– इस कार्य से संबंध का अनुमान होता है। यह संबंध संसर्गमूलक नहीं अपितु असतत्व जैसा होता है। संसर्गवाद की तरह यह पक्ष पदार्थों को साकांक्ष नहीं मानता। यहाँ पदार्थ दूसरे पदार्थों के साथ मिलकर निराकांक्ष हो जाते हैं। यह मत संसर्ग–वाक्यार्थ–पक्ष का एकदेश प्रतीत होता है।

(3) प्रयोजन वाक्यार्थ : प्रयोजन वाक्यार्थ पक्ष के अनुसार किसी वाक्य में विभिन्न पदों का प्रयोग करते समय वक्ता का जो प्रयोजन मिलता है वही वाक्यार्थ है। 'अभिधेयः पदस्यार्थो वाक्यस्यार्थः प्रयोजनम्।'[5]

वाक्यार्थ वक्ता का आशय होता है। यह आशय आकांक्षा अथवा संसर्ग से नहीं अपितु वक्ता के तात्पर्य से जाना जाता है। पद अपने स्वतन्त्र अर्थों को अभिधा के माध्यम से देते हैं, जबकि वाक्यार्थ का निर्धारण अर्थात् पदों का संसर्गजन्य अर्थ विवक्षा के आशय से होता है। यह मत अभिहितान्वयवाद का प्राचीन स्वरूप जान पड़ता है जिसमें तात्पर्यार्थ को वाक्यार्थ के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रस्तुत आलेख में भारतीय भाषाविश्लेषण के तहत वाक्यार्थबोध का अध्ययन किया जाना है और वो भी भट्ट मीमांसा के सन्दर्भ में।

भारतीय भाषादर्शन में वाक्यार्थ को शब्द प्रमाण माना गया है। मीमांसा दर्शन में इस शब्द प्रमाण को काफी महत्व प्रदान किया गया है। इस महत्ता के कारण ही यहाँ वेदों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। अतः मीमांसा के सन्दर्भ में वाक्यार्थबोध की महत्ता सहज ही सिद्ध है। मीमांसा में शब्द की नित्यता को स्वीकार किया गया है। अब प्रश्न है कि क्या वाक्यार्थ भी नित्य है ?[6] अर्थात् क्या वाक्यार्थ अपने घटक शदों के अर्थ पर निर्भर करता है अथवा वाक्यार्थ अपने घटक शब्दों के अर्थ से स्वतंत्र होता है ?

इस प्रश्न को लेकर प्रभाकर और कुमारिल में मतभिन्नता पायी जाती है । प्रभाकर का कहना है कि वाक्यार्थ अपने घटक शब्दों के अर्थ से स्वतंत्र होता है जबकि कुमारिल के अनुसार वाक्य का अर्थ उसके घटक शब्दों के अर्थ पर निर्भर करता है। प्रभाकर के मत को अन्विताभिधान्वाद तथा कुमारिल के मत को अभिहितान्व्यवाद कहा जाता है। प्रस्तुत आलेख में भट्टमीमांसक कुमारिल के अभिहितान्व्यवाद का अध्ययन किया जाएगा।[7] अभिहितान्वयवाद कुमारिल मीमांसा और अन्य न्याय दर्शन में स्वीकार किया गया है कि शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है। एक शब्द स्वार्थबोधन के लिए दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं करता। वाक्य स्वतंत्र अर्थबोधन करनेवाले शब्दों का समूह होता है। स्वार्थबोधन करने के बाद शब्द वाक्य में अन्वित होते हैं। यह सिद्धांत अन्विताभिधानवाद का ठीक उलटा है। इसके अनुसार भाषा की इकाई शब्द ही है, वाक्य इकाइयों का समुदाय मात्र है। प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् अर्थ होता है। चूँकि प्रकृति व्यवहार में प्रचलित है अतवह स्वतंत्र रूप से अर्थबोधन करती है। प्रत्यय उससे लोक में स्वतंत्र अर्थ है जैसा प्रकृति लोकप्रचलित नहीं है अत –विशेष्य–का। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का पारस्परिक संबंध विशेषण भाव के रूप में होता है और इसको प्रकारतावाद कहते हैं। जहाँ अन्विताभिधान्वाद में अन्वित अर्थ को कहनेवाले पद ही अन्वय को बतलाते हैं वहीं अभिहितान्व्यवाद में पदों द्वारा अभिधान में लाए हुए अर्थों का वाक्य में अन्वय स्वीकार किया जाता है अन्वयसहित पदार्थों को तात्पर्यरूप वाक्यार्थ माना जाता है। इस प्रकार कुमारिल मत में अन्वयशक्ति वाक्य की शक्ति

है जो पदार्थों को अन्वित करके प्रस्तुत करती है। इससे गतिहीन अलग–अलग पदार्थों में एक गतिशीलता आ जाती है जिससे कामोपयोगी वाक्यार्थ का निर्माण होता है। यहाँ अलग–अलग पदार्थ अन्वय लेकर वाक्यार्थ का निर्माण करते हैं जिसमें घटक पदों से अधिक अन्वय का समावेश रहता है।[8]

कुमारिल के अनुसार वाक्यार्थ का बोध पदों की अंतर्निहित पारस्परिक सम्बन्ध–बोध की शक्ति से नहीं होता, विभिन्न पदों के अर्थों में अंतर्निहित पारस्परिक सम्बन्ध–बोध की शक्ति से होता है। पदों में अर्थबोध की अभिधा नाम की जो शक्ति रहती है, वह पदों के संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकती है। अभिधा शक्ति से लभ्य पदों के वे अर्थ परस्पर असम्बद्ध हुआ करते हैं। उन अलग–अलग पदार्थों को एक सम्बन्ध–सूत्र में पिरो कर एक वाक्यार्थ के रूप में बुद्धि–ग्राह्य बनाने वाली तात्पर्य–शक्ति पदों के अभिहित अर्थ में अंतर्निहित रहती है। इस प्रकार किसी वाक्य में प्रयुक्त पद पहले अपनी–अपनी अभिधा शक्ति से अपने–अपने विछिन्न अर्थों का बोध कराते हैं और फिर वे पदार्थ अपनी अंतर्निहित तात्पर्य–शक्ति से पारस्परिक अन्वय का बोध कराते हुए एक पूर्ण वाक्यार्थ–बोध में पर्यवसित होते हैं। किसी भी पद के संकेतित अर्थ में अन्य किसी भी अर्थ से अन्वित होने की शक्ति अंतर्निहित रहती है।

अभिहितान्वयवाद की समीक्षा

शब्दों में तथाकथित शक्तिग्रहण संवाद के माध्यम से ही होता है तथा संवाद हमेशा वाक्यात्मक होता है। संवाद के अन्तर्गत हमें वाक्य के अतिरिक्त पद या वर्ण की अलग प्रतीति नहीं होती। ऐसी स्थिति मैं यदि मीमांसक पद एवं वर्ण को स्वतन्त्र एवं सार्थक इकाई मान लेते हैं तो यह निश्चित रूप से प्रत्यक्ष की उपेक्षा तथा अपलाप है। भर्तृहरि यहाँ सामान्य लौकिक व्यवहार का तर्क देते हैं–

> ''न लोके प्रतिपतृणामर्थयोगात् प्रसिद्धयः।
> तस्माद्लौकिको वाक्यादन्यः कश्चिन्न विद्यते।।''[9]

आचार्य को इस मान्यता पर कड़ी आपत्ति है कि शब्द पहले सामान्य अर्थ को देते हैं तत्पश्चात् विशेष को। क्योंकि जिस शब्द ने सामान्य अर्थ को देना स्वीकार कर लिया, वह उस अर्थ को छोड़ नहीं सकता। यदि शब्द उस सामान्य अर्थ को छोड़ भी दे तो वह अर्थ कहाँ गया? इसका उत्तर वादी के पास नहीं है।

अभिहितान्वयवादी के अनुसार वाक्य का अर्थ नशे से नहीं, उनके संसर्ग नामक तत्त्व से जाना जाता है। इसका अर्थ हुआ कि वाक्यार्थ संसर्ग से प्राप्त होता है शब्द से नहीं। वाक्यार्थ के अशाब्द होने से पदार्थ भी अशाब्द हो जाएगा। ऐसा होने पर शब्द एवं अर्थ का नित्य संबंध खंडित हो जाएगा, जो मीमांसक के भी विरुद्ध है–

''अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोंऽपि तथा भवेत्।
एवं सति च संबंधः शब्दस्यार्थेन हीयते।।'[10]

इस दोष से बचने के लिए पूर्वपक्षी शब्दों में ही अन्वयशक्ति नहीं मान सकता क्योंकि यह उसके विरोधी अन्विताभिधानवादी का मत है। प्रयोजन को यदि वाक्यार्थ माना जाय तो वाक्यों का पारस्परिक–सम्बन्ध ठीक नहीं बैठेगा। प्रयोजन का स्वरूप मानसिक होता है, अतः उसका निश्चय एवं उसके स्वरूप का अवधारण भी असम्भव है। यह वाद केवल श्रोता की दृष्टि से विचार करता है। अभिधान के पूर्व वक्ता के मानसिक जगत् की प्रक्रियाओं का स्पर्श भी नहीं किया गया है। अतः यह मत वस्तुतः एकांगी ही है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थ को सखण्ड एवं लक्ष्य मानना सदोष एवं गौरव–पूर्ण है।

संदर्भ

1. तिवारी, डॉ. नागेन्द्र (प्रथम संस्करण, 2012) भारतीय भाषा दर्शन (पूर्व मीमांसा–दर्शन के विशेष सन्दर्भ में) पटना : रशिम पब्लिकेशन, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ संख्या–90–128।
2. मिश्र, डॉ. शोभाकान्त (द्वितीय संस्करण, 2014). शब्दार्थ तत्व पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पंचम प्रकरण।
3. देवराज, डॉ. नन्दकिशोर (षष्ठ संस्करण, 2002). भारतीय दर्शन लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, अध्याय–13, पृष्ठ संख्या– 469।
4. द्विवेदी, आचार्य कपिलदेव (2012). अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन प्रयागराज : हिंदुस्तान अकादमी ।
5. Wordpress.com/25/02/2015
6. Pandya, R.C. (1963). Problem of meaning of Indian Philosophy. Delhi : Motilal Banarsidas.
7. शास्त्री, गजानन (1979). मीमांसा दर्शन, हिंदी व्याख्या, पुणे : भारतीय विद्या भवन।
8. मिश्र, कैलाशपति (1996) भारतीय भाषा दर्शन वाराणसी : कला प्रकाशन।
9. बिजलवान, चक्रधर (1998). भारतीय न्यायशास्त्र लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान।
10. त्रिपाठी, रामसुरेश (1972). संस्कृत व्याकरण दर्शन नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा की अमरता की अवधारणा

डॉ. आफरीन बानो *

तत्त्वमीमांसीय चिंतन में आत्मा एक महत्वपूर्ण अंग है। उपनिषद् दर्शन यथा भारतीय दर्शन से लेकर पाश्चात्य दर्शनों में भी 'आत्मा की अमरता' पर चर्चा की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता जिसे उपनिषदों का निचोड़ माना गया जहाँ भगवान श्री कृष्ण स्वयं अपने मुखबिन्द से किंकत्त्वविमूढ़ अर्जुन को वास्तविक मार्ग की ओर प्रशस्त करने का कार्य करते हैं जिसमें वह न केवल तत्त्वमीमांसा का दर्शन प्रस्तुत करते है बल्कि ज्ञानमीमांसीय व आचारमीमांसीय तत्वों की चर्चा करते हैं। गीता में जीव या आत्मा को ईश्वर का एक अंश माना गया जो शाश्वत है।

'ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः

इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा गया–

द्वा सुपर्ण सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाछत्त्यनश्च न्नन्यो अभिचाक शीति।[1]

कहने का आशय है कि दो पक्षी एक वृक्ष पर बैठें हुए है उनमें एक फलो का भोग करता है तथा दूसरा केवल उसे देखता है न कि फलों का भोग करता है यहाँ पर वृक्ष प्रकृति रूप है जिसका परिवर्तन व छेदन होता है वह दो पक्षी आत्मा और परमात्मा है, जिसमें कुछ सामानता एवं भिन्नतायें पाई जाती है। वही श्वेतास्वतारा उपनिषद् में आत्मा मुक्त एवं प्रदीप्त है वह तेजस, ज्योति ओंर सत्, चित्, आनंद भी है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा अमर, अजर अजन्म, नित्य पुरातन एवं शाश्वत है वो सभी विकारों से रहित है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।[2]

** पूर्व शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद*

अर्थात् जो भी इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इनको मरा हुआ मानता है वे दोनों ही यह वहीं जानते की यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारती है, और न किसी के द्वारा मारी जा सकती है। आगे श्री कृष्ण आत्मा की विस्तृत चर्चा करते हुए कहते है कि–

न जायते म्रियते वा कदाचिन्, नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों, न हन्यते हन्यमाने शरीर।।[3]

आत्मा न तो किसी काल में जन्म लेती है और न उसकी मृत्यु है व न ही कभी जन्मा है न जन्म लेता है और न जन्म लेगा क्योंकि आत्मा नित्य, अजन्मा, सनातन और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होगा। आत्मा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता चूँकि आत्मा अजन्मा है वह भौतिक शरीर धारण करता है और शरीर नाशवर है परन्तु आत्मा अमर अविनाशी है गीता में कहा गया कि जो पूरे शरीर में व्याप्त है उसे तुम अविनाशी जानो, उस अव्यय आत्मा को कोई नष्ट नहीं कर सकता किसी में इतनी समर्थ नहीं हैं।[4] आत्मा शरीर का केवल धारण करती है जैसे शरीर में बाल्यावस्था से तरूणावस्था और फिर वृद्धावस्था में निरन्तर आगे बढ़ता हुआ एक दिन मृत्यु को प्राप्त करता है आत्मा एक शरीर को त्याग दूसरे शरीर में चली जाती है जो धीर पुरुष है वो ऐसे परिवर्तन से मोह को प्राप्त नहीं होता।

यह आत्मा सदैव अपने ही रूप में रहता है। उत्पन्न होना, अस्तित्त्व में आना, बदलना, घटना बढ़ना और नष्ट होना ये शरीर के धर्म है, आत्मा के नहीं। जो भी पदार्थ उत्पन्न होगा उसमें ये छः स्थितियां अवश्य आएगी। शरीर भी इन छः स्थितियों से गुजरता है इसलिए यह नित्य नहीं है केवल इस शरीर में आत्मा ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जो न तो किसी से उत्पन्न होता है, न घटता–बढ़ता है और न नष्ट ही होता है। यही एकमात्र नित्य शाश्वत, सनातन एवं पुरातन है तथा जो आत्म ज्ञानी पुरुष होते है वह आत्मा को ही अपना वास्तविक स्वरूप मानते है न कि इस नाशवर शरीर को वे अपने मृत्यु की चिन्ता न करके अपने कर्तव्यों का निर्वाहन करते है। उनको किसी के साथ प्रेम, मोह, राग–द्वेष आदि नहीं होता।

गीता में आत्मा वह तत्त्व है जो मन, इन्द्रियों तथा बुद्धि से परे देशरहित काल रहित, नाशरहित, अप्रमेय, नित्य और सत् है। आत्मा को सत् माना गया क्योंकि इसका अभाव नहीं है ये सनातन, शाश्वत है गीता कहती है 'नासतो विद्याते भावो न विद्याते सत्'[5] अर्थात् असत् (भौतिक शरीर) का स्थायित्व नहीं है परन्तु जो सत् (आत्मा) है वह अकाट्य, अपरिवर्तनशील तथा निरस्थायी है इसका अभाव नहीं होता। आत्मा को सामान्य माना जाये या विशेष या आत्मा का स्वरूप सत् है। यदि इस विषय पर विचार किया जाये तो दिखाई देता है कि यदि वह सामान्य है तो अवश्य ही उसे विशेष की अपेक्षा होगी, यदि ऐसा है तो प्रलय की अवस्था

में सम्पूर्ण विशेषों के नाश होने पर उसका भी विनाश होगा। कार्य होने के कारण विशेषों का प्रलय में नाश होगा तो उनका धर्म होने से सामान्य का भी विनाश हो जायेगा। यदि सत् स्वरूप है तो वह व्यावृत्त होने के कारण कल्पित होगा इसलिए विनाश से मुक्त होगा। अतः आत्मा सामान्य–विशेष से शून्य है इसलिए उसमें किसी प्रकार विनाश उत्पन्न नहीं होता है।

गीता के कई अध्यायों में आत्मा विषयक तथ्यों का वर्णन दिखाई देता परन्तु मुख्य रूप से गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा संबंधी तथ्यों की विस्तृत व्याख्या दिखाई देती है गीता कहती है आत्मा का विनाश असम्भव है वह विनष्ट नहीं हो सकती शरीर में उसका हनन नहीं हो सकता। जो पुरूष आत्मा को हनन क्रिया का विषय तथा कर्त्ता स्वीकारते हैं वे दोनों आत्मा को नहीं जानते। आत्मा इतनी सूक्ष्म है कि उसको मापना, तथा आकार को ज्ञात नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सारे ब्राह्माण्ड का पोषण करता है उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश से इस भौतिक देह का पोषण होता है। शरीर के नाश होने से आत्मा पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्रों को धारण करते है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्याग नवीन भौतिक शरीर धारण करती है।[6] गीता में आत्मा के विषय में कहा गया कि–

नैंनछिन्दन्ति शस्त्राणि नैनंदहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापों न शोषयति मारूतः।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवं च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।[7]

कहने का आशय है कि कोई शस्त्र आत्मा को काट नहीं सकते, नहीं जल से यह भीग सकता है, न ही अग्नि द्वारा जल सकती है तथा न वायु इसे सुखा सकती है। गीता के सिद्धान्तानुसार आत्मा शाश्वत एवं पुरातन हैं। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप आत्मा है शरीर तो ढांचा अवतरण मात्र है। भगवान् ने अपनी शक्तियों के माध्यम से दो महत्वपूर्ण प्रकृतियों का निर्माण किया परा एवं अपरा प्रकृति। गीता के सातवें अध्याय में इस विषय का वर्णन करते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते है परा प्रकृति (आत्मा) का रूप चैतन्य है, वह चेतन स्वरूप तत्त्व है, यह अखंडित होने वाली सदा, सर्वदा, सर्वत्र है। आत्मा को काटा, जलाया, सुखाया या भिगाया नहीं जा सकता। यह चारों महाभूतों तत्त्वों में होते हुए भी इससे अलग है यह जन्म, अविचलित, स्थिर तथा सर्वव्यापि तत्त्व है।

आगे श्री कृष्ण कहते हैं कि यह अखंडित, अच्छेद इसे छेदा नहीं जा सकता, अदाह्य, अक्लेघ, यह आकाश द्वारा समाहित नहीं किया जा सकता। आत्मा के विषय में कहा गया यह अशोष्य, अव्यक्त, अकल्पनीय, अपरिवर्तनीय सदा शाश्वत है। यह सब आत्मगत स्वरूप जानकर तुम्हें शरीर का मृत्यु का शोक नहीं होना

चाहिए। आत्मा अलग है, यह अभिव्यक्ति का तात्पर्य इसे ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। गीता में कहा गया कि यह एक अमूर्त, अप्रमेय तत्त्व है, जो अचिंतन्य है, मनन एवं चिंतन भी इसके ज्ञान को नहीं जान सकते हैं। तत्त्वदर्शी ने आत्मा को इसी रूप में देखा है अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मृत्यु का डर मन से निकाल दें। गीता कहती है कि यदि तू आत्मा की शाश्वत, अमरता में विश्वास नहीं रखता है तथा यह मानता है कि यह सदैव जन्मता एवं मृत्यु पाने वाली है तो भी आत्मा अशोक है।

आत्मा अचिन्त्य, अव्यक्त तथा विकार रहित है। आत्मा को अव्यक्त इस रूप में कहा जा सकता है इसमें पृथ्वी का गुणगंध नहीं है अतः नाक से सुंघकर इसके ज्ञान की प्राप्त नहीं कर सकते, आत्म तत्त्व का रस गुण इसमें नहीं कि जिह्वा द्वारा इसे चखा जा सके, न ही अग्नि तत्त्व का गुण रूप इसमें है कि चक्षु द्वारा इसे देखा जा सके, वायु का स्पर्शगुण भी इसमें नहीं है कि स्पर्श से इसका ज्ञान हो इसी प्रकार कानों से भी इसका ज्ञान नहीं हो पाता है। कहने का आशय यह है कि हमारी पांचो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आत्मा को ग्रहण नहीं किया जा सकता इसलिए इसे अव्यक्त कहा गया है। आत्मा अचिन्त्य इस कारण है कि मन से आत्मा का चिन्तन होना कठिन है क्योंकि जिसका मन से ग्रहण हो सकता है, उसी का मन से चिंतन हो सकता है। आत्मा का यह वर्णन उपनिषदों से लिया गया यह वर्णन निर्गुण आत्मा का है सगुण का नहीं क्योंकि अविकार्य या अचिन्त्य विशेषण सगुण के लिए लग ही नहीं सकते।

गीता में कहा गया आत्मा अज, अचिन्त्य, सत्, नित्य अविकार्य व निर्गुण है परन्तु तुम इसे अनित्य मानते हो तो भी तुम्हे शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु होगी। श्रीमद्भगवद् गीता में आत्मा से शरीर की भिन्नता दिखाई गयी इसी आधार पर आत्मा को अविनाशी रूप को बताते हुए कहा कि वह अस्तित्त्व में आई है तथा दिव्य रूप में यह सदा रहने वाली है और इसे अपना अस्तित्त्व, परमात्मा से प्राप्त होता है।[8] गीता में कहा गया कि आत्मा मन भी नहीं है, बुद्धि भी नहीं है बल्कि वह इससे ऊपर एक आध्यात्मिक तत्त्व है जिसे मनुष्य का वास्तविक अस्तित्त्व कहा जाता है।[9] जो व्यक्ति आत्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह कर्म–बंधन में नहीं पड़ता और सदा मुक्त हो जाता है। गीता में आत्मा को विशुद्ध, निष्क्रिय, स्वतः प्रकाशित मूल तत्त्व कहा गया है न तो संसार से निकला है, न संसार पर निर्भर है और न जिसका निर्धारण ही संसार द्वारा किया गया, आत्मा अद्वितीय एवं अखण्ड है। गीता में आत्मा को क्षेत्रज कहा गया है तथा शरीर को क्षेत्र। गीता कहती है कि

इंद शरीर कौन्तेय क्षेत्रामित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति त प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।[10]

अर्थात् ये शरीर जो कि रूपवाला है, इसको क्षेत्र नाम से जाना जाता है तथा इसको जानने वाला तत्त्वज्ञ क्षेत्रज्ञ है। ये आत्मा तथा शरीर का प्रदर्शित करने वाले तत्त्व है यह शरीर को तत्त्व वेता क्षेत्र कहते है और देही अर्थात् शरीर क्षेत्रज्ञ है। यह शरीर इच्छा, द्वेष, सुख–दुख और पंचमहाभ्रूतों से मिलकर बना है, यह सूक्ष्म और स्थूल है। स्थूल शरीर का अनुभव जागृत अवस्था में होता है। स्थूल शरीर जागृत अवस्था का विषय है। इस अवस्था में मनुष्य को स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का बोध भी होता है। सूक्ष्म शरीर स्वप्न अवस्था का विषय है। इस स्थिति में मनुष्य को जागृत अवस्था का बोध नहीं होता। स्थूल शरीर से सूक्ष्म में प्रवेश तथा सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर में प्रवेश ही विदेह और देह बद्ध प्रक्रिया है यह ज्ञान आत्म बोध या आत्मा में स्थित होने से पहले नहीं आता। संसार में आत्मा सूक्ष्म और कोई वस्तु नहीं, मन और बुद्धि से आत्मा का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ये दोनो आत्मा से स्थूल है, अतः मन और बुद्धि को सतत् साधना द्वारा संयत करके क्षेत्र और क्षेत्रज का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

क्षेत्र (शरीर) क्षेतज्ञ (आत्मा) के विषय में ऋषियों तथा महापुरुषों ने वेदो, पुराणों, शास्त्रों, वेदान्त तथा स्मृतियों में विस्तृत व्याख्या की है। विशेषता ब्रह्म सूत्र में क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ पर गहन वर्णन किया है। ब्रह्मसुत्र में क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के विषय में कहा गया कि यह गहन रहस्य का विषय है। साधारण बुद्धि व विद्या से इसका बोध नहीं होता। क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को प्राप्त करने से परम ज्ञान (सत्) की प्राप्ति होती है और अन्य कुछ शेष जानने को नहीं रह जाता है। यह शरीर अर्थात् क्षेत्र 24 तत्त्वों से बना है पांच महाभूत पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मन्द्रियाँ पांच तन्मात्रायें बुद्धि, अहंकार, मन और मूल प्रकृति।[11] जो नाशवर है वही आत्मा चैतन्यय, शाश्वत, अकाट्य और अक्षय है।

कोई आत्मा पर शरीर के किसी परिवर्तन का कोई भी प्रभाव नहीं होता न ही किसी भौतिक पदार्थ उसे प्रभावित करते है आत्मा शुद्ध चैतन्य है, जिसमें कोई विकार नहीं आत्म की चैतन्य शक्ति से ही शरीर की क्रियायें संचालित है। इस शक्ति का जड़ व प्रकृति से संयोग द्वारा ही मन व बुद्धि का विकास होता है इससे वासना की उत्पत्ति होती है जो जन्म तथा पुनर्जन्म का कारण बनती है परन्तु आत्मा सनातन, केवल शरीर का जन्म तथा मृत्यु होती है वृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया– ''स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोमृतोऽभयो''[12]

अर्थात् आत्मा आनन्दमय, अजन्मा, अविनाशी, वृदावस्था से मुक्त, अमर और भयरहित है।

गीता में आत्मा को अक्षर माना गया अर्थात् जिसका क्षर या नाश न हो इस संसार में दो पुरुष है क्षर तथा अक्षर।[13] इस संसार में जो भी जन्मता एवं मरता है तथा जो भी पदार्थ पंचभूतों से बना है वह स्थावर हो अथवा जगंम स्थूल हो

चाहे सूक्ष्म व सब क्षर वर्ग में आते हैं क्योंकि वे नाशवान है। कूटस्थ केवल आत्मा ही है जो अविनाशी एवं अक्षर है। यह कूटस्थ ही चेतन तत्त्व है, यही भगवान की दिव्य अविनाशी सत्ता है। आत्मा ही अक्षर–अविनाशी तत्त्व है। मनुष्य की बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ आदि इस कूटस्थ से भिन्न और नाशवान् होने के कारण क्षर वर्ग में आती है। इन क्षर एवं अक्षर पुरुषों से उच्च्य पुरुषोत्तम वह परमात्मा है जो नाशवान प्रकृति से अतीत है अक्षर से भी उत्तम है इस कारण लोक में तथा वेदों में पुरुषोत्तम नाम से जाने जाते है।

यदि बात की जाय गीता में पुनर्जन्म की अवधारणा की तो पुनर्जन्म का सम्बन्ध आत्मा के बार–बार दूसरे शरीर में आगमन से सम्बन्धित है। पुनर्जन्म का वर्णन गीता के साथ वेदों तथा पुराणों आदि में भी मिलता है श्री कृष्ण अर्जुन को देह का अर्थ 'शरीर' तथा देहि का अर्थ 'शरीर का स्वामी 'या आत्मा' है बताते हुए पुनर्जन्म के विषय में अवगत कराते हुए बताते है शरीर में केवल एक ही जीवन तक क्रमिक परिवर्तन होता रहता है, जबकि आत्मा केवल एक जीवन तक व एक शरीर में न रहकर आत्मा कई शरीरों में प्रवेश करती रहती है। समान रूप से मृत्यु के समय यह दूसरे शरीर में प्रवेश करती है वास्तव में जिसे हम लौकिक शब्दों में मृत्यु कहते हैं, वह केवल आत्मा का अपने पुराने दुष्क्रियाशील शरीर से अलग होना है और जिसे हम 'जन्म' कहते हैं, वह आत्मा का कहीं पर भी किसी नये शरीर में प्रविष्ट होना है, यही पुनर्जन्म का सिद्धान्त है अधिकतर दर्शन भी पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करते हैं। गीता में कहा गया–

भूतग्रायः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते
रात्रयागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।[14]

अर्थात् हे पार्थ! वही भूत समुदाय/प्राणी (आत्मा) पुनः पुनः उत्पन्न होकर कर्मवश बारंबार जन्म लेकर ब्रह्मा की रात्रि के आरंभ काल में लीन होता है और दिन के आरम्भ काल में उत्पन्न होता है।

प्रत्येक जीव अपने कर्म बन्धन से लिप्त होकर जन्म मृत्यु के दुश्चक्र में फंसा रहता है यह क्रिया अनवरत चलने वाली नहीं है जिसको यर्थाथ, सत् का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ऐसी मुक्त आत्मा जीवन–मृत्यु के इस चक्र से बाहर निकल जाती है। यह सारे प्राणी समूह स्व कर्मानुसार ही पुनः जन्म लेते हैं, कर्मगति अटल है। सारे कर्म उनके जीवन एवं जन्म–मरण को प्रभावित करते हैं, किन्तु जिन्होंने कर्म के बन्धन से मुक्ति पा ली है वे जन्म मरण के आवामन से छूट जाते हैं, लाखो सालों कल्प आते जाते रहते है और मनुष्य लाखों जन्मों तक कर्मानुसार इसी प्रकार जन्म–मरण के चक्र में पड़ा रहता है। केवल कर्मयोग, निर्मल भक्ति, ज्ञानयोग एवं कर्तव्य परायणता वाला पुरुष ही इस बन्धन से मुक्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है, आत्मानुभूति के द्वारा ज्ञानी पुरुष को प्राप्त लाभ का

मूल्यांकन करते हुए यहाँ कहा गया कि मुझे प्राप्त कर महात्मा जन पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते कुछ तत्त्व चितंक दार्शनिकों के अनुसार समस्त दुखो का मूल ही पुनर्जन्म है परन्तु इस पुनर्जन्म के चक्र से भी आत्मा को मुक्ति मिलती है जैसा कि गीता के आठवें अध्याय के 15वें श्लोक में कहा गया कि आपके सुलभ हो जाने से क्या होगा इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरी सुलभ प्राप्ति जो होता है वह सुन, मुझ ईश्वर को पाकर अर्थात् मेरे भाव को प्राप्त करके फिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं पाते। प्राणी के जीवन का लक्ष्य पुनर्जन्म का अभाव होना चाहिए। गीता में पुनर्जन्म की अवधारणा के द्वारा भी आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का तथ्य प्रस्तुत किया गया जो आत्मा की अमरता को बताता है।

गीता में निरंतर आत्मा के ज्ञान में व तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य में मग्न रहना ही वास्तविक ज्ञान माना गया तथा जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है[15] गीता में आत्म ज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। वास्तविकता प्राणी की आत्मा है, शरीर नहीं वह भगवान का अंश है। गीता में आत्मा को अनादि कहा गया है, जो परब्रह्मा के अधीन है और इस भौतिक जगत के कार्य–काल से परे है, जिसको जान लेने पर 'शाश्वत जीवन' या 'अमर जीवन' अर्थात् जन्म–मृत्यु के दुख से मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सूर्य अकेला ही इस समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार, शरीर के भीतर स्थित एक आत्मा, समस्त शरीर को चेतना से प्रकाशित करता हैं। गीता में स्पष्टताः कहा गया है कि चेतना आत्मा का एक गुण है यह स्वभाव नहीं है प्रकृति के द्वारा चेतना को बाधित किया जा सकता है जैसे कि प्रकृति के त्रिगुण की ओर आत्मा प्रभावित होकर शाश्वत आत्मा बंधन में पड़ जाती है और आत्मा अमरता को भूलकर प्रकृति के गुणों के साथ तादात्म्य कर लेती है। इस बंधन से मुक्ति तभी संभव है जब आत्मा त्रिगुणातीत होकर सभी प्रकार की आशक्तियों से सदैव मुक्त रहती है। आचार्य शंकराचार्य ने जहाँ ब्रह्मा में लीन हो जाना ही मुक्ति की अवस्था को स्वीकार किया वही गीता में मुक्त आत्मा को ब्रह्मा का अंश या बहुत हद तक समान बताया गया है जो एक अपरिवर्तनशील अस्तित्त्व धारण करता है, जो कि ब्रह्म से स्वरूपता या तदूपता की स्थिति नहीं है बल्कि समान–धर्मता या गुणों की समानता है।

गीता में बताया गया कि जो सभी प्राणियों का उद्गम है और सर्वव्यापी है, उस भगवान की उपासना करके मनुष्य, अपना कर्म करते हुए पूर्णतया प्राप्त कर सकता है।[16] इस प्रकार का पूर्ण व्यक्ति, ईश्वर में विलीन न होकर उसकी 'सर्वोच्च स्थिति' को प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति के लिए सर्वोच्च स्थिति 'ईश्वर की भक्ति' है, जिससे वह बैकुण्ठ लोक में प्रवेश करता है, जहां से फिर वह कभी वापस नहीं आता। अतः हमारे हृदय में जो आत्मा निवास करती है, वह ईश्वर

द्वारा नियंत्रित रहता है।[17] अर्थात् ईश्वर ही जीवात्मा के अस्तित्त्व का आधार है ईश्वर के प्रति आत्मसपर्मण भाव के साथ सभी मोह, लोभ, असाक्ति से परे होकर शरणागत होना ही मुक्ति है। भगवान श्री कृष्ण स्वयं कहते है कि समस्त प्रकार के धर्मो (कर्तव्यों) का परित्याग करके मेरी शरण में आ जाओ। मैं ही तुझे पापों से मुक्ति दिलाऊँगा।

निष्कर्षता कहा जा सकता है कि आत्मा एक शुद्ध चैतन्य शक्ति है जो विकार रहित, शाश्वत, अकाट्य, अविभाज्य और सनातन है यह ईश्वरीय अंश है तथा जिस प्रकार ईश्वर शाश्वत, अमर तथा अजर है उसी भांति आत्मा भी अमर है। उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर गीता में जो आत्मा का उल्लेख हुआ है वह ईश्वर का एक अंश, ईश्वर की 'पराशक्ति' का प्रतीक, ईश्वर के अपरा शक्ति (पंचभूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार) का उपयोगकर्ता, अजन्मा, अमर है अर्थात् आत्मा को इस भौतिक जड़ जगत से परे माना गया है जो कि ईश्वर की 'परा शक्ति' के रूप में है। आत्मा, इस भौतिकता से परे की शक्ति रूप में है इसलिए वह भौतिकता के नश्वरता से दूर है और अमर है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद 1.164.20
2. गीता 2/19
3. गीता 2/20
4. गीता 2/17
5. गीता 2/16
6. गीता 2/22
7. गीता 2/23
8. छान्दोग्य उपनिषद 8/1/5
9. गीता 3/42
10. गीता 13.1
11. गीता 13.5
12. बृहदारण्यकोपनिषद 4.4.25
13. गीता 15/16
14. गीता 8/19
15. गीता 13/11
16. गीता 18/46
17. गीता 18/61

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

भारतीय दर्शन का नास्तिक–आस्तिकभेदाधार का समीक्षात्मक अध्ययन

विनोद कुमार गुप्ता *

दर्शन का आधार तर्क है परंतु विडंबना यह है कि भारतीय दर्शन का भेदाधार अर्थात नास्तिक–आस्तिक दर्शन में विभेद एकांगी दृष्टिकोण, सामान्य विश्वास, भ्रांति एवं कुछ आक्षेपों पर आधारित है। भारत में दर्शन एवं धर्म परस्पर आश्रित हैं परंतु भारतीय दर्शन का भेदाधार हिंदू धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण से किया गया है जो अन्य धर्म की दर्शन पद्धतियों से भिन्न है जिसका भारत में अपना स्थान है। भारतीय दर्शन में नास्तिक–आस्तिक संप्रदायों के बारे में उल्लेख विभिन्न दार्शनिकों द्वारा किया गया है जिसमें जैन दार्शनिक हरिभद्र ने 'षड्दर्शन समुच्चय' में छः दर्शनों का उल्लेख किया है इनमें न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा–वेदांत के साथ–साथ जैन और बौद्ध दर्शन का वर्णन 87 श्लोकों में बिल्कुल निष्पक्ष दृष्टि से किया गया है। माध्यमिक बौद्ध भाव विवेक ने 'तर्कज्वाला' में सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत संप्रदायों की समालोचना की है इसी प्रकार दिगंबर जैनीय मेरूतुंग ने 'षड्दर्शन विचार' में, विद्यानंद ने 'अष्टस्रहस्त्री' में भारतीय दर्शन के संप्रदायों का विवेचन किया है। परंतु बीसवीं सदी में अंग्रेजी में भारतीय दर्शन पर ग्रंथ लिखने वालों दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन का जो वर्गीकरण किया है उन पर सर्वाधिक प्रभाव 14वीं सदी के वेदांती माधवाचार्य सारण द्वारा लिखित ग्रंथ 'सर्वदर्शन संग्रह' का है। इसी के साथ कुछ अन्य प्रमुख ग्रंथों में शंकर स्वामी का 'सिद्धांत सारसंग्रह' एवं मधुसूदन सरस्वती का 'प्रस्थान भेद' है। सामान्यतः भारतीय दर्शन में नास्तिक–आस्तिक विभेद तीन रूपों में किया गया है–1. ईश्वर विश्वास के आधार पर, 2. पारलौकिक सत्ता में विश्वास के आधार तथा 3. वेद में आस्था के आधार पर।

** शोधार्थी, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा*

परंपरागत भारतीय दर्शन के बारे में एक बहु प्रचलित भ्रामक धारणा है कि वह ईश्वरवाद से ओतप्रोत है जो लोग दर्शन शास्त्र की जानकारी नहीं रखते हैं उनके बीच तो यह धारणा है ही, इसके अलावा भारतीय दर्शन के आधुनिक दार्शनिकों की भी इस अवधारणा को फैलाने में प्रमुख भूमिका रही है। आज के समय में भारतीय एवं अन्य विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन की जिन प्राचीन एवं मध्ययुगीन नौ शाखाओं का अध्ययन–अध्यापन हो रहा है उनमें लोकायत, जैन, बौद्ध, सांख्य और मीमांसा निरीश्वरवादी हैं एवं न्याय, वैशेषिक, योग और वेदांत ईश्वरवादी दर्शन हैं।[2] इनमें लोकायत दर्शन निरीश्वरवादी और नास्तिक दोनों है लेकिन बौद्ध और जैन दर्शन के संदर्भ में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। बौद्ध संप्रदाय के प्रारंभिक काल में जब महात्मा बुद्ध इसका नेतृत्व कर रहे थे तब उनका ध्येय मानव को दुःखों से मुक्त दिलाना था इसलिए उन्होंने तत्वमीमांसीय प्रश्नों को अव्याकृत प्रश्नानि कहा और ईश्वर से संबंधित प्रश्नों पर मौन वृत्ति का सहारा लिया। इस प्रकार प्रारंभिक बौद्ध दर्शन के संदर्भ में बुद्ध के मौन वृत्ति की एक पक्षी व्याख्या के आधार पर बौद्ध दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन मान लिया गया है किंतु परवर्ती काल में बौद्ध धर्म में विभिन्न शाखाओं के आगमन के फल स्वरुप जिसमें महायान और हीनयान प्रमुख हैं बुद्ध को ईश्वर के रूप में पूजा जाने लगा इस प्रकार परवर्ती बौद्ध धर्म दर्शन जिसमें महायान शाखा विशेष रूप से प्रमुख हैं इसमें महात्मा बुद्ध ईश्वर के रूप में स्थापित हैं इसलिए बौद्ध दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन न होकर ईश्वरवादी दर्शन है। साथ ही परवर्ती काल में बौद्ध संप्रदाय हिंदू धर्म से अलग होकर स्वतंत्र धर्म के रूप में स्थापित हो गया इसलिए हिंदू शास्त्रों की व्याख्या के आधार परभी बौद्ध धर्म–दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन नहीं कहा जा सकता है।

जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन की अपेक्षा अति प्राचीन दर्शन है इसके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) का नामोल्लेख ऋग्वेद तथा भागवत पुराण में मिलता है। इसमें शुरुआती चरण में वेद से प्रभावित होने के कारण कोई परम तत्व को नहीं माना गया था फिर भी देवता की अवधारणा को जैन दर्शन में स्वीकृति प्राप्त है। परवर्ती काल में जैन धर्म के विस्तृत होने पर इसकी विभिन्न शाखाओं जिसमें श्वेतांबर एवं दिगंबर प्रमुख शाखाएं हैं, में इसके तीर्थंकरों को पूज्य स्थान पर स्थापित किया गया और इस प्रकार इसमें ईश्वरवादी तत्व सम्मिलित हो गए। साथ ही यह बौद्ध दर्शन की तरह एक स्वतंत्र धर्म के रूप में स्थापित हैं इस कारण इस पर हिंदू शास्त्रों के आधार पर इसे निरीश्वरवादी दर्शन नहीं कहा जा सकता है। लोकायत दर्शन भारतीय उपमहाद्वीप में शुरुआती मानव दर्शन है और इस कारण इसमें विभिन्न तत्वमीमांसीय विषयों में अपरिपक्वता झलकती है। इनका कोई मौलिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है इसके विभिन्न सिद्धांतों की जानकारी

हमें उनके विरोधियों की आलोचना में मिलती हैजो संदिग्ध प्रतीत होती है इसलिए लोकायत दर्शन पर विचार करते समय इसे 'बेनिफिट आफ डाउट' देना चाहिए। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय सरीखे दार्शनिक अब नवीन अनुसंधान के आधार पर लोकायत दर्शन को वैदिक संस्कृति से अलग किसी अन्य संस्कृति का मानने वाला मानते हैं इसमें किसी ईश्वरीय तत्व के स्थान पर प्रकृति को यांत्रिक मानकर विभिन्न चीजों की व्याख्या करते हैं परंतु उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर लोकायत दर्शन 'निरीश्वरवादी दर्शन' ही प्रतीत होता है।

सांख्य दर्शन ईश्वरवादी है या अनिश्वरवादी। इसको लेकर सांख्य के टीकाकारों एवं अन्य दार्शनिकों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र और अनिरुद्ध सांख्य दर्शन को अनिश्वरवादी मानते हैं जबकि विज्ञानभिक्षु सांख्य दर्शन को ईश्वरवादी प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।[3] प्रोफेसर हीरियन्ना ने सांख्य कोईश्वरवादी सिद्ध करने के प्रयास की निंदा की है क्योंकि ईश्वरवाद सांख्य दर्शन के विपरीत है। उन्होंने कहा है कि कुछ प्राचीन एवं नवीन दार्शनिकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कपिल का ईश्वर न मानने का कोई इरादा नहीं था और उनका अभिप्राय केवल यह बताना था कि तर्क से ईश्वर को सिद्ध करना असंभव है लेकिन यह सांख्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतीत होता है। इसी प्रकार डॉक्टर एसएन दासगुप्त ने भी सांख्य को निरीश्वरवादी चित्रित किया है। उन्होंने कहा है कि सांख्य और योग के मध्य मूल अंतर यह है कि सांख्य ईश्वरवाद का निषध करता है जबकि योगदर्शन ईश्वरवाद की स्थापना करता है। यही कारण है कि सांख्य को 'निरीश्वरसांख्य' और योग दर्शन को 'सेश्वर सांख्य' कहकर विवेचित किया जाता है।[4] सांख्य दर्शन को लेकर यह स्थिति इसलिए उत्पन्न हुई क्योंकि मूल सांख्य दर्शन का आधार ग्रंथ अनुपलब्ध है। सांख्य दर्शन के उपलब्ध ग्रंथों में जो ईश्वर कृष्ण की रचना है वह मूल सांख्य से काफी अंतराल दर्शाती है। सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल जिन्होंने अनिश्वरवादी विचार व्यक्त किया परंतु विडंबना यह है कि स्वयं कपिल को ही विष्णु के अवतार के रूप में स्थापित कर दिया गया। भागवत पुराण में कहा गया कि पांचवेंअवतार का नाम कपिल था जो ऋषिराज थे और जिन्होंने आसुरी को सर्वप्रथम सिद्धांतों का सांख्य दृष्टि से स्पष्टीकरण कराया।[5] इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कपिल को अपनी विभूतियों में गिनाया है। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' अर्थात सिद्धोमें मैं ही कपिल मुनि हूं।[6] अतः ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका मूलसांख्य के विचार को पूर्णतः व्यक्त करती हो यह संदेहास्पद है। इस प्रकार मूल सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन है परंतु परवर्ती भाष्यकारों ने इसमें भाववादी विचार ठूस दिये जो असंगत है। अतःसांख्य दर्शन एक 'निरीश्वरवादी दर्शन' है।

पूर्व मीमांसा भी निरीश्वरवादी दर्शन है। यह एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर के विषय में मौन है परंतु यह अनेक देवताओं के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं।

यह वेद को अपौरुषेय मानकर उसके ईश्वर कर्तृत्व का निषेध करती है। कुमारिल भट्ट ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए न्याय द्वारा दी गई युक्तियों का खंडन किया है मीमांसा के अनुसार जीव के कर्मफल के नियंता के रूप में भी ईश्वर को मानना आवश्यक नहीं है। यह कर्म सिद्धांत की व्याख्या के लिए अपूर्व नामक अदृश्य शक्ति का प्रतिपादन करता है किंतु कालांतर में आपदेव और लौगाक्षिभास्कर आदि मींमासकों में ईश्वर के प्रति झुकाव दिखाई पड़ता है परंतु मींमासा मूल रूप में अनिश्वरवादी दर्शन ही है।[7]

न्याय सूत्र में गौतम ने ईश्वर कानाम मात्र का उल्लेख किया है। प्रशस्तपाद और वात्सायन ने स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है उन्होंने ईश्वर को आत्मा के वर्ग में रखा और जीवात्मा से भेद करने के लिए उसे परमात्मा कहा। कणाद ने ईश्वर के संबंध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है उसके पश्चात के भाष्यकारों ने ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण चर्चा की है। योग दर्शन में ईश्वर का व्यावहारिक महत्व है। चित्तवृत्तियों का निरोध योग दर्शन का मुख्य लक्ष्य है इसकी प्राप्ति ईश्वर प्रणिधान से ही संभव है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है 'ईश्वर की भक्ति'। इसलिए योग दर्शन में ईश्वर को ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय माना गया है। वेदांत दर्शन के सभी संप्रदाय जिसमें अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद हैं ये सभी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। अद्वैतवाद में ईश्वर की व्यवहारिक सत्ता मानी गई है वहीं परमार्थिक रूप में ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर विशिष्टाद्वैत दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर समानार्थक रूप में प्रयोग किया गया है। मध्वाचार्य अपने द्वैतवादी सिद्धांत में ईश्वर का अवतारवादी सगुण रूप में वर्णन करते हैं। इस प्रकार वेदांत दर्शन पूर्ण रूप में ईश्वरवादी दर्शन है।

निष्कर्ष रूप में ईश्वर विश्वास के आधार पर भारतीय दर्शन में न्याय, वैशेषिक, योग और वेदांत दर्शन के साथ–साथ बौद्ध और जैन दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शन की श्रेणी में आएंगे एवं अनिश्वरवादी दर्शन में केवल लोकायत, सांख्य और मीमांसा दर्शन ही सम्मिलित होंगे। इस प्रकार अगर भारतीय दर्शन में ईश्वर विश्वास के आधार पर नास्तिक–आस्तिक संप्रदाय में भेद किया जाता तो नास्तिक दर्शन में केवल लोकायत, सांख्य एवं मीमांसा दर्शन ही आते और बौद्ध और जैन दर्शन आस्तिक दर्शन की श्रेणी में सम्मिलित किए जाते।

महर्षि पाणिनि अपने ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में नास्तिक–आस्तिक की व्याख्या इस प्रकार करते हैं अस्ति परलोक इति मर्तिस्य सनास्तिकः। इस प्रकार पाणिनि भारतीय दर्शन का नास्तिक–आस्तिक दर्शन में विभेद पारलौकिक सत्ता में विश्वास के आधार पर करते हैं। पाणिनि के अनुसार, परलोक की सत्ता में विश्वास न रखने वाला 'नास्तिक' कहलाता है।[8] इस आधार पर नास्तिक दर्शन

में केवल लोकायत दर्शन ही आता है और आस्तिक दर्शन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत के साथ–साथ जैन और बौद्ध दर्शन भी आते हैं। चार्वाक दर्शन इहलोक से इतर लोक का खंडन करता है। इसके लिए वह केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करने के कारण लोकायत दर्शन स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म इत्यादि का खंडन करता है और इसी लोक को सुंदर और सुखद बनाने पर जोर देता है। इस बात को रामधारी सिंह 'दिनकर' अपने उपन्यास 'रश्मिरथी' में इस प्रकार वर्णित करते हैं:

ऊपर सब कुछ शून्य–शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में। धर्मराज जो कुछ भी है, वह मिट्टी में जीवन में।।

जैन दर्शन परलोक की सत्ता में विश्वास करता है।जैनीय कहते हैं कि पुण्यों का संचय हो जाने पर मनुष्य स्वर्ग में देवता के रूप में आसीन होकर जीवन जीता है। जब वह पुण्य अपना फल पूर्ण रूप में दे चुका है तब वह जीवन समाप्त हो जाता है। दूसरी और बौद्ध ग्रंथ 'महापरिनिब्बान' में कहा गया है कि दुरात्मा व्यक्तियों के लिए नर्क एवं अन्य अपूर्ण व्यक्तियों के लिए पुनर्जन्म होता है। बौद्ध धर्म दर्शन भी स्वर्ग की कल्पना करता है। मृत्यु के पश्चात शरीर के विलय हो जाने पर सुकृत आचरण करने वाले व्यक्तियों का जन्म स्वर्ग में किसी सुखी अवस्था में होता है। किसी–किसी स्थान पर ऐसा भी आता है कि पुनर्जन्म होने से पूर्व स्वर्ग एवं नरक में कुछ समय के लिए अस्थाई रूप में रहना होता है। आदि बौद्ध धर्म में जातक कथाओं के माध्यम से भी पुनर्जन्म के भावों को प्रचारित किया गया है जिनमें वर्णन किया गया है कि किस प्रकार पूर्व जन्मों में बुद्ध ने आत्मत्याग के अनेक कर्मों द्वारा अपने आपको पाप के साथ संघर्ष करते हुए बोधि वृक्ष के नीचे अंतिम विजय के लिए सन्नद्ध किया था। भारतीय दर्शन में न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग एवं मीमांसा–वेदांत भी पारलौकिक सत्ता में विश्वास व्यक्त करते हैं। ये दर्शन कर्म सिद्धांत एवं आत्मा की अमरता की व्याख्या के लिए किसी न किसी रूप में पारलौकिक सत्ता में विश्वास व्यक्त करते हैं। इस प्रकार अंततः परलोक सत्ता के आधार पर नास्तिक दर्शन में एकमात्र चार्वाक दर्शन ही है बाकी अष्ट दर्शन आस्तिक दर्शन की श्रेणी में आते हैं।

भारतीय दर्शन का अंतिम रूप से सर्वमान्य विभेद जिसके आधार पर किया गया है वह है वेद में विश्वास। यह हिंदू धर्म के धर्म शास्त्र मनु द्वारा प्रतिपादित मनुस्मृति के सूक्ति 'नास्तिकों वेद निंदकः'[9] के आधार पर किया गया है। वेद आस्था के आधार पर नास्तिक दर्शन में लोकायत, जैन और बौद्ध दर्शन रखे गए हैं तथा आस्तिक दर्शन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत दर्शन रखे गए हैं। हिंदू धर्म के पुरोहितों का लोकायत के भौतिकवाद, बौद्ध और जैन दर्शन के आध्यात्मिक विचारों के साथ उतना विरोध नहीं है जितना कि उनके

जीवन के क्रियात्मक पक्ष के साथ हैं, विचार की स्वतंत्रता किंतु कर्म में कट्टरता इतिहास के आरंभिक काल से उसकी विशेषता रही है। पुरोहित वर्गसांख्य एवं पूर्व मीमांसा की विचार पद्धति को भी शास्त्रीय रूप में स्वीकार कर लेगा क्योंकि सांख्य एवं पूर्व मीमांसा इसके सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते जबकि लोकायत, बौद्ध और जैन दर्शन अपने सिद्धांतों को जनता के जीवन के समीप लाने पर जोर देते हैं।[10] वेद, उपनिषद समस्त भारतीय दार्शनिक चिंतन की आधार भूमि हैं। आस्तिक दर्शन इन्हें शब्द प्रमाण मानते हुए आप्तवाक्य की संज्ञा देते हैं। यद्यपि लोकायत, बौद्ध और जैन दर्शन वेद प्रमाण्य के प्रति उदासीन हैं तथापि उनके दर्शनों का मूल भी वेद, उपनिषदों में ही सन्निहित है। प्रसिद्ध चिंतक ब्लूमफील्ड का विचार है कि बौद्धमत सहित सहित हिंदू विचार का कोई भी महत्वपूर्णअंग ऐसा नहीं है जिसका मूल उपनिषदों में न हो।[11]

लोकायत दर्शन का भौतिकवाद, उपनिषद के दार्शनिक विरोचन का दर्शन है। उपनिषदों में उषस्त जैसे दार्शनिक भी हैं जो आत्मा को देखना चाहते हैं। अन्नमयब्रह्म की अवधारणा उपनिषदों में भी विद्यमान है जो निश्चय ही भौतिकवादी है। इस प्रकार अन्वेषण करते हुए हमें लोकायत दर्शन के बीज उपनिषदों में अनेक स्थानों पर प्राप्त होते हैं। प्राचीन बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित विचार उपनिषदों के ही विचारों की पुनरावृत्ति है जिस पर नवीन रूप में बल दिया गया है उपनिषदों का विशेष रूप में उल्लेख न रहने पर भी यह स्वीकार किया जाता है कि बुद्ध के उपदेशों में उपनिषदों की विचारधारा का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ा हुआ प्रतीत होता है। कुमारिल भट्ट जैसे कट्टर हिंदू विचारक भी घोषणा करते हैं कि बुद्ध के विषयी ज्ञानवाद, क्षणिकवाद के सिद्धांत और अनात्मवाद के सिद्धांत को उपनिषदों से ही प्रेरणा प्राप्त हुई है।[12] यद्यपि बौद्धमतानुयायियों ने बौद्ध दर्शन को उपनिषदों सेउद्भूत नहीं माना है तथापि वर्तमान युग के अनेक विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि बौद्ध दर्शन के बीज उपनिषदों में ही निहित हैं। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद का स्रोत कठोपनिषद में नचिकेता के तृतीय प्रश्न में सन्निहित है जिसमें नचिकेता ने यमराज से प्रश्न किया है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात कुछ लोग मानते हैं कि उसका अस्तित्व रहता है तथा कुछ लोग कहते हैं कि उसका अस्तित्व नहीं रहता है अतः इस विषय में आप मुझे उपदेश दे।[13] प्रस्तुत मत में जो द्वितीय मत अर्थात मृत्यु के अंनतर आत्मा के अस्तित्व न होने की शंका है उसमें ही बौद्धों का अनात्मवाद निहित है। इसी प्रकार बौद्धों के क्षणिकवाद 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं 'काआधार भी इसी उपनिषद में निहित है। नचिकेतायमके द्वारा प्रदर्शित विभिन्न लौकिक प्रलोभनों को क्षणभंगुर कहकर अस्वीकार कर देता है।निश्चय ही समस्त सांसारिक वस्तुओं कोक्षणिक मानने वाले विचारों की उत्पत्ति इसी प्रकार के औपनिषदिक विचारों से हुई होगी।[14] जैन

दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों जैसे स्यादवाद एवं अनेकांतवाद का स्रोत उपनिषदों में ही निहित है। नचिकेता यम के द्वारा प्रदर्शित विभिन्न लौकिक प्रलोभनों को क्षणभंगुर कहकर अस्वीकार कर देता है। सद् दृष्टि, असद् दृष्टि तथा अवाच्य दृष्टि उपनिषदों में ही निहित है। साथ ही जैन दर्शन के सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, काया–क्लेश और वैराग्य सिद्धांत भी उपनिषदों से ही प्रेरित हैं। वास्तव में महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी वैदिक धर्म के उद्धारक थे। जब हम महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी के विचार दर्शन का अनुशीलन बिना किसी पूर्व मान्यता के करते हैं तो इनका दर्शन वेद और उपनिषद का पुनरुद्धार स्वरूप प्रतीत होता है। बौद्ध और जैन दर्शन में प्रतिपादित विचार उपनिषदों के ही विचारों की पुनरावृत्ति है जिस पर नवीन रूप से बल दिया गया है। उपनिषदों का विशेष रूप से उल्लेख न रहने पर भी यह स्वीकार किया जाता है कि बुद्ध एवं महावीर के उपदेशों में उपनिषदों की विचारधारा का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ा हुआ प्रतीत होता है। कुमारिल भट्ट जैसे कट्टर हिंदू विचारक भी यह घोषणा करते हैं कि बुद्ध के विषयीज्ञानवाद, क्षणिकवाद और अनात्मवाद के सिद्धांतों को भी उपनिषदों से ही प्रेरणा प्राप्त हुई। शिष्टाचार संबंधी पवित्रता, कर्म सिद्धांत में आस्था, पुनर्जन्म और मोक्ष की संभावना तथा संसार और जीवात्मा की अनित्यता उपनिषदों तथा बुद्ध के उपदेशों में समान है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व बौद्ध और जैन संप्रदायों के उदय के समय तत्कालीन परिस्थितियां ऐसी थी कि हिंदू धर्म ब्राह्मण पाखंडियों से त्रस्त था। पाखंडियों द्वारा धीरे–धीरे वेद मंत्रों के मनमाने अर्थ किए जाने लगे थे। वैदिक यज्ञों एवं कर्मकांडों में आडंबर, हिंसा आदिअमानवीय क्रियाओं का प्रभुत्व बढ़ता गया परिणाम स्वरूप वेद विद्या के स्थान परअविद्या का प्रसार होने लगा। उपनिषद काल के तुरंत पश्चात ही बुद्ध ने 62 प्रकार के पाखंडों या अधर्मों की गणना की थी।[15] महात्मा बुद्ध ने वेद का विरोध नहीं किया बल्कि उसके आधार पर व्याप्त पाखंडों का विरोध किया। इसको आधार बनाकर बौद्ध और जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन नहीं कहा जा सकता है। इसकादो मुख्य कारण है पहला बौद्ध धर्म के शुरुआती काल में जब महात्मा बुद्ध इसका नेतृत्व कर रहे थे तो उन्होंने वेद का विरोध नहीं किया बल्कि वेद आस्था के नाम पर हिंदू धर्म मेंबलि–हिंसा,ऊंच–नीच, वाह्य आडम्बर और पाखंड का विरोध किया। ऋग्वेद के प्रारंभिक काल में भी साधारण प्रार्थनाएं तथास्तुतियों के माध्यम से दुःखों से मुक्ति और आनंद की प्राप्त की जाती थी ना कि जटिल कर्मकांडों द्वारा। साथ ही बौद्ध धर्म का अपना ग्रंथ भी है जिस पर भी अपनी आस्था प्रकट करते हैं। इसी प्रकार जैन दर्शन भी एक धर्म के रूप में स्थापित है इनका भी अपना धार्मिक ग्रंथ है और वह भी अपनी आस्था अपने धर्म–ग्रंथों में प्रकट करते हैं। एक अन्य आधार की जैन दर्शन की शुरुआती

तीर्थंकरों का वर्णन वेद में मिलता है और इनका विरोध वेद से नहीं था इस आधार पर भारतीय दर्शन का नास्तिक–आस्तिक दर्शन में विभेदवेद आस्था पर करना न्याय संगत नहीं प्रतीत होता इसे हिंदू धर्म में आस्था रखने वाले दर्शनों पर ही लागू किया जा सकता है अन्य धर्म में आस्था रखने वाले दर्शनों पर लागू नहीं किया जा सकता है।

षड्दर्शनों में वेदाधारित आस्तिक संप्रदाय दो स्तरों में विभाजित है : प्रथम कोटि में वे दर्शन आते हैं जो सीधे वेद, उपनिषद पर आश्रित हैं। इनका संपूर्ण सिद्धांत वेद से ही उद्भुत है। इस कोटि में मीमांसा एवं वेदांत दर्शन आते हैं। द्वितीय कोटि में वे दर्शन आते हैं जो स्वतंत्र रूप में विकसित हुए परंतु वेद प्रमाण्य के प्रति अपनी आस्था को प्रदर्शित करते हैं। इस कोटि में सांख्य–योगऔर न्याय–वैशेषिक आते हैं। सांख्य दर्शन की विचारधारा का पल्लवन अनेक उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् में करते हुए उसे सत्,रज एवं तम इन तीनों गुणों से युक्त माना गया है।[16] सत्कार्यवाद, ज्ञान मार्ग तथा पुरुष की अविकार्यता आदि अनेक सिद्धांतों के बीच उपनिषदों में यत्र तत्र दृष्टिगत होते हैं। सत्कार्यवाद का बीज छांदोग्य उपनिषद के छठे अध्याय में उल्लिखित सिद्धांत में सन्निहित है।[17] योग दर्शन के बीज तत्व उपनिषद में ही समाहित है। यद्यपि अर्वाचीन उपनिषदों में योग के महत्व पर प्रकाश डाला गया है तथापि प्राचीन उपनिषदों में भी योग के अनेक सिद्धांत विद्यमान हैं। मंडुक्य उपनिषद तो प्रणवोपासना का उद्गम स्थल है[18] अन्य उपनिषदों में भी शांति की अनुभूति हेतु अनेक प्रकार की उपासना निरूपित की गई हैं जो निसंदेह योगिक क्रियाओं से संबंधित रही होंगी। कठोपनिषद् में विवेचित योग, पतंजलि के योग सूत्र का स्रोत माना जाता है। वहां पर निरूपित इंद्रिय निग्रह, धारणा आदि हमें योग दर्शन के प्राक् अस्तित्व का प्रमाण देते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों में योग और योगी शब्दों का स्पष्ट उल्लेख भी कठोपनिषद् में किया गया है।[19] न्याय दर्शन भी औपनिषदिक विचार प्रक्रम का ही विकसित रूप है। उपनिषदों में उपदिष्ट श्रवण एवं प्रक्रिया से न्याय दर्शन आविर्भूत हुआ है।[20] मन का निरूपण उपनिषदों में जिन उदाहरणों के माध्यम से किया गया उनसे ही व्याप्ति सिद्धांत का विकास हुआ। शंका समाधान, शास्त्रार्थ, निग्रह स्थान, जाति आदि के उदाहरण उपनिषदों में अनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं जिन्हें कालांतर में न्याय शास्त्र में विशद रूपेण विवेचित किया गया है। वैशेषिकों के परमाणुवाद का उद्गम भी उपनिषदों में ही हुआ है। औपनिषदिक काल के ऋषिगण भी अणु से परिचित थे। उन्होंने आत्मा को अणु से भी अणुतर माना है।[21] कठोपनिषद के इसी अणुवाद में वैशेषिक सिद्धांतों का जन्म हुआ।

मीमांसा और वेदांत दर्शन सीधे वेद से ही अद्भुत हैं। मीमांसा वेदों की कर्मकांड मूलक या धर्म मूलक व्याख्या करती है। इसका उद्देश्य पुनः यज्ञ संस्कृति

को स्थापित करना था। इसी कारण वह वैदिक देवताओं को अपने दर्शन में स्थान देती है परंतु सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता के विषय में उदासीन है। यह कर्म एवं उसके परिणाम के बीच संबंध स्थापित करने के लिए अपूर्व सिद्धांत प्रस्तुत करती है जो ऋग्वैदिक 'ऋत' विश्व व्यवस्था जैसा ही प्रतीत होता है। अपूर्व को संचालित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है यह स्वचालित है ऐसा विचार मीमांसा दार्शनिकों का है। मूल्य मीमांसा दर्शन में स्वर्ग को परम पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि उसकी दृष्टि में स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिए (स्वर्ग कामो जायेत)। किंतु कालांतर में अन्य भारतीय दर्शन के संप्रदायों की तरह इसमें भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ स्वीकार किया गया। पूर्व मीमांसा जबकि कर्म प्रधान है और उपनिषद मूलतः ज्ञान कांड से संबंधित हैं तथापि उपनिषदों के अंतर्गत अनेक स्थलों पर यज्ञकर्म कीजो विवेचना की गई है उससे मीमांसा दर्शनको सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद् के आरंभ में वर्णित अश्वमेध के विवेचन से यज्ञ कर्मकांड के अंतर्निहित दार्शनिक रहस्यात्मकता का ज्ञान होता है परंतु मींमासा दर्शन काकर्मकांड मूलक यज्ञ विधान समाज में केवल चंद सवर्ण जातियों का संप्रदाय है। इसमें निम्न जातियों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। यह दर्शन सैद्धांतिक तौर पर वैदिक समाज एवं संस्कृति की बात करता है परंतु व्यवहार में केवल कुछ लोगों को ही यज्ञ विधान करने की अनुमति देता है इसलिए स्वर्ग एवं मोक्ष का अधिकारी केवल खास जाति समुदाय में उत्पन्न व्यक्ति ही हो सकता है। इस प्रकार उनके सिद्धांत एवं व्यवहार में व्यापक अंतराल दिखता है। वेदांत दर्शन वेद के ज्ञान काण्ड अर्थात उपनिषद पर सीधे आधारित है। वेदांत दर्शन वेदों की ज्ञानमूलक व्याख्या करता है। इसके सभी संप्रदायों में उपनिषदों की विचार धारा के सतत् विकास रूप के दर्शन होते हैं। 'तत्वमसि'[23] इस एक वाक्य की व्याख्या वेदांत दर्शन के समस्त संप्रदायों ने अपनी विचारधारा के अनुसार की है। सैद्धांतिक रूप से समस्त वेदांती ब्रह्मवादी हैं उन सब ने अपने भाष्यों में जीव, जगत और ब्रह्म का निरूपण किया है। अंतर मात्रजीव एवं जगत के पारस्परिक अद्वैत या द्वैत को लेकर ही समुत्पन्न होता है। अपने मत की पुष्टि के लिए ये सभी संप्रदायों उपनिषदों को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं। वेदांत दर्शन का मूल ग्रंथ 'ब्रह्मसूत्र' उपनिषदों के दर्शन का सार प्रस्तुत करता है।[24] वेदांत दर्शन का प्रस्थानत्रयीद्ध उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता) में उपनिषद भी सम्मिलित हैं। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता के ही भाष्यों से वेदांत दर्शन का विकास हुआ। अद्वैत वेदांत के आध्यात्मिक एवं नैतिक आदर्श ने अतीतकाल से आज तक भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखा। भारतीय संस्कृति के निर्माण में अद्वैत वेदांत के अभेद दृष्टि की महती भूमिका रही है। शंकराचार्य ने ब्राह्मण की ब्रह्म की एकमात्र सत्ता का

प्रतिपादन करके जगत प्रपंच को मिथ्या एवं जीव को परमार्थ ब्रह्म घोषित किया। शंकर के इस सिद्धांत ने व्यवहारिक रूप में अनेकता में एकता एवं समष्टि दृष्टि दी।

निष्कर्ष रूप में भारतीय दर्शन का वेदाधारित नास्तिक–आस्तिक संप्रदायों में विभेद निरर्थक प्रतीत होता है। प्रथम कारण यह है कि सभी भारतीय दार्शनिक संप्रदाय जिसमें सभी नौ दर्शन सम्मिलित हैं अपनी मूल सामग्री वेद वेदांग से ही ग्रहण करते हैं, चाहे वह भौतिकवादी चार्वाक हो या श्रमणक बौद्ध और जैन हो या फिर अन्य दर्शन हो। दूसरा कारण यह है कि भारतीय दर्शन में हिंदू धर्म पर आश्रित दर्शनों के साथ–साथ जैन और बौद्ध धर्मपर आश्रित दर्शन भी हैं ये अब स्वतंत्र धर्म भी हैं। उनके आध्यात्मिक ग्रंथ हैं जिस पर वह अपनी आस्था प्रकट करते हैं। बौद्ध और जैन दर्शन को केवल इसलिएभी वेदाधारित नास्तिक दर्शन नहीं कहा जा सकता कि इनका जन्म भारत भूमि पर हुआ इसलिए इनके ऊपर ब्राह्मणवादी धार्मिक व्याख्या को नहीं सौंपा जाए। बौद्ध एवं जैन दर्शन को वैदिक धर्म की कुरीतियों एवं आडंबरों के शोधक होने के कारण इन्हें नवहिंदू (नव सनातनी) कह सकते हैं नास्तिक दर्शन नहीं। भारतीय दर्शन का नास्तिक–आस्तिक विभेद के स्थान पर इसको समग्र रूप में दृष्टिपात करने की आवश्यकता है क्योंकि भारतीय दर्शन का परम ध्येय सभी भारतीय दर्शन पूरा करते हैं। भारतीय दर्शन के सभी संप्रदायों का मूलधेय दुखों से मुक्ति है वह मुक्ति चाहे इंद्रिय सुख हो जिसे चार्वाक मानता है या फिर अन्य दर्जनों में निर्माण अथवा मोक्ष हो। अतः वेद आस्था के नाम पर भारतीय दर्शन का नास्तिक–आस्तिक संप्रदायों में बंटवारा निरर्थक प्रतीत होता है। भारत भूमि पर जन्म लेने के कारण बौद्ध और जैन दर्शन पर हिंदू धर्म के धर्म शास्त्रों को थोपा नहीं जा सकता है इनका स्वतंत्र चिंतन और अस्तित्व है। हां इतना अवश्य है कि इन सब संप्रदायों को 'सनातन दर्शन' समग्र रूप में कहा जा सकता है।

संदर्भ

1. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन प्रथम खंड, हिंदी अनुवाद नंदकिशोर गोविंद, संस्करण 2004, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ संख्या–49
2. संपादक–डॉ रणजी, भारत के प्रख्यात नास्तिक,लेख– भारतीय दर्शन में नास्तिकता की परंपराः डॉक्टर रमेंद्र, प्रथम संस्करण 2015, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 21
3. सिन्हा, प्रोफेसर हरेंद्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पंचम संस्करण 1992, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 262
4. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 263
5. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, लोकायत, हिंदी अनुवाद ब्रज शर्मा, प्रथम संस्करण 2005, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 49

6. सिन्हा, हरेंद्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पंचम संस्करण 1992, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 228
7. पाठक, राममूर्ति, भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, संस्करण 2004, अभिमन्यु प्रकाशन, प्रयागराज, पृष्ठ संख्या 126, 127
8. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, तृतीय संस्करण 1979, चौखंभा ओरिएंटलिया, वाराणसी, संख्या 22
9. मनुस्मृति, 2911
10. डॉ. राधाकृष्ण, भारतीय दर्शन, प्रथम खंड, हिंदी अनुवाद नंदकिशोर गोविल, संस्करण 2004, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 567
11. There is no important from Hindu thoughts, heterodox Buddhism included which is not rooted in theupnishads
Bloomfield & the religion of Vedas, P-51
12. विज्ञान मात्र क्षणभंग नैरात्म्यादिवादानाम्अपि उपनिषद् प्रभावत्वम्– तन्त्रवार्त्तिक 1932
13. येयंप्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्ये के नायमस्तीतिचौकै। एतद्वइद्मा मनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेप्ज्ञ वरस्तृतीयः।।
–कठोपनिषद्, 1/1/20
14. श्वोभावामर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपिसर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यमीते।। –कठोपनिषद, 1/1/26
15. ब्रह्मजाल सूत्र, दीघा १, पृष्ठ संख्या 12
16. अजामेकं लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानं सरूपाः। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।
–श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/5
17. तहोवाचमें वे सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै। सौम्यैषोऽणिम्नएवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्योति।।
–छांदोग्योपनिषद, 6/12/2
18. मांडूक्योपनिषद्, सूक्ति 1, 2
19. कठोपनिषद्, 2/3/11
20. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/11
21. कठोपनिषद् ,1/2/20
22. बृहदारण्यकोपनिषद्,1/1
23. छांदोग्योपनिषद, 6/8/7
24. वेदांत वाक्य कुसुम ग्रन्थनार्थत्वात् सूत्राणाम
शंकराचार्य शारीरिक भाषा 1/1/2

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

महामारी काल में परिणामवादी नैतिकता की अनुप्रयुक्तता की अधिमानता

*रविश कुमार**

*डॉ. पूर्णेन्दु शेखर***

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 28 मई 2023 तक 'दुनियाँ के पैमाने पर 767 मिलियन से अधिक कोविड संक्रमण के पुष्ट मामले तथा 6.9 मिलियन से अधिक मौत'[1] की त्रासदी ने हमारी आधुनिकता की तमाम परिभाषाओं को पुनः गढ़ने एवं निरंतर संशोधित करने के लिए बाध्य कर दिया। यह आँकड़ा इतिहास में व्यजिंत सभी महामारियों से प्रभावित लोगों की संख्यात्मक अपेक्षा से काफी अधिक है। कोविड़–19 (महामारी) ने मानवीय जीवन–शैली, स्वास्थ्य पेशेवरों, स्वास्थ्य प्रणाली, राष्ट्रीय और अन्तर्राराष्ट्रीय सरकारी एवं गैर सरकारी त़ंत्रो के समक्ष एक विकट व अभूतपूर्व चुनौती पेश की, जिसने वैश्विक आर्थिक संकट की गंभीर स्थिति पैदा कर दी। संसाधनों की आपूर्ति और मांग के बीच एक गंभीर असंतुलन का सामना संपूर्ण विश्व ने किया। संसाधनों का न्यायपूर्ण एवं नैतिक वितरण का प्रश्न गंभीरता से उपस्थित हुआ। रोजमर्रा की आवश्यक सामग्री एवं जीवन को बचाये व बनाये रखने को लेकर संसाधनों के वितरण का प्रश्न इतना गंभीर था कि देश, काल, स्थिति एवं प्रक्रियागत दृष्टि से विचार करने तथा नैतिक निर्णय के कठिन दौर से गुजरना पड़ रहा था। कहाँ नैतिक निर्णय लेकर नैतिक दायित्व निभाया जा सके, इन्हीं नैतिक द्वन्द्वों का समाना पूरा विश्व कर रहा था एवं कर रहा है। इस प्रकार महामारी की स्थिति में नैतिक व्यवहार के प्रतिमान को गढ़ने की कोशिश की जा रही थी। सामान्यतः हर छोटे–बड़े निर्णयों में लोगों ने उपयोगितावादी सिद्धांत के द्वारा निरूपित पैमाना के आधार पर निर्णय लिया

** शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, ति. मां भा. विश्वविद्यालय, भागलपुर*

*** प्रोफेसर, विश्वविद्यालय दर्शनशास्त्र विभाग, ति.मां भा. विश्वविद्यालय, भागलपुर*

जाने लगा। परिणामवादी नैतिकता (विषेशकर उपयोगितावादी दृष्टि) के विविध आयामी नैतिक आपादान की संभावनाओं पर निरतंर विचार किया जा रहा एंव अपनाया जा रहा था। तदनुरूप नैतिक–निर्णय, नैतिक–दायित्व एवं उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की चेष्टा भी निरंतर हो रही थी।' जहाँ तक परिणाम निरपेक्षवादी (Deontological theory) सिद्धांत का प्रश्न है तो उसकी अपेक्षा उपयोगितावादी सिद्धांत वस्तुनिष्ठता की स्थापना में अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी सिद्ध हो रही थी। वस्तुनिष्ठता के इसी लक्षण के कारण इस सिद्धान्त के परिणाम परीक्षणीयता एवं सत्यापनीयता की दृष्टि से भी अधिक निर्णयात्मक मानने की स्थिति को उपलब्ध हो सका।

कोविड महामारी के दो वर्षों का क्रमिक भीषण कहर या प्रकोप अपनी पराकाष्ठा पर रही, अभी तक यह महामारी पूर्णतया समाप्त नहीं हुई है किन्तु उसकी भयावहता एवं विकरालता में आज कमी आ गयी है। आज परिणामवादी नैतिकता की अनुप्रयुक्तता के परिवर्तनशीलता एवं गतिशीलता के प्रयोग में भी कमी आ गयी है। इसलिए इस आलेख में वैचारिक केन्द्र भीषणता वाले काल पर केन्द्रित रहा है। इसी वर्ष 5 मई को WHO ने कोविड–19 महामारी को वैश्विक आपातकाल की स्थिति से डाउनग्रेड कर दिया है।

कोविड़–19 (महामारी) में प्राथमिकताओं को निर्धारित करने तथा संसाधनों के उचित आवंटन हेतु नैतिक आधार के रूप में विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के द्वारा उपयोगितावादी सिद्धान्तों को प्रमुखता से अपनाने का दिशा–निर्देश दिया गया। जैसे–

I. इस सिद्धांत का उपयोग करते हुए दुर्लभ संसाधनों के आवंटन का सबसे उपयुक्त आधार 'उत्तम परिणाम (उपयोगिता)'[2] को माना गया। इससे यह निगमित किया गया कि उपलब्ध संसाधनों का उपयोग सबसे अधिक मुमकिन जीवन बचाने के लिए किया जाना चाहिए।
II. संसाधनों का न्यायोचित उपयोग उन लोगों के लिए किया जा सकता है जिन्हें चिकित्सा की सबसे अधिक आवश्यकता हो अर्थात सबसे ज्यादा जोखिम/खराब स्थिति वाले को प्राथमिकता देना'[3] अधिक उचित माना जा सकता है।
III. कोविड वारियर्स (पुलिस–प्रशासन, डॉक्टर, नर्स एवं अन्य हेल्थ केयर वर्कर्स जैसे लोग) जो दूसरों की जान बचाने के लिए अपनी जान जोखिम में डालते है। ऐसे कोविड वारियर्स को प्राथमिकता देना न्यायसंगत होगा, क्योंकि उनके स्वस्थ रहने पर वे पुनः श्अधिक से अधिक जीवन बचाने में सहायक होगें।'[4] आदि–आदि।

विभिन्न स्तरों पर कोविड–19 रूपी विकराल संकट में उपयोगितावादी सिद्धान्त की भूमिका अत्यंत सराहनीय रही है। इसमें संदेह नहीं है कि– उपयोगितावाद संबंधी सिद्धान्त ने इस महामारी काल में नैतिक–निर्णय, नैतिक–दायित्व एवं नैतिक–दायित्व के निश्चयन, निर्धारण एवं तदनुरूप आचरण को लेकर महती भूमिका अदा किया। इस आलेख का मुख्य अभीष्ट इन्हीं बातों को चिन्हित करने का है।

इस बात को सहजता के साथ महसूस किया गया कि इस महामारी काल में कोई एक नैतिक–मापदंड ने हमारे जीवन का मार्ग–निर्देष नहीं किया बल्कि कई सिद्धान्तों का सहारा लिया गया/लेना पड़ा। नैतिकता संबंधी एकत्ववादी (Ethical Monism) की जगह नैतिकता संबंधी बहुतत्ववादी (Ethical Pluralism) की बहुविविध जटिल वैचारिक पृष्ठभूमि से गुजरना पड़ा। यहाँ मेरा अभीष्ट उपयोगितावादी सिद्धान्तों की बहुविविध भूमिका को रेखांकित करना है। इस आलेख मे कोविड–19 एवं उपयोगितावाद क्या है? इसकी संक्षिप्त चर्चा की जायेगी। इस आलेख उद्देष्य यह कदापि नहीं है कि उपयोगितावाद ही एकमात्र प्रासंगिक सिद्धांत है, अथवा कोविड–19 के नैतिक निर्णय हेतु विषुद्ध रूप से उपयोगितावादी दृटिकोण ही अपनाना अपरिहार्य होना चाहिए। लेकिन यहाँ यह देखा जा सकता है कि उपयोगितावाद ने स्पष्ट रूपेण महती भूमिका निभायी है।

कोविड–19 : एक परिचय

कोरोना वायरस से संक्रमित मनुष्यों में श्वसन संबंधी उत्पन्न गंभीर बिमारी को हमसब कोविड–19 के नाम से जानते है। इस समूह के वायरस से मनुष्यों में सामान्य सर्दी से लेकर मध्य पूर्व श्वसन सिंड्रोम (MERS[5], Middle East respiratory syndrome) और गंभीर तीव्र श्वसन सिंड्रोम (SARS[6], severe acute respiratory syndrome) जैसी श्वसन संक्रमण उत्पन्न होती है, जिसमें कोरोना वायरस जनित बिमारी कोविड–19 (महामारी) है। इसी कारण पहले इस वायरस जनित बिमारी का SARS-COV-2[7] नाम दिया गया, जिसका बाद में WHO ने अधिकारिक नामकरण COVID-19 किया।

(a) COVID का नामकरण एवं तात्पर्य

COVID-19 में 'CO' का तात्पर्य कोरोना (CORONA) से है, 'VI' को Virus (विशाणु) से, 'D' - Disease (बिमारी) से तथा संख्या '19' का वर्ष 2019 से (बिमारी के पता चलने का वर्ष है।[8]

लतिनी भाषा में कोरोना का अर्थ 'मुकुट' होता है और जब इस वायरस के कणों को इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी से देखा जाता है तो इसके इर्द–गिर्द उभरे हुए कांटे जैसा ढॉचा मुकुट के आकार का दिखाई देता है। इसी प्रकार सूर्यग्रहण के दौरान

चन्द्रमा के चारों ओर किरण निकलती प्रतीत होती है, उसे भी कोरोना ही कहा जाता है। इस तरह वायरस के स्वरूप के कारण 'कोरोना' का नामोत्पति हुई है।

(b) कोविड –19 (महामारी) के लक्षण

WHO के अनुसार COVID-19 अलग–अलग लोगों को अलग–अलग तरह से प्रभावित करता है। ज्यादातर संक्रमित लोगों को हल्की से मध्यम स्तर तक बिमार करते हैं और बिना अस्पताल में भर्ती हुए सामान्य प्राथमिक उपचार से ठीक हो जाते हैं। COVID-19 लक्षणों के निम्न स्तर है–

1. सबसे आम लक्षण[9] : इस स्तर में बुखार, खाँसी, थकान, स्वाद या गंध की संवेदना की हानि आदि लक्षण पाये जाते हैं।

2. कम सामान्य लक्षण[10] : इस स्तर में उपर के सभी लक्षणों के अतिरिक्त गला खराब होना, सिर व बदन–दर्द, त्वचा पर दाने, अंगुलियों (हाथ व पैर) का मलिनीकरण, लाल या चिढ़ आँखें लक्षण पाये जाते है।

3. गंभीर लक्षण[11] : इस स्तर में उपर्युक्त सभी लक्षणों के अलावे सांस लेने में कठिनाई, भाषण या गतिशीलता की हानि (भम्र), छाती में दर्द, निमोनिया आदि लक्षण प्रमुख हैं।

किसी व्यक्ति के वायरस से संक्रमित होने के बाद लक्षण दिखने में औसतन 5–6 दिन लग जाते हैं।

(c) कोविड–19 संक्रमण एवं रोकथाम :

कोविड–19 से प्रभावित व्यक्ति जब खाँसता, छींकता, बोलता या सांस छोड़ता है तब उनके नाक या मुँह से निकलने वाले छोटे तरल बूँदें (एरोसोल) के माध्यम से कोरोना वायरस आसपास की वस्तुओं एवं उनके सतहों पर पहुँचता है। यदि अन्य व्यक्ति इन वस्तुओं/सतहों को छूकर अपनी आँख, नाक या मुँह को स्पर्श करता है तो वह कोविड से संक्रमित हो जाता है। इसके अलावे लोग तब भी कोविड–19 से संक्रमित हो सकते है जब वे सांस द्वारा सीधे इन संक्रमित तरल बूँदों को अपने अंदर ले लेते है। इस प्रकार कोविड–19 का संक्रमण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में होता है।

कोविड–19 संक्रमण को रोकने एवं प्रसार को कम करने हेतु निम्न प्रमुख उपाय/सावधनियाँ हैं[12] –

(d) नियमित रूप से एल्कोहल युक्त सैनिटाइजर या साबुन और पानी से हाथ साफ किया जाना।

(e) बुखार एवं खाँसी से प्रभावित किसी भी व्यक्ति से 1 मीटर (3 फीट) से अधिक की दूरी बनाये रखना तथा मास्क पहनना।

(f) श्वसन शिष्टाचार (खाँसते या छींकने समय टियशू या कोहनी को मोड़ कर अपना मुँह और नाक ढ़क लेना)

(g) यदि कोई अस्वस्थ (सामान्य/माध्यम) महसूस करते हैं तो होम क्वारंटाइन रहना और ठीक होने तक स्वंय को अलग–थलग कर लेना। आदि–आदि।

इसके अतिरिक्त ससमय टीका लेकर, कोविड मरीज एवं कोरोना वारिर्यस को तिरस्कार व भेदभावरहित, सुरक्षात्मक उपायों के साथ सहयोग करें। ताकि इस संक्रमण को जल्द से जल्द रोका व खत्म किया जा सके।

[C] परिणामवादी नैतिकता

नैतिकता को लेकर परिणामवाद (प्रयोजनवाद) एवं गैर परिणामवाद की चर्चा से हम सभी परिचित हैं। सुखवाद एवं उपयोगितावाद का विभाजन परिणामवादी नैतिकता को लेकर महत्वपूर्ण रहा है। उपयोगितावाद का सूत्र–विचार अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख/शुभ को नैतिकता का पैमाना मानता है।

उपयोगितावाद एक प्रयोजनमूलक सिद्धांत है जो कर्म के परिणाम के आधार पर नैतिक निर्णय हेतु मापदण्ड प्रस्तुत करता है। यह मानता है कि कोई कार्य अपने स्वरूप के कारण नैतिक–अनैतिक नहीं होता, बल्कि अपने परिणामों के कारण ही नैतिक–अनैतिक होता है। लॉक और हयूम ने जिन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया, उन्हें ही प्रायः उपयोगितावादी सिद्धांत का आधार माना जाता है। ह्यूम उदारता को सबसे बड़ा गुण मानते हैं तथा व्यक्ति विशेष के व्यवहारों में दूसरों के सुख में अभिवृद्धि को ही उदारता का मापदंड समझते थे।

18वीं शताब्दी में षेटसबरी व बटलर इसके प्रमुख समर्थक रहे हैं, परन्तु उपयोगिवाद का संबंध प्रमुखतः 19वीं षताब्दी के बेंथम एवं मिल से रहा है। वे मानते हैं कि वही कर्म शुभ है जो सिर्फ व्यक्ति विशेष के हित में न होकर व्यापक सामाजिक हित के पक्ष में होता है अर्थात यह सिद्धांत उपयोगिता (Utility) अथवा अधिकतम सुख सिद्धांत–'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' (The greatest happiness of the greatest number) को नैतिकता का आधार मानती है। इसके अनुसार 'कर्म उसी अनुपात में सत् है जिस अनुपात में वे सुख का उत्पादन करते हैं, असत् उस अनुपात में है जिस अनुपात में वे सुख के विपरीत परिणाम उत्पन्न करते हैं।'[13]

बेंथम को उपयोगितावाद का संस्थापक माना जाता है। उपयोगितावाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए बेंथम लिखते है कि–किसी वस्तु का वह लक्षण जिसके कारण वह हित, लाभ, आनंद, अच्छाई या सुख को उत्पन्न करती है और क्षति, कष्ट, बुराई या दुःख को रोकती है। सामान्य रूप से यह सुख समाज का या

विशिष्ट रूप से किसी व्यक्ति का हो सकता है। इस प्रकार सुख और दुःख इन दो आधारों पर बेंथम किसी कार्य या वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता का मापदण्ड तय करते हैं।

प्रत्येक कर्म परिणामतः मिश्रित रूप से सुख व दुःख उत्पन्न करते हैं। इस क्रम में बेंथम कहते हैं कि 'उन उत्पादित सुख और दुःखों को तौलो दोनों की तुलना से सत्–असत् का प्रश्न हल जो जायेगा।[14] उनके अनुसार किसी कर्म द्वारा उत्पन्न सभी सुखों के सभी मूल्यों को एक ओर तथा दुःखों के सभी मूल्यों को दूसरी ओर जोड़ लेना चाहिए। यदि इन दोनों को एक दूसरे से घटाने पर सुख शेष बचता है तो उसकी प्रवृत्ति हित/शुभ/सुखप्रद की होगी और दुःख शेष बचता है तो उसकी प्रवृत्ति अहित/अशुभ/दुःखप्रद की होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि बेंथम सुखों के मूल्यांकन में सिर्फ परिमाणात्मक/मात्रात्मक आधार स्वीकारते हैं। परिमाण के विविध रूपों का मूल्यांकन कई दृष्टियों से हो सकता है। इस क्रम में सुख के परिमाण को मापने के लिए बेंथम श्सुखवादी परिकलन' के सात कसौटियों की चर्चा करते हैं। वे हैं – 1. तीव्रता 2. अवधि 3. निश्चितता या अनिष्चितता 4. निकटता (समय की समीपता) 5. उत्पादकता 6. शुद्धता 7. व्यापकता (विस्तार)

बेंथम मानसिक सुख एवं भौतिक सुख में भेद नहीं करते हैं। उनके अनुसार जो भी सुख है वो सभी भौतिक सुख ही है। उन्हीं के शब्दों में "Quantity of pleasure being equal Pushpin is as good as Poetry"

मानव स्वभावतः स्वार्थी है उनकी प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वो अपनी कानी अंगुली भी उठाने का कश्ट नहीं करेंगे यदि पता चल जाय कि ऐसा करने से उसे कोई लाभ नहीं मिलेगा। ऐसे में प्रश्न उठता है कि मनुश्य दूसरों के हित के लिए क्यों कर्म करता है? इसका उत्तर देते हुए बेंथम स्वार्थवाद से परार्थवाद की उन्मुखता हेतु चार बाध्य नैतिक आदेशों को स्वीकारते हैं वे हैं –1. प्राकृतिक (भौतिक) 2. राजनैतिक 3. सामाजिक 4. धार्मिक।

इन्ही आदेशों की वजह से स्वार्थी मनुष्य परार्थ के लिए कर्म करता है।

बेंथम की तरह मिल भी परार्थमूलक नैतिक सुखवाद में विश्वास करते हैं। मिल व्यक्तिगत सुख के स्थान पर अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही मनुष्य के समस्त नैतिक कर्तव्यों का मूल आधार मानते हैं। साथ ही साथ यह भी स्वीकारते हैं कि कोई भी कर्म उसी अनुपात में शुभ अथवा अशुभ है जिस अनुपात में उसके परिणाम स्वरूप सुख या दुःख की उत्पति होती है। इसकी विशद चर्चा मिल ने अपनी पुस्तक 'यूटिलिटेरिएनिज्म' में की है। मिल के अनुसार आनंद या

सुख का अर्थ सुख की प्राप्ती अथवा दुःख का अभाव है। सुख ही मानव जीवन का चरम आदर्ष है। कोई कर्म तभी उचित है जब उससे अधिक सुख तथा कम दुःख का अनुभव होता है और कोई कर्म तब अनुचित है जब उससे कम सुख तथा अधिक दुःख की उत्पति होती है।

मिल सुखों में परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों भेद को स्वीकारते है। दो सुखों में एक यदि शारीरिक (परिमाण) दृष्टि से श्रेष्ठ है और दूसरा मानसिक (गुण) दृष्टि से श्रेष्ठ हैं ऐसी स्थिति में योग्य निर्णायक शारीरिक सुखो की अपेक्षा निष्पक्ष रूप से मानसिक सुख को अधिक पंसद करेंगें। (……if people who are a acquainted with both mental pleasure…)[15] क्योंकि (मिल के अनुसार) मनुष्य में गरिमा की स्वाभाविक भावना है। जिसके आधार पर वह उच्च एवं निम्न कोटि के सुखों में अंतर करता है। मनुष्य अपनी गरिमा के कारण ही मदिरापान के सुख से बेहतर संगीत के सुख को समझता है। इस संबंध में मिल का कथन है–'एक संतुष्ट सुअर की अपेक्षा एवं एक असंतुष्ट मानव बनना अधिक अच्छा है, एक तृप्त बेवकूफ की अपेक्षा एक अतृप्त सुकरात होना अधिक श्रेष्ठ है।'[16]

मिल, बेंथम के चार बाध्य नैतिक आदेशों के अतिरिक्त एक आंतरिक आदेश को भी स्वीकार करते हैं। क्योंकि मिल मानते हैं कि आंतरिक आदेश ही स्वार्थी मानव में परार्थ की भावना उत्पन्न करती है। तभी वह दूसरों के लिए कर्म (परमार्थ) करता है।

इन्हीं आंतरिक आदेशों के कारण कोविड–19 के दौरान डॉक्टर, नर्स एवं अन्य मेडिकल स्टाफ और अन्य कोरोना वारियर्स अपनी कष्ट, पीड़ा व जान की परवाह किये बिना दूसरों व अधिक से अधिक लोगों की जान बचाने के खातिर कोविड से लड़ते रहे और कुछ ने अपनी जान तक गंवा दी, ऐसा सिर्फ बाध्य नैतिक आदेषों/दबाबों के कारण संभव नहीं हो सकता।

इस प्रकार उपयोगितावादी विचारों से स्पष्ट है कि प्रत्येक को ऐसा कर्म करना या नैतिक नियम का अनुपालन करना चाहिए जो अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख अथवा शुभ उपलब्ध कराता हो।

[D] परिणामवादी नैतिकता की अनुप्रयुक्तता के विविध पक्ष :

अब हम सब कोविड–19 (महामारी) के दौरान उत्पन्न स्थिति/समस्याओं का एक नैतिक समाधान के रूप मे परिणावादी सिद्धान्तों की भूमिका पर चर्चा करेंगे।

इस संक्रमण के रोकथाम के सारे गैर–औषधीय सार्वजनिक स्वास्थ संबंधी उपाय जैसे–लॉकडाउन, सोशल डिस्टेंसिंग, क्वांरटाइन, पीपीई, मास्क आदि तथा नियम व शर्ते का मूल ध्येय अधिकतम व्यक्तियों हेतु कोविड संक्रमण के तीव्रगामी

प्रसार को रोकना था जिससे संक्रमति होने वाले व्यष्टि एवं समष्टि के जीवन–मूल्य को बचाना था। जो ज्यादा से ज्यादा लोगों के हित/सुख तथा कम या नगण्य संख्या में लोगों का अहित/दुःख पर केन्द्रित था। इन उपायों द्वारा दैनिक क्रिया व जीवन जीने हेतु हर संभव नियमों को सशर्त लागू करना रहा। ऐसी स्थिति में उपयोगितावादी विचार की अनुप्रयुक्तता की झलक दिखाई देती रही, जिसकी एक व्याख्या निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है।

1. सोशल डिस्टेंसिंग : महामारी के संक्रमण के प्रसार को रोकने के लिए पारिवारिक स्तर पर यह प्रक्रिया मानव समुदाय के विविध समूह में अपनाया जाता रहा है, लेकिन लॉकडाउन की प्रक्रिया महामारी के प्रसार को रोकने के लिए अपनायी जाती है। लॉकडाउन, जो संक्रमण रोकने का एक अत्यधिक सबल व सफल सामाजिक नैतिक प्रबंधन का तरीका है, एक प्रषासनिक आदेष होता है। जब देश या राज्य के नागरिकों तक कोई गंभीर संक्रमण/बिमारी पहुँच रही होती है तो सरकार सोशल डिस्टेंसिंग (सामाजिक स्तर पर एक–दूसरे से उचित दूरी बनाना) को 'लॉकडाउन के महामारी रोग अधिनियम 1897/17 के तहत एक प्रशासनिक आदेश के रूप में लागू करती है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और पारिवारिक कार्यक्रमों में शामिल होने या आयोजन में भाग लेने से बचना ही सोशल डिस्टेंसिंग है।

कोरोना का प्रसार एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के सम्पर्क/निकट आने से काफी तेजी से होता है परन्तु लॉकडाउन की स्थिति में लोगों के बीच समीपता या भौतिक सम्पर्क न होने के कारण संक्रमण होने की संभावना नहीं के बराबर रहती है। इस प्रकार लॉकडाउन द्वारा कम समय (अवधि) में अधिक से अधिक लोगों को एक साथ बचाया जा सकता है।

लॉकडाउन संबंधी सरकार के बाध्य नैतिक आदेषों (दबाबों) को लोगों ने पूर्णतः तब तक नहीं स्वीकारा, जब तक लोगों ने अपने आंतरिक आदेषों को नहीं समझा। यही कारण है कि शुरूआत में प्रायः लोग लॉकडाउन संबंधी बाध्य आदेशों को हल्के में लेते हुए या नजर अंदाज करते हुए प्रतीत हो रहे थे। परन्तु बाद में जब लोगों ने अपने अंतरात्मा की आवाज/आंतरिक आदेशों का समझा, तो इन आदेषों का पालन पूरी निष्ठा से करने लगे। अतः मिल का स्पष्ट मानना है कि सिर्फ बाध्य आदेशों के दबाब में आकर कोई व्यक्ति परार्थी नहीं हो सकता बल्कि एक आंतरिक आदेष भी होनी चाहिए।

2. जोन (Zone) का विभाजन : संक्रमित लोगों की संख्या (मात्रा) अर्थात कोरोना संक्रमण की तीव्रता के आधार पर केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा

किसी जिले/इलाके को विभिन्न जोन में विभक्त कर लॉकडाउन संबंधी कानून व्यवस्था, नियम, शर्ते, छूट आदि लागू किये गये। जैसे–

(a) ग्रीन जोन[18], जहाँ अब तक या पिछले 21 दिनों में कोई भी संपुष्ट (कंफर्म) मामला नहीं आया है, में प्रशासन लॉकडाउन के दौरान सामाजिक दूरी, मास्क व अन्य सावधानियाँ के साथ जरूरत की चीजों लेने हेतु घर से बाहर निकलने की इजाजत देता है।

(b) रेड जोन[19], जहाँ कोरोना के (एक्टिव) सक्रिय मामला हुआ करता है तथा अन्य नए संक्रमण का खतरा बना हुआ है, में लोगों पर पूरी तरह पाबंदी लगी होती है। प्रशासन जरूरत की चीजों के सप्लाई का जिम्मा अपने हाथों में लेता है।

(c) ऑरेंज जोन[20], रेड जोन घोषित वह इलाके जहाँ पिछले 14 दिनों से कोई नया संक्रमण का मामला नहीं आया है, में लॉकडाउन संबंधी शर्तो व नियमों में ग्रीन जोन से सख्त लेकिन रेड जोन से अपेक्षाकृत ढीलाई बरती जाती है।

(d) कंटेनमेंट जोन[21], वह स्थान जहाँ कोरोना संक्रमण काफी ज्यादा तेजी से फैल रहा हो साथ ही मृत्यु दर भी अधिक हो, में लॉकडाउन संबंधी सभी नियम व शर्तो को सबसे ज्यादा सख्ती से लागू की जाती है। अति आवश्यक चीजें प्रषासन होम डिलीवर करता है।

उपर्युक्त (Zone) जोन का विभाजन के पीछे परिणामवादी नैतिक सिद्धांतों की सहायता ली गयी। इस तरह का जोन–निर्धारण का मूल ध्येय अधिक से अधिक लोगों को बचाने अर्थात अधिकतम लोगों का अधिकतम हित है। इस क्रम में ज्यादा से ज्यादा मशीनी कृत एवं इंटरनेट पर आधारित 'वर्क फ्रॉम होम' की अवधारणा के विकास ने पूँजीवादी उपयोगितावाद को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है। अधिकतम अर्थ–उपार्जन एवं अर्जन संबंधी यह परिणामवादी दृष्टि प्रभावी हो पाया।

3. चिकित्सकीय उपकरण (संसाधनों) एवं उपचार के आवंटन में –

सामान्यतया निर्दोष मानव जीवन की रक्षा ही चिकित्सकीय नैतिकता का सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता है। नैतिक रूप से यह स्वीकार्य है कि यदि पर्याप्त संसाधन/उपकरण उपलब्ध हो तो रोगियों को समान रूप से उपचार की सुविधाएँ मिलनी चाहिए। किसी भी हाल में उनके साथ जाति, लिंग, नस्ल, क्षेत्र या भाषा आदि के आधार पर किसी तरह का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन कोविड–19 जैसे असाधारण स्थिति में जब सुविधाएँ, उपकरण पर्याप्त न हो और रोगियों की संख्या इतनी बड़ी हो कि सभी को एक समान उपचार की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं कराई जा सकती हो, तो ऐसे में यहाँ पर कुछ महत्वपूर्ण नैतिक समस्या उभरकर सामने आतें है कि –

I. रोगियों में से किस–किस को उपकरण/संसाधन जैसे– वेंटिलेटर, जैसे जीवन–रक्षक यंत्रों की सुविधा, ऑक्सीजन सिलिंडर की सुविधा दी जानी चाहिए।

II. ऐसी द्वन्दात्मक स्थिति में किसे उपचार, उपकरण, सुविधाएँ आदि जीने के लिए आवंटित किया जाना चाहिए और किसे उपचार देने से वंचित किया जाना चाहिए।

ऐसे दुलर्भ संसाधनों के सर्वोत्कृष्ट आवंटन व उपचार की उपलब्धता हेतु WHO ने कुछ दिशा–निर्देश दिया था। जिसके आधारभूत विचार के रूप में उपयोगितवादी सिद्धांत को प्रमुखता दी गई।

4. समष्टि या जनसमूह केन्द्रित उपचार की दृष्टि अपनाकर–

सामान्यतया चिकित्सकीय उपचार को दो बड़े भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(क) व्यष्टि (रोगी) केन्द्रित उपचार[22] (Patient Centered Treatment)

(ख) समष्टि या जन समूह केन्द्रित उपचार[23] (Group Centered Treatment)

साधारण स्थिति में चिकित्सकीय नैतिकता व्यष्टि केन्द्रित उपचार को ही नैतिक मानता है। लेकिन असाधारण स्थिति में समष्टि केन्द्रित उपचार को नैतिक ठहराया जाता है। कोविड–19 की समस्या केवल व्यष्टि के जीवन से नहीं बल्कि मानव समष्टि के अस्तित्व से जुड़ी समस्या है। 24 मार्च 2020 को प्रकाशित लिखित समाचार 'corona virus and ethics act so that most peole survive' में Prof. (Dr.) Georg Marckmann ने प्रश्नों का जबाब देते हुए बताया कि इस तरह कि स्थिति में पेंशेट सेंटर्ड ट्रीटमेंट की जगह ग्रुप सेंटर्ड ट्रीटमेंट को अपनाना है।[24] इस संक्रमण में रोगियों की संख्या इतनी तेजी से बढ़ने लगी कि इसमें रोगी के उपचार को प्रत्येक रोगी के अनुरूप उपलब्ध सर्वोत्तम उपचार दे पाना संभव नहीं हो पा रहा था। इसलिए कोविड–19 के संक्रमित रोगी हेतु 'जनसमूह केन्द्रित उपचार' की दृष्टि अपनाया जाना नैतिक दृष्टि से उचित माना गया। यहाँ इस तरह के उपचार द्वारा कम से कम लोगों की मृत्यु व अधिक से अधिक लोगों के जीवन की रक्षा की जा सकती है।

5. सबसे ज्यादा जोखिम/खराब स्थिति (क्रीटकली इल) वाले रोगी के उपचार की प्राथमिकता –

कोविड–19 के संकट में रोगियों की संख्या (कोविड संक्रमित एवं गैर कोविड संक्रमित) इतनी बड़ी है कि उतनी मात्रा में न तो चिकित्सक है, न तो पर्याप्त चिकित्सा कर्मी न उपकरण आदि ही है। इस समय पूरी दुनियां में यह सहज

स्वीकृति बनी कि चिकित्सा व्यवस्था सबसे पहले 'क्रीटिकली इल' पेशेंट को मुहैया कराई जानी चाहिए। और उसके बाद सीरियसली इल रोगियों को चिकित्सा मिलनी चाहिए[25] ऐसी वैश्विक महामारी की स्थिति में स्लाइटली इल रोगियों का उपचार कुछ समय (दिनों) तक टाला जाना उचित माना गया। अगर क्रीटिकली इल रोगियों की संख्या उपलब्ध इंटेंसिव रिसोर्सेज (गहन संसाधन) की संख्या से अधिक हो जाए तो हमें मुख्य रूप से वैसे रोगियों को उपचार देने की बात करनी चाहिए, जिन्हें चिकित्सा की सबसे अधिक आवश्यकता हो अथार्त सबसे ज्यादा जोखिम/खराब स्थिति को प्राथमिकता देना[26] अधिक उचित प्रतीत होता है। क्रीटिकली इल, सीरीयसली इल एवं कोविड–19 रोगी के उपचारों की प्राथमिकता स्लाइटली इल की अपेक्षा अधिक दिया जाना परिणामवादी नैतिकता की दृष्टि का संकेत करता है। स्लाइटली इल की मृत्यु दर अपेक्षाकृत कम होती है जबकि क्रिटीकली इल एवं सीरियसली इल की मृत्यु दर का परिणाम अधिक होता है यदि उपचार उपलब्ध नहीं किया जाय।

6. उत्तम परिणाम (उपयोगिता) के आधार पर –

चिकित्सकीय उपकरण व उपचार के दिये जाने के पश्चात् प्राप्त उपचार की सफलता या परिणाम (उपयोगिता) को इसके आवंटन का प्रमुख नैतिक आधार के रूप में स्वीकार किया गया। कोविड–19 के संकट में परिणामवादी नैतिकता ने अलग–अलग प्रकार के आचरण संबंधी विविध नियम (code of conduct) के मार्ग का निर्देशन व्यावहारिक ढंग से उपस्थापित करने की कोशिश करता रहा। यह सिद्धांत उपलब्ध संसाधनों के उपयोग की वकालत सबसे अधिक मुमकिन जीवन बचाने[27] के लिए करता है अर्थात किसी एक रोगी की जीवन की रक्षा करने की बजाय अधिकतम संख्या में जीवन रक्षा करना, संसाधनों व उपचार के आवंटन को सही ठहराने का पैमाना मानता हैं ऐसे परिणामवादी दृष्टि में उपचार आवंटन के कई आधार को उपयोग में लाया गया। वे हैं :

(a) जीवन बचाने की प्रतिशत संभावाना एवं संख्या[28]
(b) उपचार की समयावधि
(c) उपचारोपरांत जीवन–दीर्घता[29]
(d) उपचारोपरांत जीवन–गुणवत्ता[30]
(e) उपचार का निश्चयात्मक एवं निर्णायक साफल्य
(f) उपचारोंत्पादकता

आदि–आदि, को प्रमुख आधार बनाकर नैतिक निर्णय लेने की बात हो रही थी।

अगर किसी रोगी के बचने की उम्मीद केवल 10 प्रतिशत है और दूसरे रोगी के बचने की संभावना 90 प्रतिशत है तो ऐसी स्थिति में ऐसा अपनाया गया की

90 प्रतिशत वाले रोगी की बचाना चाहिए।[31] ऐसा अपनाया गया जिससे आगे उपचार किये जाने में प्रत्येक 10 लोगों में से एक के बजाय नौ लोगों की जान बचायी जा सकती है। यदि किसी उपचार/उपकरण के प्रयोग से 5 दिनों में 5 लोगों की जान बचाई जा सकती है और उसी उपचार/उपकरण के प्रयोग से 5 दिनों में एक ही व्यक्ति की जान बचाई जा सके, तो यह सिद्धांत 'उपचार की अवधि' व 'रोगी के बचने की संख्या के अधिकता के आधार'[32] पर 5 लोगों की जान बचाने को नैतिक रूप से उचित मानता है। इसी तरह अधिक उम्र दराज लोगों की उपचार के उपरांत संभावित जीवन की दीर्घता की अपेक्षा युवकों के संभावित जीवन की दीर्घता अधिक होती है। इसके अलावे उम्र दराज रोगियों को ऐसे उपचार से कुछ हद तक दीर्घ जीवन तो मिलता है परन्तु गुणवत्ता पूर्ण जीवन नहीं मिल पाता है जबकि युवकों को ऐसे उपचार के उपरांत अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ जीवन के साथ–साथ गुणवत्तापूर्ण जीवन भी मिलता है। अतः परिणामवादियों के अनुसार जीवन की गुणवत्ता, उपचार की निश्चित सफलता एवं जीवन लम्बाई के अधिकता की उम्मीद के आधार पर युवकों को बचाना ही नैतिक माना जा सकता है।[33] इसकी स्थापना की गई तदनुरूप निर्णय लेने की स्थिति बनी।

7. उपचारोंत्पादकता

'उपचार की उत्पादकता' के आधार पर डॉक्टर, नर्स व अन्य हेल्थ केयर वर्कर्स को प्राथमिक रूप से उपचार (उपकरण व वैक्सीन) मिलना चाहिए। क्योंकि उनके ठीक होकर वापस आने पर वे अधिक से अधिक जीवन बचाने में सहायक होंगे। साथ ही साथ वैसे रोगियों का उपचार को प्राथमिकता मिलनी चाहिए जिन पर आश्रित लोगों (बच्चे, बुर्जुग व अन्य) की संख्या अधिक हो ताकि वे स्वस्थ होकर अन्य लोगों के लिए अधिकतम शुभ/हित उत्पन्न कर सके।

8. संसाधनों की कमी के विभिन्न स्तर/चरणों में आवंटन सिद्धांत की प्रासंगिकता–

कोविड–19 (महामारी) के दौरान संसाधनों की कमी के विभिन्न स्तर (कम कमी से अधिक कमी तक) में आवंटन सिद्धांत की प्रासंगिकता को लेकर WHO का अंतर्राष्ट्रीय मार्गदर्शन नोट कहता है कि –

(क) जहाँ थोड़ी सी कमी है वहाँ वेंटिलेटर जैसे संसाधनों का आवंटन 'पहले आओ, पहले पाओ' के सिद्धान्त द्वारा सबसे अधिक न्यायसंगत हो सकता है।[35]

(ख) जब संसाधन तेजी से दुर्लभ हो जाते है, तो उनके आवंटन को उस सिद्धांत के अनुसार उचित ठहराया जा सकता है जो सबसे ज्यादा जरूरत वाले लागों को प्राथमिकता देता है।[36]

(ग) इससे भी अधिक (सबसे अधिक) कमी के साथ एक सिद्धांत जिसका उद्देश्य संसाधन से अधिकतम लाभ प्राप्त करना है, सबसे अधिक न्यायसंगत हो सकता है।[37]

प्रत्येक चरण के आवंटन का उद्देश्य समानता को बढ़ावा देना है जिसे निम्न तालिका स्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

तालिका – 1

संसाधान कमी के स्तर/चरण	आवंटित सिद्धांत	आधार उद्देश्य
सामान्य कमी	पहले आओ, पहले पाओ	समानता को बढ़ावा देना
मध्यम कमी	सबसे ज्यादा जरूरत वाले लोगों को प्राथमिकता देना।	समानता को बढ़ावा देना
अत्यधिक कमी	जो संसाधन प्राप्त कर अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके	समानता को बढ़ावा देना

उपर्युक्त संसाधन–आवंटन सिद्धांत के मूल में अधिकतम परिणाम (उपयोगिता) को ही प्रमुखता से शामिल करता हुआ प्रतीत होता है। अतः स्पष्ट है कि उपयोगितावाद के अनुसार संसाधनों का न्यायोचित वितरण अधिक से अधिक लोगों के लिए अधिकतम भलाई/हित हेतु किया जाना चाहिए।

9. टीका (वैक्सीन) आवंटन में –

कोविड–19 महामारी को नियंत्रित करने के लिए सुरक्षित और प्रभावी टीके सबसे कारगर मार्ग होता है। जब कोई टीका विकसित किया जाता है और उसके तत्काल मांग के अनुरूप आपूर्ति कम है तो वैश्विक स्तर पर वैक्सीन के उचित आवंटन हेतु विधियों, सिद्धांतो एवं प्राथमिकताओं के संबंध में निर्णय प्रमुख समस्या के रूप में प्रकट होती है। अधिकांश देशों में सबसे पहले स्वास्थ कर्मियों एवं अन्य कोरोना वारियर्स का टीकाकरण किया गया, क्योंकि कोविड–19 से संक्रमित लोगों के इलाज और षेश आबादी के टीकारण में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। तत्पश्चात् बुजुर्गो के लिये टीका की प्राथमिकता दी गयी, जो तर्क संगत निर्णय था। क्योंकि इनके मामलों में संक्रमण और मृत्यु दर अधिक रही है। अंत में युवाओं व बच्चों को टीका दी गयी, जिसका संक्रमण व मृत्यु दर अपेक्षाकृत क्रमागत रूप से कम रहा था। इस प्रकार कोविड–19 के टीका का नैतिक रूप से आवंटन तालिका–238 में प्रदर्शित की गई हैं ।

तालिका–2

प्राथमिक जनसंख्या	प्राथमिकता के लिए तर्क
जिन्हे संक्रमित होने और गंभीर रूप से बीमार होने का सबसे बड़ा खतरा है।	वैक्सीन का अधिकतम लाभ उठाएँ
जिन्हें, अगर टीका लगाया जाता है, तो वे वायरस के सबसे बड़े प्रसार को रोकेंगें।	वैक्सीन का अधिकतम लाभ उठाएँ
जिन्होने वैक्सीन विकसित करने के उद्देश्य से अनुसंधान में स्वेच्छा से भाग लिया है।	इस प्रयास में सहायता हेतु स्वेच्छा से जोखिम लेने वालों के लिए पारस्परिक दायित्व

इस प्रकार टीका के नैतिक व तार्किक आवंटन में उपयोगितावाद की झलक दिखाई पड़ती है।

10. आवश्यक सेवा सामग्री के आवंटन में –

कोविड–19 के दौरान लॉकडाउन, सामाजिक दूरी व अन्य पाबंदियों ने एक ओर कोरोना संक्रमण को रोकने में अहम भूमिका निभाई परन्तु दूसरी ओर रोजगार व रोजमर्रा की जिंदगी पर ऐसा प्रतिबंध लगा दिया कि आवश्यक समाग्री (अन्न, जल, ईंधन, दूध आदि) की पर्याप्त उपलब्धता के बावजूद इसकी पहुँच की कमी के कारण लोग भूखे व असहाय रूप से मरने के लिए विवश हो रहे थे। हालांकि कई लोग (व्यक्तिगत), सरकार, NGO व अन्य संस्थाओं ने सुरक्षात्मक उपायों के साथ समाग्री की पूर्ति एवं उचित आवंटन हेतु सैद्धान्तिक आधार के रूप में परिमाणतः अधिकतम शुभ/हित को अपनाया था। जिसका मुख्य ध्येय जरूरतमंद असहाय लोगों को अजीविका की असहनीय पीड़ा से मुक्त करना रहा। जैसे –

(क) केन्द्र सरकार (भारत) की पाँच योजनाओं[89] का मुख्य लक्ष्य भी कोरोना–संकट की घड़ी में अधिक से अधिक लोगों का मदद करना ही था –

(a) प्रधानमंत्री गरीब कल्याण पैकेज के तहत महिलाओं के जनधन खातों में 500–500 रू. की तीन महीनों तक आर्थिक मदद।
(b) खाद्य सुरक्षा के तहत फ्री अनाज–वितरण
(c) पी.एम. किसान सम्मान निधि योजना के तहत किसानों को आर्थिक मदद।
(d) उज्जवला योजना के जरिए 3 महीनों तक फ्री गैस
(e) मनरेगा रोजगार योजना के तहत मजदूरों को रोजगार भत्ता के रूप में आर्थिक मदद।

(ख) NGO व अन्य संस्थाओं द्वारा खाद्य व अन्य समाग्री आवंटन में।

(ग) व्यक्तिगत रूप से आवश्यक समाग्री वितरण में

(घ) सुरक्षात्मक उपाय के साथ शहरों में सुदूर फंसे परदेश कमाने वाले वर्कर्स का गाँव भेजा जाना और उनकी कोरंटीन की व्यवस्था विद्यालय, होटल एवं अस्पताल में करना। आदि–आदि।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि कोविड–19 के दौरान संसाधनों व उपचार का नैतिक आवंटन एक अत्यंत जटिल कार्य रहा है। संसाधनों का आवंटन, उपचार एवं वैक्सीन की प्राथमिकता तय करने में परिणामवादी (उपयोगितावाद) सिद्धांत एक नैतिक ढ़ांचे प्रस्तुत करने में सहयोगी सिद्ध हुआ। हालांकि मानव–जीवन को मानव–जीवन के विरूद्ध तौला जाना व्यापाक नैतिक दायरों को कमजोर बनाता है। सच पूछिए इस तरह कि महामारी में कार्य क्षमता तथा उपकरण व सुविधा संबंधी क्षमताओं के विस्तार का सहारा लिया जाना चाहिए (जैसा कई जगह लिया भी गया है) इस क्रम में होटलों, ट्रनों, स्कूल–कॉलेजों आदि विभिन्न जगहों पर संक्रमित रोगी के उपचार व क्वॉरेटाइन हेतु व्यवस्था की गयी। इतना स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय के सैद्धान्तिक आधार के रूप मुं उपयोगितावाद ने बहुत हद तक मार्ग–दर्शन करने में अपनी महती भूमिका निभाने का काम किया।

परिणामवादी नैतिकता को आधार बनाकर कोविड–19 महामारी के काल में कई तरह के नैतिक एवं वैचारिक (उप/सहायक) मापदंड का निरंतर निर्माण होता रहा और उनके अनुरूप चिकित्सकीय एवं अन्य संसाधनों के आवंटन को व्यवहार में लाया गया। इस काल में बेंथम के सुखवादी कलन के विविध सहयोगी मापदंडो (जैसे–दीर्घता, निश्चयात्मकता, शुद्धता, उत्पादकता, व्यापकता आदि) को नये–नये ढ़ंग से व्यावहारिक आपादान के लिए रूपांतरित एवं विस्तारित (समय, जीवन की दीर्घता, जीवन की गुणवत्ता, रिकवरी की संख्यात्मक प्रतिषत दर, चिकित्सकों एंव कोरोना वारियर्स को चिकित्सीय एंव वैक्सीन के आवंटन के द्वारा पुनः परिमाणात्मक, गुणात्मक, परिणाम की संभाव्यता, विभिन्न सरकारी योजनाओं एंव गैर सरकारी गतिविधियों का लागू किया जाना आदि–आदि) किया गया।

चिकित्सकीय स्तर पर चिकित्सकों की चिकित्सकीय उपचार, उपकरण की उपलब्धता एवं आवश्यक जीवनोपयोगी दवाई की उपलब्धता में परिणामवादी नैतिकता की अधिमानता दिखती रही लेकिन ऐसा नहीं है कि परिणाम निरपेक्षवादी सिद्धांतों ने अपना योगदान नहीं दिया। कर्तव्य के लिए कर्तव्य, निरपेक्ष आदेश आदि आंतरिक स्तर पर कम महत्वपूर्ण नहीं रहें। चिकित्सकों एवं चिकित्सा कर्मी एवं कोरोना वारियर्स के परिणाम निरपेक्षवादी नैतिकता ने अपने जान की परवाह

बगैर कर्तव्य के लिए डटे रहने की प्रेरणा दी। असामान्य स्थिति में नैतिकता में महत्वपूर्ण स्वरूपगत भिन्नता दिखाई देती है। सामान्य स्थिति में चिकित्सकीय नैतिक एक–एक व्यक्ति के उपचार के लिए प्रायः सम्पूर्ण उत्तरदायी हुआ करती है जबकि महामारी काल में जनसमूह के उपचार के प्रति उत्तदायी बन सकी। इतना ही नहीं, जन–समूह उपचार प्रणाली भी उनके उपचार पर केन्द्रित रही, जिनकी प्राण–रक्षा अधिकतम की जा सके एवं अधिकतम लोगों की प्राण–रक्षा की जा सके। परिणामवादी नैतिकता भले ही कर्त्ता के हित को परिणामस्वरूप उपलब्ध अधिकतम हित के परिधि में महत्वपूर्ण स्थान नहीं तय करता है लेकिन कर्त्ता के नैतिक निर्णय, नैतिक दायित्व एवं नैतिक उत्तरदायित्व को दरकिनार नहीं करता है। इस महामारी में वैयक्तिक नैतिक निर्णय एवं नैतिक दायित्व की जगह परिणामवादी दृष्टि को Solidarity के सिद्धांत ने महत्वपूर्ण शक्ति प्रदान की। Solidarity (ऐक्यभाव) वह सिद्धांत था जो परिणाम एवं उद्देश्यों की समानता के आधार पर एक वर्ग का दूसरे वर्ग के समर्थन के लिए आगे आना है। इस तरह परिणाम वैयक्तिक रूप से गौण थी, Solidarity सिद्धांत अनुप्राणित थी और सामूहिक थी जिसमें वैयक्तिक योगदान भी शामिल था।

परिणामवादी नैतिकता जब निर्णय के क्रम में कुछ लोगों के जीवन बचाने के सिद्धान्तों का परित्याग करने की बात करता है वहाँ इस सिद्धांत की कमी भी चिन्हित की गयी। काष प्रबंधकीय नैतीकता की तैयारी कुछ इस तरह की हो पाती जिसमें आवंटन का निर्णय कम से कम जीवन के परित्याग के लिए बाध्यकारी नहीं होता। तो अधिक नैतिक होता।

इस कालखंड में सुखवादी परिणामवादी उपयोगितावाद से आगे जाकर गैर सुखवादी परिणामवादी उपयोगितावाद को भी अत्यंत महत्व दिया गया। बेंथम, मिल, सिजविक के सुखवादी परिणामवादी की जगह मूर, रैशडल के गैर सुखवादी परिणामवाद को भी ध्यान में रखा गया। सिजविक के तीन सिद्धांत–विवकेशीलता, दूरदर्शिता एवं न्यायशीलता का विचार भी प्रयोग में लाया गया।

इस काल में नैतिक एकत्ववाद (Ethical Monism) 'केवल सुख शुभ है', की जगह पर नैतिक अनेकत्वाद (Ethical Pluralism) रैशडल जैसे विचारों का प्रभाव (सुख के अलावा भी अन्य चीज शुभ होती है) चिन्हित किया जा सका।

अतः ऐसा कहा जा सकता है कि आज नैतिकता को लेकर परिणामवादी दृष्टियों को नैतिक–निर्णय, नैतिक–दायित्व एवं उत्तरदायित्व की दृष्टि से बहुतायत में महत्व दिया जाने लगा है।

संदर्भ

1. https://www.who.int/publications/m/item/weekly-epidemiological-update-on-covid-19-1-june-2023
2. https://www.who.int/docs/default-source/blue-print/ethic-and-covid-19-resource-allocation-and-priority-setting. p-2
3. वही
4. वही, पृ. सं.–3
5. https://www.who.int
6. वही
7. दृष्टि The vision, डेली अपडेट्स, कोविड–19 और भारत की तैयारी / 05 मार्च 2020, पृ. सं.–01
8. वही, पृ. सं.–02
9. https://www.who.int/health-topics/coronavirus#tab=tab_3
10. वही
11. वही
12. https://www.who.int/health-topics/coronavirus#tab=tab_2
13. Mill, J.S; Utilitarianism; The Bobbs-Merillco., New York; 1957; p-10
14. सिन्ह, डॉ. जे. एन. : नीतिशास्त्र (A Manual of Ethics); जय प्रकाश एण्ड कम्पनीय मेरठ, पृ. सं.–86
15. Velasquez, M.and Rostankowski, C. (Edtd); Theory and Practic; Prentice Hall. U.S.;1985; P-107
16. उपरिवत, Mill, J.S; Utilitarianism……, P-10
17. दृष्टि The vision, एडिटोरियल (संग्रह), अप्रैल, 2020, पृ0 सं0–06
18. https://www.aajtak.in/india/story/red-orange-green-containment-zone-diffrence-corona-virus-lockdown-relaxation-1062233-2020-05-04
19. वही
20. वही
21. वही
22. श्रीवास्तव, जनक कुमारी एवं शेखर, पूर्णेन्दु, कोविड–19 एवं चिकित्सकीय नैतिकता, मध्य भारती (मानविकी एवं समाज विज्ञान की द्विभाषी शोध पत्रिका, अंक–78, जनवरी–जुन 2020), डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश), पृ. सं.–86

23. वही
24. http://www.dw.com/en/corona virus-and-ethics-act-so-that-most-pepole- servive/a-52895179
25. वही
26. उपरिवत, https://www.who.int/docs.....priority-setting, p-2
27. वही
28. उपरिवत, श्रीवास्तव, जनक कुमारी एवं शेखर, पूर्णेन्दु, कोविड–19 एवं चिकित्सकीय नैतिकता....., पृ. सं.–87
29. वही
30. वही
31. http://www.abc.net.au/news/2020-03-18/ethics-of-medical-care-ventilator-in-the-coronavirus-pendimic/12063536
32. National Ethics Advisory Committee, neac-2021, Ethics ans Equity: Resource Allocation and covid-19 (Feb.2021); Ministry of Health wellington (New Zealand) p-12
33. वही
34. उपरिवत, https://www.who.int/docs.....priority-setting, p-3
35. उपरिवत, National Ethics Advisory Committee, neac-2021, p-3
36. वही
37. वही
38. उपरिवत, https://www.who.int/docs.....priority-setting, p-4
39. https://www.aajtak.in/india /story/coronavirus-lockdown-central-goverment-scheme-economics-help-poor-farmers-woman-Jan-dhan-kishan-ujjwala-narendra-modi-tpt-1065835-2020-05-11

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

सांख्य–योग दर्शन में चेतना एवं अंतःकरण के मध्य अंतर्संबंध की समीक्षा

विनीत मिश्र *

सांख्य एवं योग द्वैतवादी दर्शन है जिसमें पुरूष एवं प्रकृति दो नितांत भिन्न–भिन्न सत्ता है। भारतीय दर्शन में अंतःकरण की बन्धन ज्ञान एवं मोक्ष की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका होती है। अंतःकरण स्वरूपतः अचेतन है किंतु सक्रिय है जबकि पुरुष चेतन किंतु अक्रिय है। अंतः करण एक तरफ चेतना से सम्बन्धित होता है, वहीं दूसरी तरफ प्रपंचात्मक जगत से भी सम्बन्धित होता है। अंतःकरण बाह्य विषय वस्तु का प्रतिबिम्बन होता है तथा बुद्धि में ही पुरूष का भी प्रतिबिम्बन होता है। अंतःकरण इस प्रकार संज्ञान की प्रक्रिया द्वारा बाह्य जगत की प्रस्तुति पुरूष के सम्मुख करता है, पुरूष इसका भोग करते हुए बन्धन में पड़ता है एवं पुनः इसी अन्तःकरण के द्वारा पुरूष को प्रकृति से स्वयं के भेद का ज्ञान होता है और वह कैवल्य को प्राप्त करता है। सांख्य दर्शन के चेतना और अंतःकरण के अंतर्संबंध को लेकर विभिन्न व्याख्यायें की गई हैं एवं सत्ता मीमांसीय द्वैतवाद की पूर्व मान्यता की सुसंगती में ज्ञान, बंधन एवम मोक्ष की व्याख्या की गई है।

उपर्युक्त अन्तर्सम्बन्ध के विषय पर प्रस्तुत शोध पत्र में सर्वप्रथम खंड में सांख्य–योग दर्शन मे अंतःकरण एव चेतना के स्वरूप की विवेचना की गयी है। तत्पश्चात् द्वितीय खंड बुद्धि मे चेतना के प्रतिबिम्बन एवं बाह्य वस्तुओं का बुद्धि की वृत्तियों द्वारा प्रतिबिम्बन की प्रक्रिया को बताया गया है, जिसमें विन्ध्यावासिन एवं वाचस्पति मिश्र के मत् की समीक्षा की गयी है। तृतीय खण्ड विज्ञानभिक्षु द्वारा अन्योन्य प्रतिबिम्बन के मत का प्रतिपादन, उनके द्वारा की गयी वाचस्पतिमिश्र की आलोचना एवं योग दर्शन मे अंतर्संबंधों को लेकर उनकी व्याख्या का विवरण है।

** शोध छात्र, जे.आर.एफ. (यू.जी.सी.), ई.सी.सी., दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज*

अंतिम खण्ड में के.सी. भट्टाचार्य के सांख्य एवं योग दर्शन की व्याख्या के सन्दर्भ में बुद्धि एवं चेतना के अंतःसम्बन्ध की नवीन व्याख्या की समीक्षा की गयी है, जिसमें उन्होंने बुद्धि के भावों की अवधारणा को केन्द्र में रख करके चेतना से अंतःसम्बन्धों का विवेचन किया है।

(I)

सांख्य दर्शन में व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ तीन तत्व माने गये हैं। व्यक्त के तेईस तत्वों को गिनने पर कुल पचीस तत्वों की विवेचना की गयी है। प्रकृति 'अव्यक्त' है, क्योंकि सत्व, रज और तम की साम्यावस्था है। जिस समय प्रकृति में अव्यक्त रूप से स्थित जीवों के पूर्वज–कर्म विपाकोन्मुख होते हैं, उस समय प्रकृति और पुरूष के बीच एक विशेष सम्बन्ध स्थापित होता है, जिसके कारण प्रकृति चेतनात्मक होकर सर्ग का प्रवर्तन करती है।[1] सर्ग को हम दो रूपों में देखते हैं प्रथम–प्रत्यय सर्ग या बृद्धि सर्ग, द्वितीय–भौतिक सर्ग। प्रत्यय सर्ग में महत् (बुद्धि) अहंकार एवं मन तथा पांच ज्ञानेदिय, पांच कमेंद्रियां होती हैं। पंच तन्मात्रा, पंच महाभूतो तथा उनके विकारों को भौतिक सर्ग कहते हैं। प्रत्यय सर्ग के तत्व अचेतन हैं, किन्तु सक्रिय हैं, बुद्धि, अहंकार एवं मन को सम्मिलित रूप से अंतःकरण की संज्ञा दी गयी है। विषयों का आहरण कर्मेन्दियों द्वारा, धारण ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होने के बाद ही इनका प्रकाशन अंतःकरण द्वारा होता है। सांख्य योग दर्शन में चेतना स्वप्रकाशक है न कि अंतःकरण। पुरूष से विकर्णित प्रकाश ही मनस में प्रतिफलित होता है।[2] सांख्य योग दर्शन में अंतःकरण को नित्य माना गया है। अंतःकरण त्रैकालिक है जबकि बाह्य करणों का सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान से है। अंतःकरण का विनाश नहीं होता बल्कि वह प्रकृति में विलीन होती है। श्रीमद् भगवदगीता में मन को छठी इन्द्रिय माना गया है।[3]

सांख्य दर्शन के अनुसार मन अणु परिमाण वाला है तभी क्रमबद्ध रूप से सभी इन्द्रियों से संयुक्त होती है सांख्य दर्शन मे भी न्यायदर्शन की भांति ज्ञान अयौगपद्य का कारण मन का अणु परिमाण का होना है। किंतु योग दर्शन में मन को विभु माना गया है। भट्ट मीमांसाक एवं योग दार्शनिक संकोच एवं प्रसार अंतःकरण की वृत्तियों में मानते हैं। जे.एन. मोहांती का मत है कि अणुता को मन से जोड़ना आवश्यक है तभी अंतःकरण की एकता एवं ज्ञान अयौगपद्य सम्भव होगा।[4] अद्वैत वेदांत में मन को मध्यम परिमाण का माना गया है। विवरण प्रमेय संग्रह के अनुसार योग साधना द्वारा हम मन को विभु रूपी विश्वव्यापी बना सकते हैं। मन मनन की वृत्ति वाला होता है, मन की क्रिया निश्चित् वृत्ति की होने के कारण बुद्धि कहलाती है। बुद्धि का कार्य निश्चय करना है, अध्यवसाय ही बृद्धि का लक्षण है (अध्यवसायोः बुद्धिः) वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि बुद्धि के दो व्यापार माने गये हैं–वृत्ति एवं भाव, भाव को धर्म भी कहा जाता है। बुद्धि के सात्विक धर्म या भाव

हैं–धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य इसके विपरीत धर्म वाले असात्विक जो भाव हैं उसमें अज्ञान, अधर्म, अवैराग एवं अनैश्वर्य आते हैं, जो तमस धर्म सम्पन्न है।[5] बुद्धि, प्रकृति एवं पुरूष के सूक्ष्य भेद को पुरूष के सम्मुख प्रकट करती है और मोक्ष का मार्ग दिखाती है, इसीलिए बुद्धि सबसे महत्वपूर्ण अर्थात् महत मानी गयी है।[6] बुद्धि में प्रतिबिम्बित विषय के प्रति चेतना का यह भाव कि मैं ही इस विषय का अधिकारी हूँ, अहंकार है।

योगदर्शन में अंतःकरण को चित्त कहते हैं, जिसमें बुद्धि, अहंकार एवं मन तीनों आ जाते हैं। चित्त की विभिन्न अवस्थाओं को चित्त की भूमियां कहा गया है जो पांच प्रकार के हैं–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरूद्ध। जब चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है तो विषय का आकार धारण कर लेता है, जिसे वृत्ति कहते हैं। दुःखाकार एवं विषयाकार वृत्तियों को क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं एवं जो वृत्तियाँ प्रकृति–पुरूष के विवेक को विषय करती हैं और गुणाधिकार की विरोधिनी हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ है। योग दर्शन में अहंकार को अस्मिता कहा गया है, दृक्शक्ति एवं दर्शन शक्ति का एक जैसा भान होना अस्मिता है। चित्त की पांच वृत्तियाँ भी बतायी गयी हैं, जिनमें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति आती हैं। यहां चित्त अद्वैव वेदांत की चित्त की अवधारणा से भिन्न है। अद्वैत वेदांत में चित्त को स्मरण कार्य करने वाला बताया गया है। वेदांत परिभाषाकार कहते हैं कि चित्त एवम बुद्धि को एक में ही शामिल नही करना चाहिए क्योंकि चित्त की विषय वस्तु अतीत से संबंधित है जबकि बुद्धि का संबंध वर्तमान से है जैसा कि हमने देखा है अंतःकरण का कार्य विषय प्रकाशन का होता है जो प्रकाशवान तभी होती है जब पुरूष उसमें प्रतिबिम्बित होता है, प्रतिबिम्बन से अहंकार होता है, अहंकार से बन्धन एवं योग अभ्यास से चित्त वृत्ति निरोध द्वारा अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सांख्य एवं योग दर्शन में पुरूष वह 'ज्ञ' तत्व है जिसके कारण मनुष्य को अपने अस्तित्व का आभास होता है, जिस सत्ता की प्रेरणा से उसकी बुद्धि, मन तथा इन्द्रियां विषयों की ओर प्रेरित होती हैं। पुरूष अनादि तत्व है, त्रिगुणातीत है, चौतन्वत् है। यह न तो विषय है न विषयी ना ही कर्मफल का भोक्ता है, विषयत्व, कृतत्व एवं भोक्तृत्व ये सब गुणों में होते हैं। पुरूष सभी क्रियाओं में एक मध्यस्थ के समान 'साक्षि' के रूप में वर्तमान रहता है। संगम लाल पाण्डेय के अनुसार ईश्वरकृष्ण ने अपने सांख्य में पुरूष को एक एवं सर्वव्यापी माना है, जो सांख्य दर्शन के अनेकात्मवाद के विरूद्ध है। पुरूष बहुत्व के सन्दर्भ में दी गयी युक्तियाँ बद्ध पुरूष की हैं, जो त्रेगुण्यविपर्य से युक्त, कर्म भोग आदि में लिप्त अनेक एवं प्रति शरीर भिन्न–भिन्न हैं। मुक्त पुरूष 'ज्ञ' त्रिगुणातीत, निर्लिप्त एक एवं सर्वगत है।

(II)

योग बिन्दु में हरिभद्र सूरी ने आत्मा/पुरूष से बुद्धि के सम्बन्ध को लेकर सांख्य दर्शन में प्रचलित दो मतों का उल्लेख किया है–प्रथम विन्ध्यवासिन एवं दूसरी असुरि की। विन्ध्यवासिन के अनुसार पुरूष का प्रतिबिम्ब मन में बनता है न कि बुद्धि में, बुद्धि एवं अहंकार मन के उपकरण मात्र हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने स्फटिक में प्रतिबिम्बन का रूपक प्रयोग में लाया है जिससे यह पता चलता है कि न सिर्फ मन पर चेतना के गुणों का आरोपण होता है, वरन् चेतना पर भी स्फटिक के गुणों का आरोपण होगा, किन्तु यह मूल चेतना पर न होकर प्रतिबिम्बित चेतना पर आरोपण होगा, यथा–लालिमा से युक्त स्फटिक में बिम्ब लालिमा युक्त ही बनेगी। विन्ध्यवासिन ने बुद्धि, अहंकार आदि को मन का व्यापार माना है एवं मन की वृत्यिों या व्यापारों का प्रतिबिम्बन चेतन तत्व पर नहीं माना है। असुरि प्रतिबिम्बन को उच्चस्थ भोग के सन्दर्भ में उल्लेखित करते हैं उनके अनुसार पुरूष को कैवल्य की प्राप्ति तभी होगी, जब बुद्धि स्वयं को बुद्धि को प्रतिबिम्बित आत्मन से अलग करेगी, ठीक वैसे ही जैसे जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्बन से चन्द्रमा एवं जल दोनों पृथक हैं।[7] अर्थात् यहां मुक्ति से पहले समाधि की अवस्था की चर्चा हो रही है, जैसे योग सूत्र में वर्णन आता है है चित्त से से तद्कार तब होता है, जब चित्त वृत्ति का नाश हो चुका हो और वह स्फटिक की भांति एकदम पार्दशी हो। ऐसे चित्त में ग्रहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य अर्थात् आत्मा, अंतःकरण एवं पंचभूत विषय आदि किसी का भी एकाकार हो जाता है।[8]

वाचस्पिति मिश्र के अनुसार विषयाकार बुद्धि वृत्ति 'प्रमाण' है (अयं घटः) एवं उस वृत्ति का जो पुरूष से सम्बन्ध है वह 'प्रमा' है। पुरूषवर्ती बोध ही मुख्य प्रमा है, जिसे 'पौरूषेय चित्त वृत्तिबोध' कहते हैं।[9] इसे हम पौरूषेय इसलिए कह रहे हैं क्योंकि पुरूष बुद्धि में प्रतिबिम्बित है और पुरूष एवं बुद्धि का अभेदग्रह ही इस औपचारिक कथन का हेतु है (अहम् घटं जानामि)। पुनः कारिका दस की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि बुद्धि अचेतन है, घट् अर्थात् विषय भी अचेतन है, सुख दुख आदि भी अचेतन है, जब चेतना का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है तब बुद्धि और उसके व्यापार सचेतन होते हैं।[10] वाचस्पति मिश्र ने इसे छाया भी कहा है, अनुभवकर्ता पुरूष की छाया बुद्धि में पड़ती है और वह उसका आकार ग्रहण करता है। पुरूष को ज्ञान बुद्धि में आश्रय (प्रतिबिम्बित) बनकर हो रहा है, अतः ज्ञान की क्रिया एवं ज्ञान का आश्रय दोनो अंतःकरण ही है। चेतना एवम अंतः करण में संयोग नहीं है क्योंकि ये दोनों विरोधी तत्व हैं। सन्निधि के कारण चेतना बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है और सिर्फ बुद्धि में ही प्रतिबिम्बित होती है, अन्य

प्रकृति के विकारों में नहीं इसका कारण योग्यता है। सन्निधि का कारण देश–काल नही है क्युकी शुद्ध चेतना एवं अंतः करण दोनों को सांख्य योगदर्शन में त्रैकालिका माना गया है। यहां योग्यता का अर्थ पुरूष का भोक्ता भाव (अनुपाकारिण) होना एवं प्रकृति का भोग्या (उपकारिण) होना है, यह पूरक योग्यता है, क्योंकि दोनों के गुणधर्म विरोधी है, इसीलिए यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, वरन् उसकी प्रतीति मात्र है। सतोगुण की प्रधानता के कारण बुद्धि में यह योग्यता आती है कि वह पुरूष को प्रतिबिम्बित कर सके। बुद्धि में एक तरफ विषय–वस्तु का प्रतिबिम्बन हो रहा है, दूसरी ओर आत्मन का वाचस्पति मिश्र ने बुद्धि में बनने वाले दोनों प्रतिबिम्बों में कोई सम्बन्ध नहीं माना है क्योंकि पुरूष विषय वस्तुओं को सीधे न जानकर अंतःकरण के माध्यम से जानता है ।

(III)

विज्ञानभिक्षु ने अन्योन्य प्रतिबिम्बन का मत दिया है एवं वाचस्पति मिश्र के द्वारा प्रतिबिम्बित चेतना को पौरूषेय चित्त वृत्ति मानने की आलोचना की है, विज्ञानभिक्षु ने खण्डन करते हुए कहा है कि वाचस्पति मिश्र के सिद्धांत में ज्ञान के आश्रय के रूप में अंतःकरण अवस्थित चेतना को नही माना जा सकता क्यूंकि ज्ञान शुद्ध चेतन पुरुष से संबंधित है न कि उसके प्रतिबिंब से जैसा कि हमने देखा प्रमा पौरूषेय है, पौरूषेय का अर्थ है जो पुरूष से सम्बन्धित है, यथा 'अहं घटम् जानामि' विज्ञानभिक्षु के अनुसार यह तभी सम्पन्न होगी जब बुद्धि की वृत्त्यिों पुरूष में प्रतिबिम्बन होगा, अन्यथा पुरूष स्वयं के प्रतिबिम्ब को जानने वाला होगा। विज्ञानभिक्षु के अनुसार यदि चेतना का प्रतिबिम्ब बुद्धि में न पड़े तो उसका अर्थ होगा कि चेतना स्वयं को एक विषय के रूप में प्रत्यक्षतः भास रही है। पुनः यदि बुद्धि की प्रतिति चेतना में न हो तो फिर बुद्धि ही स्वयं विषयी रूप में अपने व्यापारों की ज्ञाता हो जायेगी।[11] विज्ञानभिक्षु के अनुसार बुद्धि में बाह्य विषय एवम् चेतना का प्रतिबिंबन होता है पुनः ये सभी पुरुष में प्रतिबिंबित होते हैं और पुरुष परिवर्तनशील हुए बिना ज्ञान का आश्रय बन जाता है। संगम लाल पाण्डेय ने विज्ञानभिक्षु के मत को उल्लेखित करते हुए कहा है कि इस सिद्धांत के अनुसार जब बुद्धि वृत्ति पुरूष प्रतिबिम्ब से चेतनात्मक होती है, तब उसका पुरूष में भी आरोपण होता है, जिसके कारण पुरूष बुद्धिगत् गुणों को स्वरूप मानकर अपने वास्तविक रूप को बुद्धिगत् अनुभवों से भिन्न समझने में असमर्थ हो जाता है:, पुरूष व बुद्धि की परस्पर आरोपण से जीव में प्रमातृत्व उत्पन्न होता है।[12] विज्ञानभिक्षु के अनुसार एक ओर पुरूष बुद्धि का साक्षी है, बिना किसी माध्यम के बुद्धि की अवस्थाओं का साक्ष्य रखता है, वहीं अन्य सबका बुद्धि की सहायत

से द्रष्टा है। पुरूष अपने आप में स्वतंत्र एवं निरपेक्ष होते हुए भी बुद्धि के सम्पर्क में आता है और साक्षी बन जाता है।[13] पुनः बुद्धि के विकारों का पुरूष में प्रतिबिम्बन बंधन है, इसका हटना मोक्ष है। सुःख, दुःख आदि स्वानुभवों का कारण बुद्धि के उपार्जित प्रभाव हैं, यह प्रभाव बुद्धि एवं विषय रूप जगत की क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा होता है।

प्रमातृत्व एवं भोक्तृत्व का भाव अहंकार से संयुक्त है, किन्तु योग में अस्मिता से इसको अभिहित किया गया है। योग वार्तिक के अनुसार अस्मिता चेतना का बुद्धि में प्रतिबिंबित होना है जो कि सांख्य दर्शन में वर्णित अहंकार के अनुरूप ही है सांख्य दर्शन में जिसका कारण अविद्या यानि प्रमा का आभाव है, जबकि योग में इसे ज्ञानांतरम् कहते हैं। अहम्बुद्धि ही अस्मिता है (समान्यतो अहम्बुद्धिः) पुरूष न केवल अपने आप में और बुद्धि में भेद कर पाता है (भेदाभेद) बल्कि वह बुद्धि के परिणामों को भी अपना स्वरूप समझ लेता है (अन्यथाभेदाग्रहांत)। पुरूष का विषयों के साथ सीधा सम्बन्ध न होकर के विषयों के साथ तादात्म्य हुए चित्त का ज्ञान होता है।[14] चित्त को किस वस्तु का ज्ञान होगा ये वस्तु के साथ उपराग की अपेक्षा से होता है ऐसा वर्णन इसलिए कि मन विभु है । जीवात्मा अपरिवर्तनशील है अतः उसे चित्त की सभी वृत्तियां सदैव ज्ञात रहती हैं। पुरूष का सम्बन्ध एक बार या तो चित्त से होगा या विषय से होगा, दोनों से एक साथ नहीं हो सकता (यो०सू० 4.20)। अंतःकरण (चित्त) का आत्मा–कृष्टा व विषय के साथ सम्बन्ध हो जाने से ही चित्त ही भोग एवं अपवर्ग दोनों करवाता है।[15]

(IV)

स्ट्डीज इन सांख्य फिलोसॉफी में के.सी. भट्टाचार्य ने बताया कि बुद्धि का कौन सा प्रकार्य चेतना को प्रतिबिंबित करने के लिए उत्तरदायी है। बुद्धि के दो व्यापार वृत्ति एवं भाव हैं। बुद्धि के भाव वे प्रत्यय है जिनके द्वारा मानसिक सातत्त्य एवं उनमें संगति बनी रहती है जिनमें (तनमत्राओं) विषयिगत को अनुभव (क्वॉलिया) का सामर्थ्य होता है। इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषय वस्तुओं से संबद्ध होके वृत्तियां, बुद्धि के लिए प्रतिभान (अंतः प्रज्ञा) हैं। वहीं भाव बुद्धि की प्रोजेक्टिव फंक्शन में जो प्रद्दत (प्रकृति) से फोनोमेनल ऑब्जेक्ट्स की प्रस्तुति को उत्तरदायी हैं। ये कांट के दर्शन की भांति प्रत्यक्ष की सामग्री के निर्माणक तत्व (Constitutive of the object) एवं अवबोध को संभव बनाने वाले तत्व (Like the object) की तरह है। यानि फिर भावों को बाह्य विषय वस्तुओं से संबंधित होना पड़ेगा और इसलिए भट्टाचार्य जी ने बुद्धि का बाह्य वस्तु में प्रतिबिंबन मान लिया। क्वालिया तभी संभव होगी जब इसका संबंध विषयी से होगा तो फिर चेतना का प्रतिबिंबन

भावों में मान लेते हैं। चेतना का भी वृत्तियों में प्रतिबिंबन हो सकता है इसे हम विषय ही मानेंगे किंतु वस्तुओ के प्रतिबिंबन एवम चेतना के प्रतबिंब में अंतर है कि ये मात्र विकल्प (कल्पना) होती हैं। इस प्रकार के.सी. भट्टाचार्य के अनुसार–

- वृत्तियों मे बाह्य वस्तुओं का प्रतबिंबन होता है ।
- भावों का प्रतिबिंबन वृत्ति की अवबोध स्थित विषय वस्तुओं में होता है।
- चेतना का प्रतिबिंबन वृत्तियों में विषय रूप में एवं भावों में विषयी के रूप में होता है।
- विषय वस्तु के सहित बुद्धि के समस्त व्यापारो का प्रतिबिंबन शुद्ध चेतन पुरुष चेतना में होता है ।

विज्ञानभिक्षु के मत की समीक्षा में के.सी. भट्टाचार्य लिखते हैं कि वृत्ति स्वज्ञान के लिए आत्मा का आकार उसी तरह ग्रहण करती है, जिस तरह वह विषय (वस्तु) के ज्ञान के लिए वृत्तिकार होती है, अतः विपषयी 'मैं' (I) यहां पर विषय 'मैं' (me) बन जाता है, पुनः यह वृत्ति आत्मा में प्रतिबिम्बित होकर ज्ञेय बनती है। आत्म ज्ञान के रूप में हमें मन–अच्छादित,उपाधियुक्त सेल्फ एक विषय के रूप में प्राप्त होता है।[16] भट्टाचार्य जी लिखते हैं कि ''आत्मा का वृत्ति में प्रतिबिम्बन, जो विषयकृत आत्मा है, वो आत्मा नहीं है, यद्यपि कि वृत्ति में प्रयुक्त विषय–वस्तु उस वस्तु से भिन्न नहीं होती, जिसका वह प्रतिनिधित्व कर रही है तथापि वस्तु अपने प्रत्यय से भिन्न होती है।''[17] इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों प्रतिबिम्बों में भट्टाचार्य जी भेद करते हैं, एक वास्तविक प्रतिनिधित्व है जबकि दूसरा (चेतना) का प्रतिबिम्बन वास्तविक नहीं है।

अंतःकरण की द्विविध प्रक्रिया सेल्फ से सम्बन्धित है (भ्रमवष)। सेल्फ बुद्धि वृत्ति से प्रतिबिम्बित हो रहा होता है तथा स्वयं बुद्धि भावों में उसका प्रतिबिम्बन हो रहा होता है। निश्चित् भाव से कहे जाने वाले 'I know X' में I विषयी के रूप में प्रस्तुत होता है, यहां पर चेतना 'भाव' में किसी विषयी के रूप में प्रतिबिम्बित हो रही होती है। वृत्ति में आत्म तत्व का प्रतिबिम्बन उसी प्रकार सत् होगा जैसे बाह्य वस्तुओं का प्रतिबिम्बन सत् होता है इसलिए तब वह भी अर्थात् चेतना 'विषय' ही माना जायेगा, जबकि बुद्धि भावों में प्रतिबिम्बित चेतना भ्रामक उपाधिकरण है।[18] 'I am I' को भट्टाचार्य ने विश्लेषणात्मक निर्णय की श्रेणी में रखा है, ऐसे निर्णय की विषय–वस्तु (कन्टेन्ट) विषयनिष्ठ होता है एवं इसमें विश्लेषणात्मक समरूपता होती है यहा विधेय के स्थान पर आया I सेल्फ का प्रतीकिकरण है सेल्फ जिससें भिन्न होता है। विषयी बुद्धि भावों में प्रतिबिम्बित चेतना है, जबकि वृत्ति में प्रतिबिम्बित विधेय रूप में विषय है, जिसे हम

'I am me' भी कह सकते हैं। संश्लेषणात्मक निर्णय या विभेदों की समरूपता के 'I am that' रूप में होती है। विषयी का विभिन्न विधेयों या विषयगत् अवस्थाओं से समरूपता यथा मैं शरीर हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि। के.सी. भट्टाचार्य के अनुसार अस्मिता के कारण ही शुद्ध चेतन पुरूष को भ्रम होता है और जो समस्त कारण–कार्य श्रृंखला से परे था वह विभिन्न विषयनिष्ठ संकल्पनाओं से अभिहित हो जाता है। मैं यह हूँ ऐसा निश्चय जिसे सांख्य में अहंकार कहते हैं, योग दर्शन में उसी के समरूप अस्मिता प्रयुक्त हुआ है। भट्टाचार्य के अनुसार योग सूत्र में कहीं भी अहंकार शब्द का प्रयोग नही हुआ है, यह योग भाष्य 1.45 में प्रयुक्त है।[19]

निष्कर्ष

इस प्रकार हम कह सकते है कि सांख्य– योग दर्शन में हमारी अवबोध में स्थित विषय वस्तु एवं अवबोध स्थित विषयी दोनों का कारण बुद्धि है, जिसे के. सी. भट्टाचार्या ने "फेनामेनल ऑबजेक्ट" एवं "फेनोमेनल सब्जेक्ट" कहा है जो कि बुद्धि के भावो की क्रमशः प्रकृति एवं शुद्ध चेतना से अंर्तक्रिया का परिणाम है। वाचस्पति मिश्र और विध्यवासिन के प्रतिबिम्ब सिद्धान्त के बिम्ब के आश्रय में अन्तर है, विन्ध्यवासिन मन को आश्रय मान रहे हैं, जबकि वाचस्पति एवं अन्य बुद्धि को वस्तुतः विन्ध्यवासिन एक मात्र ऐसे व्याख्याकार हैं जो चेतना का प्रतिबिंबन मन में मनाते हैं। सांख्य दर्शन में बुद्धि का अर्थ मन के मनन रूपीफलित निश्चय वृत्ति ही है, इसीलिए विन्ध्यवासिन बुद्धि, अहंकार आदि को मन का व्यापार कहते हैं। विज्ञानभिक्षु के द्वारा वाचस्पति मिश्र की आलोचना में विज्ञानभिक्षु 'पौरूषेय चित्त वृत्ति' का अलग अर्थ निकालते हैं कि 'अयं घटः' रूपी प्रमाण प्रमा तभी होगा जब बुद्धि अपने विकारों सहित अपने चेतना में प्रतिबिम्बित होगी, तब 'अहम् घटम् जानामिः' प्रमा फलित होती है, किन्तु यहां योग सूत्र में वर्णित है कि दृष्टा निर्विकार होता हुआ भी बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखने वाला है। अतः यह कहना कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतना को हम शुद्ध विषयी नही मान सकते, सुसंगत प्रतित नही होता, पुनः बुद्धि में चेतना के प्रतिबिम्ब मात्र से प्रमातृत्व उत्पन्न नहीं होता, वरन् इसका कारण अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश् हैं।[20]

सांख्य दर्शन को सदसत्ख्यातिवादी माना जाता है जबकि चेतना और अंतःकरण के अंतर्सम्बन्ध में अख्यातिवाद स्थापित होता है, पुरूष एवं बुद्धि रूपी दो तत्वों में अभेद की प्रतिति का आभाव अख्यातिवाद है। इसके विपरीत योग दर्शन में अन्यथाख्यातिवाद है, क्योंकि इसमें ज्ञान के अभेद के साथ ही बुद्धि के परिणामों को अपना स्वरूप समझ लिया जाता है।[21] हमें सांख्य एवं योग दर्शन में अंतःकरण की धारणा में मन के परिमाण को लेकर अंतर एवं अहंकार की

अभिव्यक्ति में अन्तर देखने को मिलता है। योग दर्शन में अस्मिता और सांख्य की बुद्धि अवस्थित आत्मा में अन्तर यह है कि जो अतेन्द्रिय चेतना का वास्तविक प्रतिबिम्ब मानता है, जो क्लेश् के कारण है योग दर्शन मे उपराग अर्थात विलिंग की भूमिका प्रमुख हैं। के.सी. भट्टाचार्य और विज्ञानभिक्षु दोनों ने चेतना में बुद्धि का विषय विकारों सहित प्रतिबिम्बन माना है, किन्तु अन्तर यह है कि विज्ञानभिक्षु के दर्शन में जिस तरह विषयों का प्रतिबिम्बन वास्तविक है, उसी तरह चेतना का भी होगा, किन्तु के.सी. भट्टाचार्य के दर्शन में भावों में प्रतिबिम्बित चेतना 'इलूजरी इंवाडिटमेन्ट' है, जो मनस युक्त होकर स्वयं को विषयी समझता है। यहां पर विषयिगत अनुभव कैसे होता है कि चर्चा की गई है जिसे थॉमस निगल ने क्वालिया की समस्या के रुप में विवेचित करते हैं।[22] सांख्य योग दर्शन चेतना का नॉन रिडक्टिव डुआलिजम मॉडल है जिसमे चेतना और भैतिक तत्व दोनो की स्वतंत्र सत्ता को मानते हुए विषयीगत अनुभव की व्याख्या सुसंगत रूप से की जाती है।

संगम लाल पाण्डेय के अनुसार बुद्धि एवं पुरूष के मध्य सम्बन्ध रहस्यात्मक हैं, जिसे न तो वाचस्पति के सिद्धान्त व्याख्या ही कर पाते हैं न ही विज्ञानभिक्षु वरन् ये भी कहते हैं कि न्याय दर्शन आत्म–अनात्म भेद की प्रथम सीढ़ी है, सांख्य योग दर्शन में आत्म एवं अनात्म का भेद द्वितीय सीढ़ी है और यह अंततः अद्वैत वेदांत में पूर्णता को प्राप्त करती है। अद्वैत वेदांत में भी अंतःकरण एवं चेतना के अन्तर्सम्बंधों को स्थापित करके ब्रम्ह एवं जगत के नानत्व को स्थापित किया जाता है, समान तन्त्र होते हुए भी सांख्य योग दर्शन इस अन्तरसम्बन्ध से द्वैतवादी दर्शन को परिकल्पित करते हैं तो वहीं आचार्य शंकर अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। यदि समस्त जगत का प्रकाषन अंतःकरण द्वारा तभी हो सकता है है जब चेतना उसमें प्रतिबिम्बत हो, तो फिर शुद्ध चौतन्य को ही जगत का मूल क्यों न माना जाए।

संदर्भ

1. पाण्डेय, सगंम लाल (2002), भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, प्रयागराज, पृ. 230
2. सक्सेना श्रीकृष्ण, (1969), भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, पृ. 109
3. मनः षष्ठानीन्द्रियाणी–भागवत् गीता (15.7)
4. मोहांती जे.एन., (2007), भारतीय दर्शन में अंतःकरण का स्वरूप एवं कार्य, भारतीय मनोविज्ञान, सागर विश्वविद्यालय, पृ. 99

5. मिश्र वाचस्पति (1979), सांख्य तत्व कौमुदी, चौखम्बा संस्कृत संस्था, वाराणसी, का. 23 पृ. 178
6. वही, का. 36 पृ. 215
7. Qvarnsrom, Olle (2012), "Samkhya as Portrayed by Bhaviveka and Haribhadrasuri: Early buddhist and jain criticisms of samkhya epistemology and the theory of reflection," Journal of Indian Philosphy 40, no.4, P-406
8. क्षीणेवृत्तेराभिजातस्येव मर्णेग्रहितृग्रहणग्राहेषु तत्स्यतदञ्जनतासमापतिः। –यो.सू. 1.41
9. भट्टाचार्य रमाशंकर (अनु) (2010), सांख्य तत्व कौमुदी (ईश्वर कृष्ण तत्तसांख्यकारिका तथा वाचस्पति मिश्र त्ततत्वकौमुदी), मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, का. 45 पृ. 4–43
10. वही, का0 10, पृ. 91–102
11. मिश्र श्री नारायण (संपादक) (1971), योग वार्तिक खण्ड, पातञ्जलि योग दर्शनम्, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 21, 23, पृ. 6–22
12. पाण्डेय स.ल. (2002), भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, प्रयागराज, पृ. 235
13. सांख्य प्रवचन सूत्र 6: 50
14. चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकापत्तौ स्वबुद्धीसंवेदनम् – यो. सू. 4.22
15. दृष्ट–दृश्य–उपरक्तम्, चित्तम्–सर्व–अर्थम्। – यो. सू. 4.23
16. Bhattacharya, Krishnachandra (1983), Studies in Philosophy, edited by Gopinath Bhattacharya, Motilal Banarasidas, Delhi, P.191-191
17. वही, पृ. 229
18. वही, पृ. 183–184
19. वही, पृ. 223
20. दृष्टा, दृशिमात्राः, शुद्ध, अपि, प्रत्ययः अनुपश्यः ।। – यो. सू. 2.20
21. दासगुप्त, एस.एन. (1978), भारतीय दर्शन का इतिहास, राजपाल हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 2,4,5
22. Negel Thomas (1974), What is it like to be Bat? The Philosophical Review, Duke University Press, Durham NC, Vol.83, No.4, P. 435-450

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

गाँधी दर्शन में सामाजिक–कार्य की अवधारणा

प्रदीप कुमार मंडल *

सामाजिक कार्य और उसके गाँधीवादी विचारों से संबंध पर पुर्नविमर्श करना वर्तमान समय में अतिआवश्यक है। गाँधी जी की दृष्टि में सामाजिक कार्य सामाजिक पुनरोत्थान का उपकरण था। उनके नजर में इस बात का कोई मायने नहीं था कि समाज केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करे। इसलिए वे, सामाज की अच्छाई के लक्ष्य को सर्वोदय नाम देते थे और उनका मानना था कि इस लक्ष्य की प्राप्ति सामाजिक कार्य के जरिए ही संभव है। गाँधीवादी युग के बाद सामाजिक कार्य ने नई ऊँचाइयों को प्राप्त किया। हालाँकि देखा जाए तो जिन सिद्धांतों पर यह आधारित है उनकी प्रकृति अभी भी गाँधीवादी है।[1]

सामाजिक कार्य मानव जाति के अस्तित्व के तरह ही पुराना है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। सामान्य रूप से देखा जाए तो मनुष्य का समाज से अलग–थलग रह पाना संभव नहीं है। वे एक ऐसे वातावरण में आगे बढ़ते है जिसमें उसके साथ, प्रकृति और अन्य मानव जातियाँ भी मौजूद होता है। यदि हम इस उपयुक्त साधारण तथ्य का कारण ढूंढे, तो प्रश्न उठेगा कि हमें समूह की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न पर त्वरित उत्तर होगा कि समूह जिंदा रहने के लिए आवश्यक है। इसके अलावे भी प्रश्न उठता है कि समूह में ऐसा कौन सा तत्व है, जो मानव को जीवित रखने में सहायता करते है? उत्तर फिर वही होगा कि सेवा ही वह तत्व है, जो मनुष्य को जीवित रखता है। हमें अध्ययन के द्वारा स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय में भी मानव जातियाँ समूहों में रहती थी और शिकार करने जैसे कार्यों में एक–दूसरे की सहायता करती थी। जब हम सामाजिक कार्य के विषय पर चर्चा करते है तो पाते है कि यह सेवा की अवधारणा पर आधारित है जिसके बिना सामाजिक कार्य नहीं किया जा सकता।

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार*

सेवा ही सामाजिक कार्य को चिरकालीन और मनुष्य जाति के उद्‌भव जितनी पुरानी बनाती है। सामाजिक कार्य यह कई प्रकार के संगठित कार्यों का एक समूह है जिसमें ऐसे कार्य और नीतियाँ शामिल है जो आचार संहिता, सिद्धांतों और मूल्यों पर आधारित होती है। इन मूल्यों का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करना है। इस उद्देश्य का लक्ष्य यह भी है कि मानव कल्याण, आत्म संतुष्टि और सामाजिक कार्य पद्धति की प्रगति है। इसमें लोगों की सहायता इस प्रकार से की जाती है कि उसमें आत्म परिवर्तन आ सके जिससे वह हमेशा सहायता के सहारे न रहे और यह सहायता एक समय सीमा तक ही की जाए।[2] वस्तुतः यहाँ सामाजिक कार्य का मतलब लोगों को स्वयं की सहायता करने में सहायता करना है। सामाजिक कार्य अकेले अथवा समूह में, व्यक्तियों के सामाजिक क्रिया–कलापों को आगे बढ़ाने का एक कोशिश है। यह कोशिश उनके सामाजिक संबंधों पर केंद्रित कार्यों द्वारा होते है जिसमें व्यक्ति और उसके वातावरण के बीच पारस्परिक क्रिया शामिल होती है। यहाँ सामाजिक क्रिया–कलापों का अर्थ समाज की क्रमानुसार और सुव्यवस्थित क्रियाओं से है। गाँधी ने इस सामाजिक कार्य प्रणाली और सामाजिक कार्य को स्वदेशी दृष्टिकोण देने की आवश्यकता महसूस की।[3]

गाँधी और सामाजिक कार्य प्रणाली के बीच संबंध की जड़ें बहुत गहरी है। जिस कारण से सामाजिक कार्य और उनके संबंधों पर गाँधी के प्रभावों की चर्चा करना आवश्यक है और यह जानना भी आवश्यक है कि गाँधी सामाजिक कार्य को किस प्रकार से देखते थे। सामाजिक कार्य के महत्व महात्मा गाँधी के उन शब्दों से स्पष्ट है, जिसमें उन्होंने कहा था, मेरी दृष्टि में ऐसा कोई विशेष राजनीतिक क्षेत्र नहीं है, जो समाज सुधार से संबंधित न हो। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह परस्पर जुड़े है। उनका मानना था अगर समाज सुधार के कार्य को हम ईमानदारीपूर्वक से नहीं करते है, तो कोई भी राजनीतिक सुधार संभव नहीं हो सकता है।

गाँधी जी सामाजिक कार्य शब्द का उपयोग प्रथम बार 1931 में यंग इंडिया में लिखकर किए। समाज सुधार कार्य के संबंध में उनका दृष्टि राजनीतिक कार्यों से किसी भी प्रकार से कम या छोटा नहीं था। सच तो यह है कि जब गाँधी जी देखते थे कि एक सीमा के बाद उनके सामाजिक कार्य बगैर राजनीतिक कार्यों की सहायता के बिना संभव नहीं है, तभी वे राजनीतिक कार्यों की ओर मुड़ते थे और तभी तक मुड़ते थे जब तक कि वे सामाजिक कार्यों में सहायता करते थे।

हालाँकि देखा जाए तो गाँधी जी अपने लेखों एवं भाषणों में सामाजिक कार्य शब्द का उपयोग बहुत ही कम करते थे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय में सामाजिक कार्य होते नहीं थे और वे उसमें रूचि नहीं लेते थे। उन्होंने सामाजिक कार्य शब्द का उपयोग किया। अगर स्पष्ट रूप से देखा जाए तो यह जानना मुश्किल नहीं है कि उनके सामाजिक सूत्रीय निर्माण संबंधी कार्यक्रम कई मायने में सामाजिक कार्य की जैसे ही थे और यह उनके कार्यक्रमों का संगठित रूप था जिसका उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट और पूर्वनिर्धारित था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आत्म–परिवर्तन, आत्म–निर्भरता जैसे जन चेतना तथा आम जन भागीदारी का उपयोग किया गया, जो अंततोगत्वा सामाजिक परिवर्तन की तरफ बढ़ते हैं। सामाजिक कार्य संबंधी प्रणाली बहुत हद तक गाँधी की इस पहल पर आधारित है।[4]

सामाजिक कार्य संबंधों पर जब हम ऐतिहासिक अवलोकन करते है तो पाते हैं कि सामाजिक कार्य हमेशा से सामाजिक व्यवस्था का अभिन्न भाग था जिसका आधार धार्मिक रहा है, जिसने सेवा की अवधारणा को आगे बढ़ाया। यह मुख्य रूप से व्यक्तियों के स्वयं के कोशिशों पर आधारित था। सामाजिक व्यवस्था में जब बाल विवाह, विधवाओं का दमन, सती प्रथा एवं जाति व्यवस्था जैसी बुराइयाँ आई तो उसके बाद समाज सुधारकों ने आवश्यकता के आधार पर सामाजिक कार्य आरंभ किया। ये सामाजिक कार्य सामूहिक क्रिया के रूप में किए गए, जो उस समय में सामाजिक कार्य व्यवस्था का अप्रचलित ढंग था। जन–भागीदारी और लामबंदी अनेक ढंगों को अपना लेने से यह अधिक संगठित और समाज को नई दिशा देने योग्य हो गया। राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती और स्वामी विवेकानंद जैसे समाज सुधारकों ने सामाजिक क्रिया द्वारा सामाजिक कार्य पद्धति का गठन करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस पद्धति के द्वारा समाज की संरचनात्मक बुराइयों को समाप्त करने में सहायता मिली। सामाजिक कार्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन तब हुआ, जब गाँधी जी 9 जनवरी 1915 को दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटे। गाँधी जी ने अपने विचारों में प्रथम बार सामाजिक कार्य के साथ आध्यात्मिकता और नैतिकता की अवधारणा को स्पष्ट किया। उन्होंने सामाजिक कार्य को धार्मिक प्रवृत्तियों से ऊपर रखा एवं इसे आत्म–शुद्धिकरण, आत्म–निर्भरता और आम जन भागीदारी आदि से जोड़ा। इस विचार में कोई शंका नहीं कि गाँधी जी ने अकेले चलते रहने के बाद भी बड़ी संख्या में लोगों को जोड़ा जिन्होंने सामाजिक कार्य के द्वारा

सामाजिक परिवर्तन का बीड़ा उठाया। लेकिन यहाँ यह सोचनीय बात है कि उस समय तक सामाजिक कार्य एक स्वैच्छिक क्रिया थी और इस क्रिया को सामाजिक स्तर पर मान्यता प्राप्त नहीं था। सामाजिक कार्य के औपचारिक शुरूआत सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट सहायता से हुई। 1936 में सामाजिक कार्य के पहले संस्था का अवतरण हुआ जिसका नाम खुद दोराबजी ग्रैजुएट संस्था ऑफ सोशल वर्क रखा गया। 1944 में इसका नाम परिवर्तन कर टाटा इंस्टीट्यट ऑफ सोशल साईंसेज रख दिया गया।[5]

स्पष्ट रूप से समझा जाए तो बीसवीं सदी में सामाजिक कार्य की आरंभ के साथ ही एक अन्य कठिनाइयाँ भी खड़ी हुई। वह कठिनाइयाँ इस प्रकार हुआ कि सामाजिक कार्य की दो शाखाओं–स्वैच्छिक सामाजिक कार्य और पेशेवर सामाजिक कार्य के बीच अंतर को लेकर था। सामाजिक कार्य की दो शाखाएँ हो जाने के कारण से समझने की कठिनाइयाँ भी अपने–आप पैदा हो गया। स्वैच्छिक स्तर पर निर्भर सामाजिक कार्यकर्त्ता आत्म–अभिप्रेरित होते थे और गाँधीवादी कार्यकर्ताओं की श्रेणी में आते थे। दूसरी श्रेणी के सामाजिक कार्यकर्ता आर्थिक पारितोषिक के लिए कार्य करते थे एवं पेशेवरों की श्रेणी में आते थे। दोनों प्रकार के सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के बीच अंतर की इस कठिनाइयों को समाप्त करने के लिए जय प्रकाश नारायण ने कहा कि दोनों एक–दूसरे से सीख सकते है। स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता पेशेवर कार्यकर्त्ताओं से सीख सकते हैं कि लोगों से कैसे पेश आना चाहिए और पेशेवर लोग स्वैच्छिक सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से समर्पण और आत्म–अभिप्रेरणा का गुण सीख सकते है। उनका मानना था कि इसमें किसी भी प्रकार के संघर्ष की गुंजाइस नहीं होनी चाहिए क्योंकि दोनों ही प्रकार के सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का मकसद सामाजिक कल्यान एवं प्रगति का है।

गाँधीवादी ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यक्रम में निर्माण संबंधी कार्य होने के कारण से समर्पित कार्यकर्त्ताओं के एक समूह का अवतरण हुआ, जो कि पेशेवर नहीं बल्कि स्वयंसेवक थे। इसका अर्थ यह नहीं था कि गाँधी सामाजिक कार्य को संस्थागत करने के लिए प्रयासरत नहीं थे। उन्होंने अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ, गो–सेवा संघ, अखिल भारतीय चरखा संघ एवं हरिजन सेवक संघ जैसी संस्थाएँ स्थापित की। गाँधी जी का कार्य क्षेत्र बहुत ही विविधतापूर्ण एवं व्यापक था जिसमें सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र शामिल थे, इसके बावजूद गाँधी जैसे दूरदर्शी ने अनेकों संगठनात्मक संस्थाओं के द्वारा सामाजिक कोशिशो को संगठित और कारगर बनाया। गाँधी जी के द्वारा अपने जीवन के अंतिम समय में कांग्रेस

पार्टी को लोक सेवक संघ के रूप में बदलने का उनका विचार दर्शाता है कि सामाजिक कार्य उनके हृदय के नजदीक था। लेकिन उनका यह सुझाव वास्तविकता नहीं बन पाया क्योंकि सामाजिक कार्य अभी भी संक्रमण काल में है और अपनी स्वदेशी के जड़ों के लिए संघर्ष कर रहा है। इस संघर्ष की खात्मा के लिए सिर्फ एक विकल्प गाँधीवादी ही प्रदान कर सकता है। गाँधी जी ने सबसे पहले अपने विचार में समाज के अंदर जो सामाजिक कठिनाईयाँ हैं उस व्यवस्था की समझ विकसित की एवं दूर–दराज के इलाकों का भ्रमण किया और तब सामाजिक कार्य की विधि तैयार की। वैसे उनका इस विचार का तो कोई लिखित प्रमाण नहीं है लेकिन इसे उनकी सामाजिक गतिविधियों और सुधार के कोशिशों का विश्लेषण करके समझा जा सकता है। गाँधी जी पुनर्निमाण और सुधार जैसे शब्दों का ज्यादातर उपयोग करते थे। ये सभी सामाजिक कार्य के समानार्थी है। परमेश्वरी दयाल ने गाँधी जी के सामाजिक कार्य को इस प्रकार बताया है, कि गाँधी के लिए भी सामाजिक कार्य के व्यापक अर्थ थे। उसमें केवल कल्याण गतिविधियाँ ही नहीं बल्कि राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी शामिल थी।[6]

गाँधी के दर्शन में जो सर्वोदय का सिद्धांत है गाँधी के सामाजिक कार्य को महत्वपूर्ण बनाता है। भारत जैसे देश में जहाँ पर विभिन्न समूदाय के लोग रहते है, विविधता से भरे हुए अनेकों सामाजिक कार्य की एक नया उदाहरण और उसी के अनुसार नीतिशास्त्र, मूल्य एवं विधि की आवश्यकता है, जो अभी वर्तमान समय के दौर में सामाजिक समस्याओं, सामाजिक जरूरतों और सामाजिक कार्य के अनुकूल हो।

वर्तमान में सामाजिक कार्य एवं व्यवहारिकताः–

सामाजिक कार्य पद्धति के वर्तमान स्वरूप में परिवर्तन लाने के बारे में सोचने से पहले गाँधी जी और सामाजिक कार्य के बीच संबंध को जानना आवश्यक है। इस संबंध में विभिन्न समानता थी जो वर्तमान समय में सामाजिक कार्य पद्धति के गाँधीवादी ढंगों को सही साबित करते है। गाँधी जी ने मनुष्य को सामाजिक कार्य के प्रयासों के केन्द्र में रखा क्योंकि समाज में कल्याण और अच्छाई के तमाम प्रयास व्यक्ति से शुरू होते है और अंत में जाकर एक संतुष्ट जीवन के रूप में व्यक्ति तक पहुँचते हैं। गाँधी जी हमेशा मनुष्य को परिवर्तन की इकाई और परिवर्तन के माध्यम के रूप में देखते थे। उनका मानना था कि एक आत्मा–परिवर्तित मानव समाज को परिवर्तित कर सकता है। गाँधीवादी प्रयास एक मानव से प्रारंभ

होते है। सामाजिक कार्य का तरीका मानव के साथ काम करने का तरीका है। इसका उद्देश्य एक व्यक्ति को उसके कठिनाइयों से निपटने में सहायता करना है। यह सहायता उनके भीतर बदलाव लाकर भी की जा सकती है। इसी तरह से सामाजिक कार्य का व्यक्तिवादिता के विचार में भी, जो व्यक्ति के सम्मान की बात करता है, गाँधीवादी सिद्धांत की झलक दिखाई देती है। गाँधी के सिद्धांत में सदा व्यक्ति के सम्मान की बात होती है। समाज में अछूत माने जाने वाले लोगों के लिए गाँधी जी के कार्यों से यह स्पष्ट है। परमेश्वरी दयाल की शब्दों में, सामाजिक विकास का गाँधी जी का विचार व्यक्तिगत पुर्नरूद्धार के साथ आरंभ होता है। हालाँकि आधुनिक सामाजिक कार्य इस तथ्य को मानता है कि मनुष्य अपने वातावरण की देन है। यह आधारभूत तथ्य भी गाँधीवादी सामाजिक कार्य से भली प्रकार से समझ में आता है। आध्यात्मिकता, नैतिकता और अहिंसा के गाँधी के सभी विचार स्वयं पर आजमाने के लिए है। उनके इस विचार को प्रयोग में लाने वाला अंत में एक आत्म–परिवर्तित मनुष्य के रूप में उभर कर आता है, जो एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को जन्म देता है। इस अनुसार बनाई गई सर्वोदय सामाजिक व्यवस्था में सभी वांछित गुण उपलब्ध होंगे। इस प्रकार के सामाजिक व्यवस्था के नतीजे भी उतने ही लाभकारी होंगे।[7]

सामाजिक कार्य का मकसद लोगों की इस प्रकार से सहायता करना है कि वे अपनी सहायता स्वयं कर सकें। यह आत्म–निर्भरता के लक्ष्य को पाने का प्रयास करता है। आत्म–निर्भरता का सिद्धांत सभी गाँधीवादी कार्यक्रम का हिस्सा है। गाँधी जी की आत्मनिर्भर ग्राम की सोच उस पहल पर केंद्रित है जो लोगों के बीच आत्म–सहयोग की संस्कृति से उपजती है। गाँधी जी ने अपने व्रत विचार में शारीरिक श्रम को एक व्रत के रूप में माना है जिसमें रोटी के लिए शारीरिक श्रम के महत्व को समझाया जो मनुष्यों के हिसाब से घट–बढ़ सकती है लेकिन यह आत्म–निर्भरता की अवधारणा से सीधे तौर पर संबंधित है और भी एक अन्य महत्वपूर्ण समान तत्व जो व्यवहारिक है और जिसे सामाजिक कार्यकर्त्ता स्वीकार करते है, वह है स्वदेशी संसाधनों का उपयोग। एक कुशल सामाजिक कार्यकर्त्ता उपलब्ध स्वदेशी संसाधनों को उपयोग में लाएगा। वह एक समूह बनाएगा और गाँधीवादी ढंग से न्युनतम उपलब्ध संसाधनों का अधिक उपयोग करेगा। गाँधी जी ने सदा स्वदेशी संसाधनों के उपयोग का समर्थन किया चाहे वे प्रकृति से प्राप्त करके हो या स्वदेशी उत्पादों का उपयोग करके। स्वदेशी व्रत विचार के पीछे उनका सोच था कि ये अपने दम पर लंबे समय तक टिके रह सकते थे। वर्तमान

सामाजिक कार्य प्रणाली भागीदारी के सिद्धांत पर काम करती है। सामाजिक कार्यकर्त्ता आज जन–भागीदारी के द्वारा अपनी पहुँच को अधिक करते है। इस विचार को गाँधी जी ने बहुत पहले ही समझ लिया था कि अपने कोशिशों को सफल बनाने के लिए लोगों की भागीदारी आवश्यक है। विकासात्मक कार्यों के नतीजे और भी अच्छा हो सकता है अगर रणनीति बनाते समय लोगों की भागीदारी हो। वर्तमान के सामाजिक कार्यकर्त्ता गाँधी के विचारों से बहुत कुछ सीख सकते है। वे उनके द्वारा बताये गए विचार को सामाजिक कार्य में व्यवहार करके इसके स्वदेशी आधार को मजबूत कर सकते है। सामाजिक कार्य के सिद्धांत को समान तत्व तथा सामाजिक कार्य व्यवहार में इन्हें लागू करने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए जिससे एक नया वैचारिक आधार विकसित हो सके जिसकी अब तक अनदेखी की जाती रही है। यदि सामाजिक कार्य के व्यापक पहलू को ध्यान में रखे और सामाजिक कार्य के ढंगों का विश्लेषण करें, तो गाँधीवादी प्रणाली का स्वरूप और उसकी कार्य प्रणाली स्पष्ट हो जाती है। सामुदायिक संगठन सामाजिक कार्य के अनेक विधियों में से एक है। इस विधि का मकसद समुदाय के कठिनाईयों का हल करना है। इसे गाँधीवादी कार्यों के साथ जोड़कर देखने पर, यह विश्लेषण करना कठिन नहीं है कि गाँधी का पूरा निर्माण संबंधी कार्यक्रम और कुछ नहीं बल्कि सामुदायिक संगठन ही है। निर्माण संबंधी कार्यक्रम के अंतर्गत एक प्रमुख क्षेत्र की पहचान स्वास्थ्य और स्वच्छता के रूप में की गई थी। यह समस्या वर्तमान समाज में आज भी व्याप्त है। सामाजिक कार्य की सामुदायिक संगठन की विधि ने प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों के द्वारा प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाएँ मुहैया की। यह बहुत हद तक स्पष्ट है कि गाँधीवादी विधि आज की सामाजिक कार्य पद्धति का हिस्सा है। परंतु प्रश्न यह है कि गाँधीवादी विधि वर्तमान में कितनी प्रयोग में लाई जा रही है? या फिर सामाजिक कार्य पद्धति को और वास्तविक बनाने के लिए उसमें गाँधी जी के विचारों और सिद्धांतों को शामिल किया जाए?[8]

निष्कर्ष

सही मायने में देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि गाँधी जी की विशिष्ट चिंतनधारा जैसे आध्यात्मिकता, नैतिकता, अहिंसा जो सामाजिक कार्य व्यवहार के आधार को मजबूत कर सकती है। सामाजिक कार्य सिद्धांत से नीतिशास्त्र और विधि गायब होता जा रहा है। इन्हें व्यवहार में लाने के लिए सबसे आवश्यक है इन्हें सामाजिक कार्य के पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहिए। जिस तरह से

सामाजिक कार्य बिना किसी निश्चित प्राथमिकता के चल रही है, वह सही नहीं है। इस स्थिति को और कुछ नहीं, सिर्फ गाँधीवादी विचार के द्वारा ही ठीक कर सकते है। वर्तमान समय में सामाजिक कार्य अनेकों कठिनाइयों का सामना कर रहा है। ये कठिनाइयाँ गति से हो रहे भूमंडलीकरण और उससे संबंधित कठिनाइयों की देन है। जिसके कारण इनमें अमीर और गरीब के बीच बढ़ती खाई, युवाओं का गैरजिम्मेदाराना व्यवहार और मानवाधिकार हनन जैसी समस्याएँ शामिल है। इस समस्याओं से निपटने के लिए, जिससे सामाजिक कार्यकर्त्ता जूझ रहे है, इसके लिए आवश्यक है कि उन्हें उसी तरीका से तैयार किया जाए। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पूरी सामाजिक कार्य पद्धति को समाज की हालात और समस्याओं को नजर से देखने की आवश्यकता है। वर्तमान समय में अभी भी सामाजिक कार्य को स्वयं की पहचान की तलाश है। इसमें स्वदेशी विचारधारा की कमी है। ज्यादातर विश्वविद्यालयों के सामाजिक कार्य पाठ्यक्रम उन सामाजिक समस्याओं से निपटने के लिए नाकाफी है, जिनसे सामाजिक कार्य छात्रों को वास्तविक दुनिया में दो–चार होना पड़ता है। क्लास रूम की पढ़ाई और व्यवहारिक अनुभव में काफी अंतर है। जमीनी स्थिति क्लास रूम की पढ़ाई से अक्सर अलग होती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि आज भी सामाजिक कार्य की थ्यौरी में ज्यादातर केस स्टडी जैसा उपचारात्मक तरीके की शुरूआत है। दूसरा, इस संदर्भ में प्रासंगिक गाँधी के विचारों पर आधारित खुद का ज्ञान शामिल नहीं किया गया है। गाँधी ने हमेशा अपने सामाजिक कार्य में जमीन से जुड़े अनुभवों को आधार बनाया, जिसे उन्होंने संगठन का रूप दिया और सामाजिक–आर्थिक समस्याओं पर केंद्रित किया। अतः यहाँ गाँधी जी के विचार को अनुसरण कर पढ़ाई और व्यवहारिकता में एकरूपता लाने की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम को पुनः तैयार करने की आवश्यकता है, लेकिन उससे पहले यह भी उतना ही आवश्यक है कि सामाजिक कार्य के विदेशी विचारधारा पर विश्वास करने के बजाय गाँधीवादी विचारधारा को समझें। तब जाकर के सामाजिक कार्य के स्वदेशी साहित्य को तैयार करने में अपना वास्तविक योगदान दे सकेंगे।[9]

सही मायने में अगर हम सामाजिक कार्य की विधियों को देखें, तो इसमें भी गाँधीवादी तरीके नदारद है। सत्याग्रह का गाँधीवादी ढंग सामाजिक कार्य विधि का हिस्सा बनाया जाना चाहिए। सामाजिक कार्य से संबंधित प्रत्येक व्यक्तियों को सत्याग्रह की कला समझाई जानी चाहिए, जिससे स्वयं व्यक्ति अपने अंदर सुधार लाने में सफल होगा और उनको सामाजिक कार्य में लक्ष्य समूह के

क्षमता–निर्माण करने में भी सहायता मिलेगी। गाँधी जी ने सेवा की सीख दी और इसे सामाजिक क्रियाओं के तरीकों से मिलाया। समाज सेवा और उसे करने के अहिंसात्मक गाँधीवादी ढंग अच्छी तरह समझने और सामाजिक कार्य विधि में लागु किए जाने चाहिए।

नीति और मूल्य सामाजिक कार्य व्यवहार की आधारशिलाएँ है। गाँधी जी की नैतिकता में जैसे दूसरो की सेवा, शांतिपूर्ण संबंध, समाज में सभी व्यक्ति के लिए प्रेम, सत्यता और सर्वोदय सामाजिक कार्यकर्त्ता की उन कठिन हालातों में सहायता कर सकती है, जहाँ कठोर नैतिक आचरण की आवश्यकता होती है। गाँधीवादी नीति समाज के सभी व्यक्ति के लिए जिम्मेदाराना व्यवहार की बात करती है। वे गाँव के विकास पर जोड़ देते थे इसलिए उनका मानना था कि गाँव के इलाके में जाकर काम करना सामाजिक कार्य पद्धति की मुख्य भाग होनी चाहिए क्योंकि इससे सामाजिक कार्यकर्त्ता को वास्तविकता को अच्छी तरह से समझने में सहायता मिलती है। परंतु यहाँ चिंता का विषय है कि सामाजिक कार्य पाठ्यक्रम की अधिकांश व्यवहारिक विचार शहरी इलाकों पर केंद्रित है। यहाँ से शिक्षा ग्रहण कर निकलने वाले छात्र महानगरों या शहरी क्षेत्रों में रोजगार की संभावनाएँ देखते है। सामाजिक कार्य पर चिंतन करने वाले की जबावदेही बनती है कि वह छात्रों को गाँधीवादी दर्शन के अनुसार तैयार करें।[10]

संदर्भ

1. समकालीन भारतीय चिंतक–रमेश चन्द्र सिन्हा विजय श्री, पृष्ठ संख्या–142–143
2. वर्ल्ड कोकस जून–2012, पृष्ठ संख्या–62
3. वही, पृष्ठ संख्या–66
4. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, खंड–69, पृष्ठ संख्या–225
5. यंग इंडिया खंड–13, संख्या–2, महात्मा गाँधी
6. दयाल परमेश्वरी, गाँधीयन अप्रोच टू सोशल वर्क, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, 1986, पृष्ठ संख्या–6
7. दयाल परमेश्वरी, 1986, पृष्ठ संख्या–29
8. समाजवाद से सर्वोदय की ओर, जे.पी. नारायण, पृष्ठ संख्या–29
9. महात्मा गाँधी के विचार, आर.के.प्रभु, यू.आर. राव, पृष्ठ संख्या–395
10. मंगल–प्रभात, महात्मा गाँधी, प्रकरण–9, पृष्ठ संख्या–41–42

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

अद्वैतवादी दृष्टिकोण से 'अहम्–ब्रह्मास्मि' का भाषा विश्लेषण

विकास कुमार *

इस शोध–आलेख में अद्वैतवादी दृष्टिकोण से 'अहम्–ब्रह्मास्मि' का भाषा–विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। महावाक्य वे वाक्य होते हैं, जो व्यक्ति को मुक्ति दिला सकते हैं। जबकि, वाक्य वह साधारण वाक्य है, जो प्रत्यक्ष या निहित अर्थ को प्रदर्शित करता है।[1] चार अलग–अलग उपनिषदों के चार महावाक्य हैं। 'तत्त्वमसि' का शाब्दिक अर्थ है–वह तुम हो या वह ब्रह्म तुम्हीं हो। यह महावाक्य सामवेद के छान्दोग्योपनिषद् का सूत्रवाक्य है। महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि,' का शाब्दिक अर्थ है–'मैं ब्रह्म हूँ'। 'अहम् ब्रह्मास्मि,' यजुर्वेद के बृहदारण्यक उपनिषद् का महावाक्य है।

"अयम् आत्मा ब्रह्म" का शाब्दिक अर्थ है–'यह आत्मा ही ब्रह्म है'। यह महावाक्य अथर्ववेद के माण्डूक्योपनिषद् से है।

"प्रज्ञानम् ब्रह्म" का शाब्दिक अर्थ है–'ज्ञान ही ब्रह्म है'। प्रज्ञानाम् ब्रह्म ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् का महावाक्य है। प्रज्ञानम् से तात्पर्य है– सर्वोच्च ज्ञान–परम सत्य को जान लेना।

शास्त्रीय महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' अद्वैत वेदांत में बहुत प्रचलित है। यह महावाक्य सभी उपनिषदों का सार और मुक्ति का द्वार है। वास्तव में जीवन का सार क्या है? 'मैं कौन हूँ?' क्या ब्रह्म मुझसे अलग हैं? इत्यादि गूढ़ प्रश्नों का रहस्यात्मक उत्तर है–अहं ब्रह्मास्मि। "मैं ही ब्रह्म हूँ"। ब्रह्म का अर्थ है–परमात्मा, परमेश्वर, सर्वकारण, अनादि, शुद्ध चैतन्य। ब्रह्म शब्द का तात्पर्य यहाँ कोई देवता

** शोध–छात्र (यू०जी०सी० नेट/जे०आर०एफ०), दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना*

या (ब्रह्मदेव) ब्रह्मा नहीं है। जब घड़े का निर्माण मिट्टी से होता है तब घड़े के बाहर जो स्पेस होता है वही स्पेस घड़े के अंदर भी होता है। ठीक उसी प्रकार यह जो स्पेस बाहर आकाश में है वही स्पेस शरीर के अन्दर भी है, स्पेस में कोई अंतर नहीं होता है। जैसे घड़ा बनता है और मिटता है, ठीक उसी प्रकार, शरीर बनता है और मिट जाता है।

किसी भी वाक्य का अर्थ सामान्यतः उसके वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ, दो पृथक् तरीकों से निरूपित होता है। एक वाक्य का अर्थ उसके देश, काल और संदर्भ से अलग–अलग रूपों में अभिव्यक्त होता है। कुछ वाक्यों का अर्थ अपने आप में अस्पष्ट प्रतीत होता है। वाक्यों का सपष्ट अर्थ तभी समझा जा सकता है जब उसका निरूपित अर्थ या लक्ष्यार्थ लगाया जाए।

(i) वाच्यार्थ वाक्य : हरि, घर जाओ, एक सरल वाक्य है। जिसमें कोई निहित अर्थ नहीं है। ऐसे सरल वाक्यों को 'वाच्यार्थ वाक्य' कहते हैं।[2] यदि कोई विशेष गधे की ओर इशारा करते हुए ये कहे कि 'यह गधा है'। उसके शाब्दिक अथवा वाच्यार्थ में 'गधा' है।

(ii) लक्ष्यार्थ वाक्य : कुछ वाक्यों का अर्थ उसके शाब्दिक या वाच्यार्थ में काफी अस्पष्ट होता है। ऐसे वाक्यों का स्पष्ट अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब उसका सांकेतिक अथवा निरूपित अर्थ लगाया जाए। जब कोई यही बात किसी व्यक्ति की ओर इशारा करते हुए ये कहता है कि 'यह गधा है।[3] उसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य 'एसेनाइन प्रजाति' का चार पैरों वाला जानवर है।

'जॉन शेर है'। यहाँ जॉन शेर कभी नहीं हो सकता है। अपितु, यहाँ निहित अर्थ महत्त्वपूर्ण है। जॉन शेर के समान बहादुर है। इस तरह के वाक्यों को लक्ष्यार्थ वाक्य कहा जाता है।[4]

उपरोक्त परिभाषाएँ और उदाहरण इसलिए दिये गये हैं, ताकि हम 'अहम् ब्रह्मास्मि' सूत्र में प्रयुक्त शब्दों के दो अलग–अलग पहलुओं को समझ सकें। महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' का भाषाई विश्लेषण करते समय हम इसके वास्तविक सार को समझने के लिए इसके लक्ष्यार्थ अथवा निहित अर्थ को लेंगे। वाक्य का वास्तविक अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को ठीक से समझा जाए। आचार्य शंकर ने अपनी पुस्तक 'स्वात्मनिरूपणम्' में ब्रह्म शब्द की व्याख्या करने से पहले शब्द 'मैं' की व्याख्या को अपरिहार्य माना है।

शब्द 'मैं' का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ

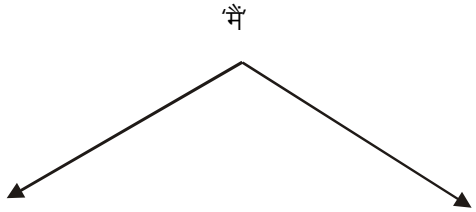

स्वात्मनिरूपणम्' के 25वें श्लोक में आचार्य शंकर ने वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ दोनों को परिभाषित किया है।

(i) शब्द 'मैं' का वाच्यार्थ : 'मैं' के शाब्दिक अर्थ में विशिष्ट आत्मा एक जटिल इकाई है। मानव शरीर मांसपेशियों, हड्डियाँ, विभिन्न संवेदी अंग, क्रिया के अंग, मन, आदि के संयोग से बना होता है जो कि शरीर को सक्रिय बनाते हैं। यहाँ, व्यक्ति में 'मैं' की भावना होती है जो कि शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि से अपनी पहचान कराती है।

आम बोल–चाल की भाषा में शब्द 'मैं' का वाच्यार्थ शरीर–मन का योग मात्र है। लेकिन इस सूक्ति में 'मैं' का यह अर्थ सही या संतोषजनक नहीं है।

"जीव सच्चिदानन्द के अवतार के अलावा और कुछ नहीं है। लेकिन चूँकि मायाबोर अहंकार ने विभिन्न उपाधियों का निर्माण किया है, इसलिए वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। ज्ञान की प्राप्ति के बाद अहंकार से छुटकारा पाया जा सकता है। ज्ञान प्राप्त होने पर व्यक्ति समाधि में चला जाता है और अहंकार गायब हो जाता है।"

इस अवस्था में आत्मा, अविद्या या अज्ञान में होती है जो उसे इस तथ्य से अनभिज्ञ बनाती है कि शरीर केवल उसका निवास स्थान है और अन्य अंग उसके उपकरण हैं। जब शरीर मोटा होता है, तो वह कहता है कि मैं मोटा हूँ। जब कर्म की इंद्रिया सक्रिय होती है, तो वह कहता है कि मैं यह करता हूँ। जब मन सक्रिय होता है, तो कहता है कि मुझे यह पसंद है, जब बुद्धि कुछ जानती है, तो वह कहता है कि मैं यह जानता हूँ। यहाँ 'मैं' का विचार या अर्थ कई कारकों से युक्त एक बहुत ही जटिल इकाई के रूप में व्यक्त होता है। मैं का सार या मूल आशय कई अन्य चीजों के साथ भ्रमित रहता है।[6]

(ii) शब्द 'मैं' का लक्ष्यार्थ : जब आत्मा स्वयं को शरीर और उसके अन्य उपकरणों से भिन्न मानती है तो इसे शब्द 'मैं' का निरूपित अर्थ या लक्ष्यार्थ कहा

जाता है। यहाँ चेतन तत्त्व अपने निवास स्थान (शरीर, मन) तथा इसके उपकरणों द्वारा की जाने वाली गतिविधियों को अपना नहीं मानता। आत्मा, शरीर और इंद्रियों से भिन्न होती है जो कि अपने स्वभाव से अचेतन, निष्क्रिय एवं परिवर्तनशील होता है। कभी–कभी शरीर और इन्द्रियाँ कुछ क्रिया करती है और कभी नहीं। यहाँ, शब्द 'मैं' का वास्तविक अर्थ उसके वाच्यार्थ से नहीं, अपितु, उसके लक्ष्यार्थ से स्पष्ट हो रहा है। मैं के वास्तविक सार को तब समझा जा सकता है जब इसका निहित अर्थ ज्ञात हो जो कि आत्म या शुद्ध आत्म है।

शब्द 'ब्रह्म' का वाच्यार्थ :

(i) शब्द 'ब्रह्म' का वाच्यार्थ :

"वेदावसानवाचा संवेद्यं सकलजगदुपादानम्।
सर्वज्ञताद्युपेतं चैतन्यं तत्पदस्य वाच्योऽर्थः।।27।।[7]

व्यवहारिक स्तर पे 'ब्रह्म' का शब्दार्थ या वाच्यार्थ ईश्वर के रूप में माना जाता है। ईश्वर, ब्रह्म का सापेक्ष पहलू भी है। इस ब्रह्माण्ड को बनाने, बनाये रखने और विघटित करने के लिए हमने ईश्वर को कुछ विशेषताओं जैसे कि सार्वभौम, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आदि के साथ जिम्मेदार ठहराया है। तर्क की सहायता से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध या असिद्ध करना असंभव है, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापी चेतन तत्त्व है जो कि इस ब्रह्माण्ड का आधार भी है और पदार्थ भी।

(ii) शब्द 'ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ :

"विविधमुक्तं विक्षतीतं विशुद्धमद्वैतम्।
अक्षरमनुभववेद्य चैतन्यं तत्पदस्य लक्ष्योऽर्थः।।28।।[8]

ब्रह्म का निरूपित अर्थ वह शुद्ध चेतन सिद्धांत है जो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, जन्म और मरण आदि के विषय से परे है। जगत् की व्याख्या करने के लिए हमने ब्रह्म को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी आदि गुणों के साथ परिपूर्ण माना है। ब्रह्म परिवर्तनहीन, शुद्ध और सजातीय इकाई है जिसे वास्तविक अनुभव के माध्यम से महसूस किया जा सकता है।

शब्द 'हूँ' का भाषाई विश्लेषण

- शंकराचार्य के अनुसार, शब्द 'हूँ', वह सहायक क्रिया है जो दो शब्दों या अवधारणाओं को पूर्ण रूप से जोड़ती है। शब्द क्रिया को होने की अवस्था को दर्शाता है।
- सहायक क्रिया 'हूँ' दो समान शब्दों 'मैं' तथा 'ब्रह्म' के बीच तादात्म्य संबंध को भी स्थापित करता है।

- अब, ये प्रश्न उठता है कि–दो शब्दों या अवधारणाओं के बीच तादात्म्य संबंध कैसे स्थापित हो सकता है? दो अलग–अलग शब्दों के समान महत्त्व या अर्थ को प्राप्त करने के लिए हमें इसके पूर्ण शाब्दिक अर्थ की उपेक्षा करनी होगी तथा इसकी विशिष्टताओं को भी नजरअंदाज करना होगा जो इन शब्दों के विभिन्न पहलुओं को दर्शाती है। शब्दों की व्याख्या की इस पद्धति को 'लक्षणा' कहते हैं।

उदाहरण के रूप में, एक हाथी को 'हस्ति' के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि अन्य चीजों को पकड़ने के लिए, लम्बे हाथ के आकार का 'सूँढ़' होता है। इसे 'द्वीप' के नाम से भी जाना जाता है जो दो बार पानी पीता है क्योंकि यह पहले अपनी सूंढ़ से पानी लेता है और फिर अपने मुँह में डालता है। यद्यपि, इन विशेष नामों को निर्दिष्ट करने के कारण बिल्कुल भिन्न है। परन्तु, वे दोनों नाम 'हाथी' को ही दर्शाते हैं और हमें इसके अन्य अर्थों को नजरअंदाज करना होगा। हमें खुद को उन महत्त्वपूर्ण अर्थों तक ही सीमित रखना चाहिए क्योंकि, ऐसा नहीं करने पर, वाक्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के बीच विरोधाभास उत्पन्न हो जाएगा। अगर शब्द 'मैं' तथा 'ब्रह्म' के पूर्ण शाब्दिक अर्थ को लिया जाए तो उन शब्दों के बीच तादात्म्य संबंध को स्थापित करना असंभव हो जाएगा।

महावाक्य 'अहम् बह्मास्मि' की व्याख्या के लिए, लक्षणा की आवश्यकताः

'अहम्' युक्त स्वात्म और अहंकार रहित स्वात्म, एक दसूरे के असंगत होते हैं। जब हम छोटी–छोटी उपलब्धियों से स्वयं पर गर्व महसूस करते हैं तो हमारा आत्म सीमित हो जाता है। आत्मा, भौतिक संसार में उलझी हुई है। यह 'आत्म स्वरूप' सत्य नहीं है जो माया का दास बना बैठा है। स्वयं की सच्ची अनुभूति तभी संभव है जब हम वेदों तथा उपनिषदों के द्वारा सिखाए गए ज्ञान से अज्ञान के बादल को दूर कर दें। आत्म विभेदीकरण या अंतर्विरोध तभी समाप्त होगा, जब हम इन दो शब्दों 'मैं' तथा 'ब्रह्म' के मूल अर्थ को समझ लें। यह केवल लक्षणा के द्वारा विवेचन से ही संभव है। अतः, महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' की व्याख्या के लिए लक्षणा अपरिहार्य हो जाता है। जहाँ दो विभिन्न समानार्थी शब्द एक दूसरे से अलग–अलग अर्थों में वर्गीकृत नहीं होंगे।

लक्षणा, शब्द की वह शक्ति है जिससे उसका अभिप्राय सूचित होता है। कभी–कभी ऐसा होता है कि शब्द के साधारण अर्थ से उसका वास्तविक अभिप्राय प्रकट नहीं होता। वास्तविक अभिप्राय उसके साधारण अर्थ से कुछ भिन्न होता है। शब्द की जिस शक्ति से उसका वह साधारण से भिन्न और दूसरा वास्तविक अर्थ प्रकट होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। अपनी रचना 'स्वात्मनिरूपणम्' में आचार्य शंकर ने लक्षणा के कुल तीन प्रकार की चर्चा की है।

(i) जहत् लक्षणा
(ii) अजहत् लक्षणा
(iii) जहदजहतीति लक्षणा

- जहत् लक्षणा क्या है और जहत् लक्षणा सूत्र वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' की व्याख्या करने में असक्षम क्यों है?

"निखिलमपि वाच्यमर्थं व्यत्तवा वृत्तिस्तदन्वितेऽन्यार्थ।
जगतीति लक्षणा स्याद्वङ्गयां घोषवदिह न ग्राह्या।।33।।"[10]

जहत् लक्षणा में शब्द के निहित अर्थ को प्राप्त करने के लिए उसके शाब्दिक अथवा प्राथमिक अर्थ को हटा दिया जाता है या अनदेखा कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए,

"महेश ने मुंबई के लिए उड़ान भरी।"

मनुष्य उड़ सकता है जो इस वाक्य का शाब्दिक अर्थ है। इस वाक्य के अप्रत्यक्ष अर्थ को प्राप्त करने के लिए इसके प्रत्यक्ष अर्थ को छोड़ना होगा। जहत् लक्षणा की बेहतर समझ के लिए एक और शास्त्रीय उदाहरण लेंगे।

"चरवाहे का गाँव गंगा पर है।"

इस वाक्य का शाब्दिक अर्थ है कि चरवाहे का गाँव गंगा नदी के प्रवाह पर स्थित है जो संभव नहीं है। यहाँ, इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि चरवाहे का गाँव गंगा नदी के तट पर स्थित है। निरूपित अर्थ, शाब्दिक अर्थ से संबंधित होना चाहिए। यह किनारा क ख ग की किसी अन्य नदी का नहीं हो सकता बल्कि इसे गंगा नदी का ही किनारा होना चाहिए। इससे यह सुस्पष्ट होता है कि जहत् लक्षणा के माध्यम से महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' के वास्तविक अर्थ को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

- अजहत् लक्षणा क्या है और अजहत् लक्षणा क्यों महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' की व्याख्या करने में असमर्थ है?

इस लक्षणा में किसी भी शब्द के प्राथमिक या शाब्दिक अर्थ को पूर्णतः स्वीकार किया जाता है। वाक्य के पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उस वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ को किसी अन्य शब्द या वस्तु से जोड़ा जाता है।

"लाल दौड़ता है।"

इस वाक्य में प्रयुक्त शब्द 'लाल' और 'दौड़ता' है। यहाँ, लाल रंग की कल्पना तब तक नहीं की जा सकती, जब तक इसके साथ कोई वस्तु न जुड़ी हो। 'दौड़ने की क्रिया' तब तक स्पष्ट नहीं होगा जब तक कि यह किसी अन्य ठोस चीज से न जुड़ी हो। इन शब्दों को बोधगम्य बनाने के लिए, हमें एक ऐसा वाक्य बनाना होगा जिसमें शब्द एक–दूसरे से सौहार्दपूर्ण ढंग से जुड़े हों और कुछ अर्थ निकालते हों। उदाहरण के रूप में,

'एक लाल घोड़ा दौड़ रहा है।'[11]

इस उदाहरण में वाक्य को सार्थक बनाने के लिए रंग 'लाल' और 'दौड़ने की क्रिया' को 'घोड़े' से जोड़ा जा रहा है। यहाँ, शब्द 'लाल' और 'दौड़ना' के शाब्दिक या अभिधा अर्थ की उपेक्षा नहीं की गयी है।

उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि अजहत् लक्षणा भी महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' के मूल अर्थ को समझाने में असमर्थ है। यदि हम 'मैं' और 'ब्रह्म' शब्दों के संपूर्ण शाब्दिक अर्थ को लें तो इसका वास्तविक सार महत्त्वहीन हो जाएगा और इसके साथ ये शब्द अपने मूल अर्थ को व्यक्त करने के लिए किसी अन्य शब्द या वस्तु की माँग नहीं करते।

- जहदजहतीति लक्षणा की क्या परिभाषा है और इसी लक्षणा को क्यों महावाक्य 'अहम् बह्मास्मि' के विश्लेषण के लिए उचित लक्षणा माना गया है?

इस लक्षणा में हमें, किसी भी शब्द के प्राथमिक या शाब्दिक अर्थ के कुछ अंश को त्यागना पड़ता है और कुछ अंश को ग्रहण करते हैं। इस व्याख्या में अनावश्यक विवरणों को त्यागकर और वाक्य में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के केवल सही पहलुओं या सार पर विचार करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार, सूत्र 'अहम् ब्रह्मास्मि' में 'मैं' को व्यक्तिगत चेतन सत्ता और ब्रह्म को सार्वभौमिक चेतन तत्त्व माना गया है। यहाँ, मैं के कुछ अनावश्यक विवरण जैसे–विषय–वस्तु द्वैत, शरीर–मन की समष्टि, इंद्रियों का आधार, बुद्धि आदि की उपेक्षा की जाती है। स्वयं की वैयक्तिकता का परित्याग किया जाता है। साथ ही, 'ब्रह्म' के भी कुछ विवरणों की भी अवहेलना की जानी चाहिए, जैसे कि, ब्रह्म के ब्राह्य पहलू, संसार के निर्माता, पालनकर्त्ता और संहारक के रूप में, ईश्वर के रूप में, आदि।

- दो पृथक शब्द, 'मैं' तथा 'ब्रह्म' के बीच तादात्म्यता का बोध कैसे किया जा सकता है?

शंकराचार्य के अनुसार, केवल जहदाजहतीति लक्षणा के माध्यम से ही महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' की वास्तविक व्याख्या की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, जब मैं बाजार में किसी ऐसे व्यक्ति से मिलता हूँ जिसे मैं पहले ही अलग–अलग स्थानों पर देख चुका हूँ और उसे देख यह कहता हूँ कि 'यह वही है'।[12]

अगर हम इस वाक्य का शाब्दिक अर्थ निकालें तो इसका कोई मतलब नहीं निकलेगा। यहाँ हमें वाक्य में उपयोग हुए शब्दों का निरूपित अर्थ निकालना चाहिए, जिसे मैं पहले ही अलग–अलग स्थान और समय पर देख चुका हूँ। वह मेरे प्रत्यक्ष मौजूद है। इस वाक्य को बोधगम्य बनाने के लिए हमें उन तथ्यों को छोड़ देना चाहिए जो वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के बीच वर्गीकरण करा सकते हों।

इस कथन में जहदजहतीति लक्षणा का उपयोग करने के उपरांत, इस वाक्य का मूल अर्थ यह होगा कि जो व्यक्ति वहाँ था, वह अब मेरे सामने मौजूद है।

इस प्रकार, महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' के दो शब्दों में 'मैं' तथा 'ब्रह्म' के बीच तादात्म्य का संबंध स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान समय में महावाक्य 'अहम् ब्रह्मस्मि' के सही अर्थ को समझने की आवश्यकता है। जरूरत यह है कि लोग इसके परम अर्थ को अपने जीवन–शैली में उतारकर, सच्ची आध्यात्मिक की अग्रसर हों, ताकि हमारा समाज नकारात्मक दृष्टिकोण को छोड़कर सुचारू, संगठित और शांतिपूर्वक तरीके से चल सके।

संदर्भ

1. स्वामी सुनिर्मलानन्द, इनसाइट्स इन टू वेदांत तत्वबोधः (चेन्नई : श्री रामकृष्ण मठ, सातवाँ संस्करण, दिसम्बर, 2019), पृ०–285.
2. वही, पृ०–288.
3. श्री स्वामी ज्ञानानंद भारती, स्वात्मनिरूपणम् (शृंगेरी, कर्नाटक : दक्षिणनामया श्री शारदा पीठम, पहला संस्करण, 1968), पृ०–22.
4. स्वामी निर्मलानन्द, इनसाइट्स इन टू वेदांत तत्वबोधः (चेन्नई : श्री रामकृष्ण मठ, सातवाँ संस्करण, दिसम्बर, 2019), पृ०–288.
5. स्वामी विवेकानन्द, द गॉस्पल ऑफ श्री रामकृष्ण (चेन्नई : श्री रामकृष्ण मठ, 2014), पृ०–169.
6. श्री स्वामी ज्ञानानंद भारती, स्वात्मनिरूपणम्, श्लोक–25, पृ०–22.
7. वही, पृ०–24.
8. वही, पृ०–25.
9. वही, पृ०–28.
10. वही, पृ०–31.
11. वही, पृ०–32.
12. वही, पृ०–34.
13. श्री ज्ञाननंद भारती स्वामीगल, विवेकचुड़ामणि (चेन्नई, श्री ज्ञाननंद भारतीय ग्रंथ प्रकाशन समिति, 2015)
14. श्री परमानन्द भारती, ब्रह्मसूत्रचतुः सूत्री शांकरभाष्यम् (वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2015)
15. स्वामी मध्वानन्द, द बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्यम् (कोलकाता, रामकृष्ण मठ प्रकाशन, सोलहवाँ संस्करण, नवंबर 2018)

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीनामसंकीर्त्तन का दार्शनिक पर्यालोचना

देबाशीष मण्डल *

श्रीचैतन्य महाप्रभु को संकीर्त्तन का पिता या स्रष्टा अथवा प्रवर्तक कहा जाता है।[1] संकीर्तन का लक्षण करते हुए श्रीपाद जीवगोस्वामीजी ने लिखा है– "संकीर्त्तनं बहुभिर्मिलित्वा तद्गानसुखं श्रीकृष्णगानम"। अर्थात अनेक व्यक्तियों द्वारा मिलकर (सुर–ताल–वाद्यादि के साथ) श्रीकृष्ण के प्रीतिजनक कृष्णकीर्तन को 'संकीर्तन' कहते हैं। उस संकीर्तन का लक्ष्य एकमात्र कृष्णप्रेम होने से उसे 'प्रेमसंकीर्त्तन' भी कहा गया है, जिसके प्रवर्त्तक हैं महाप्रभु–श्रीगौरांग। कीर्तन का अर्थ है नाम–रूप–गुण–परिकर एवं लीला–कथा का कथन–'कीर्तनम् कथनम'। साधारणतः किसी विषय में, किसी के विषय में कुछ कहना ही कीर्तन है। ऐसा कीर्तन धीमे स्वर में भी हो सकता है, उच्चस्वर में भी । सुर–ताल लय–वाद्यादि के साथ भी हो सकता है, एक व्यक्ति भी कर सकता है, अनेक व्यक्ति मिलकर भी कर सकते हैं।

श्रीनामसंकीर्त्तन

संकीर्तन उपर्युक्त कीर्तन का एक प्रकार–भेद होते हुए भी एक विशेष अर्थ रखता है– 'सम्यक्प्रकारेण देवतानामोच्चारणम् ।।' शब्दकल्पद्रुम ।। अपने इष्टदेव के नाम का सम्यक् प्रकार से उच्चारण करना ही संकीर्तन का मुख्य अर्थ है। श्री श्रीधरस्वामी ने कलि के उपास्य तथा उपासना सम्बन्धी 'कृष्णवर्ण त्विषाष्णं'[2] इत्यादि श्लोक के– 'यज्ञैः संकीर्तन प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः' में वर्णित 'संकीर्तन' – शब्द की व्याख्या में कहा है–'संकीर्तनम् नामोच्चारणम'। श्रीजीव गोस्वामिपाद ने कहा है– नामकीर्तनञ्चेदमुच्चैरेव प्रशस्तम् ।।[3] अर्थात् सम्मिलित भाव से अनेक

** शोधार्थी, दर्शनशस्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची*

व्यक्तियों द्वारा जो उच्च स्वर में नाम–कीर्तन करना है, वही नाम संकीर्तन है। श्रीसनातन गोस्वामिपाद ने उक्त भागवतीय श्लोक (11/5/32) की व्याख्या में कहा है–'एवमपि कलौ पूजातः श्रीमन्नामसंकीर्तनस्य माहात्म्यमेव सिद्धं–द्रव्यशुद्धयादेरसम्भवात् लिखतन्यायेन माहात्म्यविशेषाच्चेति दिक।।' अर्थात्– इससे सिद्ध होता है कि कलियुग में पूजा से भी श्रीनामसंकीर्त्तन का माहात्म्य अधिक है क्योंकि पूजादि के उपकरणों की शुद्धि कलियुग में असम्भव है। श्लोक में लिखित न्यायानुसार भी नामसंकीर्त्तन का महात्म्य सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि यह भगवत्प्रेम उदय करता है।

वेदों में श्रीनामसंकीर्त्तन

श्रीनाम की अशेष– विशेष महिमा वेदों में वर्णित है जिसका सर्वोत्कृष्ट फल है भगवत् – प्रेम प्राप्ति, तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसीनस्य त्रातुरवृकस्य मीलहुषः।।[4] त्रिभुवनेश्वर, जगद्रक्षक, .पालु, सर्वेच्छा–परिपूरक भगवान् विष्णु के चरित्र का मैं कीर्तन करता हूँ।

ऊँआहस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।।[5]

हे विष्णो ! आपका नाम चित्स्वरूप है, स्वप्रकाशरूप है, इसलिये आपके नाम के सम्बन्ध में किञ्चिन्मात्र जानकर केवल नाम के अक्षर मात्रों के उच्चारण के प्रभाव से भी आपकी भक्ति को प्राप्त कर सकूँगा ।

अपौरुषेय शास्त्रों अर्थात् वेदों–पुराणों में, विशेषतः समस्त वेद ब्रह्मसूत्रार्थ निर्णायक – गायत्री भाष्यस्वरूप श्रीमद्भागवत् में नाम–माहात्म्य तथा उसके प्रेम फल का बार–बार वर्णन किया गया है। केवल कलियुग का ही नहीं, समस्त युगों में श्रीनामसंकीर्त्तन को सर्वसाध्य–साधन–शिरोमणि कहकर शास्त्रों ने निरूपण किया, किन्तु इस रहस्य की ओर ध्यान तथा मनोवृत्ति को आकर्षित किया है श्रीमन्महाप्रभु ने। उन्होंने स्वयं श्रीनामसंकीर्तन का आस्वादन किया, समस्त जीव–जगत् को श्रीनामसंकीर्त्तन में प्रवृत्त कराया तथा उसके परमफल कृष्णप्रेम का भी समस्त को अनुभव कराया एवं तज्जनित परम आनन्दरस का आस्वादन कराकर कृत्कृत्य कर दिया।

युग–धर्म श्रीनामसंकीर्त्तन–

श्रीनामसंकीर्त्तन अथवा श्रीभगवन्नाम की सदा सर्वदा – हर युग में हर साधन पर सर्वतोभाव से व्याप्ति है। कर्म–योग एवं ज्ञानादि साधनों पर साहचर्य दानरूप में व्याप्ति है अर्थात् भक्ति तथा भक्ति में सर्वसाधन श्रेष्ठ श्रीनाम की सहायता के बिना कर्म – योग – ज्ञानादि अपना फल प्रदान करने में नितान्त असमर्थ हैं।

विशेषतः उक्त समस्त साधनों को किये बिना केवल श्रीनामसंकीर्त्तन द्वारा ही उनके फल या साध्य को अनायास प्राप्त किया जा सकता है । अतः श्रीनामसंकीर्त्तन

की स्वतन्त्र रूप में समस्त साधनों पर व्याप्ति है अर्थात् परिपूर्ण रूप से उन पर हावी है। श्रीनाम–माहात्म्य का वेद पुराण एवं भक्तिशास्त्रों में अनन्त निरूपण किया गया है। तो क्या वह माहात्म्य कलियुग के लिये ही निर्धारित है ? ऐसी बात नहीं है, नामी भगवान् सच्चिदानन्दघन की भाँति अभिन्न स्वरूप उनका नाम भी नित्य, सत्य एवं आनन्द स्वरूप में विराजमान् है। केवल कलियुग के लिये ही उसका अनन्त – अप्रतिम प्रभाव सीमित नहीं है। श्रीशुकदेव मुनि शिरोमणि ने कहा–

"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगीनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम" ।।[6]

हे राजन् ! जो लोग इस लोक या परलोक की किसी भी वस्तु की कामना रखते हैं, या इसके विपरीत संसार में दुःख का अनुभव करके जो लोग संसार से विरक्त हो गये हैं और निर्भय मोक्षपद को प्राप्त करना चाहते हैं, तथा जो लोग योग–सम्पन्न, सिद्ध ज्ञानी हैं – उन सबके लिये समस्त शास्त्रों का यही निर्णय है कि वे श्रीहरिनाम का प्रेम से संकीर्तन करें।

इन वचनों से स्पष्ट है कि सकाम, मुमुक्षु तथा सिद्ध योगियों के लिये उनकी अभीष्ट प्राप्ति के विषय में एकमात्र श्रीहरिनाम संकीर्तन ही निरापद साधन है। इसलिये श्रीरूपगोस्वामिपाद ने श्रद्धा को भजन के सर्वप्रथम स्तर के रूप में निर्णय किया है। किन्तु प्रा.त सत्व–रज–तम गुणवान् जीव में निर्गुणा मायातीत श्रद्धा का उद्‌भव अपने–आप नहीं हो सकता। इस कारण श्रद्धा से पूर्व सूक्ष्मरूप से किसी निर्गुण वस्तु का स्पर्श अवश्य स्वीकार्य है। अतएव श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने श्रद्धा से पूर्व निर्गुण–वस्तु साधुकृपा और साधुसेवा– इन दो स्तरों को स्वीकार किया है। साधु.पा और साधुसेवा रूप स्तर पूर्व जन्मों में भी हो सकते हैं और इस जन्म में भी हो सकते हैं। 'श्रद्धा' प्राप्ति के पश्चात् एक और ऐसे साधुसंग का प्रयोजन है जो जीव को भजन–क्रिया में प्रवृत्त करा दे। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि श्रीनामसंकीर्त्तन ही भजन का सबसे पहला स्तर है। श्रद्धा से पूर्व जिस साधुसंग रूप स्तर को कहा गया है, उस साधु में तीन वस्तुएँ होती हैं – 1. साधु स्वयं 2. उसके मुख में श्रीहरिनाम और 3. हृदय में साक्षात् श्रीहरि। अतएव सबसे पहले स्तर साधुसंग से धर्म–वृक्ष का बीज श्रीनाम ही प्राप्त किया जाता है। इसलिए सर्वादिकारण रूप में, समस्त भजन जगत् के अंगी के रूप में श्रीनाम का ही निर्देश करने पर पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित होता है। बीजधर्मी श्रीनाम से ही क्रमशः समस्त साधन–भजन का उद्‌गम होता है । श्रीनामसंकीर्तन को कलि का धर्म–विशेष कहा गया है–

"संकीर्त्तन हैते पाप संसार – नाशन।
चित्तशुद्धि सर्वभक्ति साधन उद्‌गम"।।[7]

भजन क्रिया के स्तर पर बीजधर्मी तथा अंगी श्रीनाम से जैसे श्रवण स्मरण आदि अन्यान्य भक्ति अंग प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार श्रीनाम – संकीर्तन भी एक भजन–अंग के रूप में प्रकाशित होता है। जैसे वृक्ष के कारण रूप एक वीज से कार्यरूप वृक्ष में तना, शाखा प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि के साथ–साथ असंख्य बीज भी प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार श्रीनामसंकीर्त्तन भी एक अंग के रूप में प्रकाशित होता है। शिक्षाष्ट का आरम्भ भजन क्रिया स्तर से किया गया है। इसीलिये सर्वप्रथम 'चेतोदर्पण मार्जनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्' कहा गया है। यहाँ कार्यरूप असंख्य नामों की ही बात कही गयी है । साधन–भक्तिरूप में प्रकाशित होकर श्रीकृष्ण संकीर्तन चित्तदर्पण का मार्जन कार्य आरम्भ करते है। चेतोदर्पण मार्जन से अभिप्रेत है 'अनर्थ–निवृत्ति' यद्यपि अनर्थ–निवृत्ति को भजन के चौथे स्तर के रूप में निर्दिष्ट किया गया है, तथापि इसी स्तर पर अनर्थों की निवृत्ति होती है, किन्तु आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। अनर्थ–निवृत्ति को यह प्रक्रिया निष्ठा, रुचि, आसक्ति स्तरों की सीमा पर्यन्त चलती रहती है। और भव महादावाग्नि का निर्वापणं साधन–भक्ति की चरम अवस्था आसक्ति स्तर पर पहुँचने पर ही होता है। यहाँ 'भवमहादावाग्नि निर्वापणं' वाक्य के तात्पर्य का विचार करना आवश्यक है। श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु की (1/1/13) कारिका में साधन–भक्ति को 'क्लेशघ्नी' कहा गया है । अगली (1/1/14) कारिका में 'क्लेशस्तव' वाक्य का अर्थ अविद्या का नाश कहा गया है। अतः उपर्युक्त कारिका के अनुसार 'आसक्ति' स्तर पर भवमहादावाग्नि का निर्वापण हो जाने से अविद्या का नाश हो जाता है।

भवमहादावाग्नि के निर्वापित हो जाने पर भी चित्त पूरी तरह से अपराध – शून्य, निर्धूतकषाय नहीं हो जाता। जलधारा वर्षण से दावाग्नि के निर्वापित हो जाने पर भी जैसे एक तरफ किसी कौने में एकाध अग्निकणिका रह भी सकती है, जो कुछ बिलम्ब से ही पूर्णरूपेण निर्वापित हो पाती है। उसी प्रकार पाप, पापबीज और अविद्या के, अपराधों – सहित क्षय हो जाने पर भी नामापराध–लक्षण कषाय का कोई–कोई प्रबल अंश क्षीण होते–होते भी रतिस्तर पर्यन्त रह जाता है एवं इस रति स्तर में ही निःशेषरूप से नष्ट होता है। उसके पश्चात् केवल एक ही कृष्णनाम से श्रीभगवान् में प्रेम की प्राप्ति हो जाती है–

"एक कृष्णनाम करे सर्वपापनाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश।।

प्रेमेर उदय हय प्रेमेर विकार।
स्वेद–कम्प – पुलकादि गद्गदाश्रुधार"।।[8]

आसक्ति स्तर पर भक्त का चित्त इतना परिमार्जित हो जाता है कि उस शुद्धप्राय चित्त–दर्पण में श्रीभगवान् सहसा प्रतिबिम्बित होकर आलोक्यमान् जैसे प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में श्रीनामामृत के आस्वादन में आलोड़ित भक्त की रसना प्रायः निरन्तर स्पन्दित होती रहती है।" श्री.ष्णनामसंकीर्त्तन के इस रूप में चलते–चलते भक्त के निर्मल चित्त–सरोवर में धीरे–धीरे एक अपूर्व शोभाशाली 'भावकुमुद का विकास होता है, जिसे आलोच्य श्लोक में 'श्रेयः केरव' कहा गया है। जीव के भाग्याकाश में यह घटना परम – मंगलमय है। भावोदय से बढ़कर और कोई मंगल नहीं हो सकता। इसीलिये इसे 'श्रेयः' कहा गया है एवं सौन्दर्य, माधुर्य में अतुलनीय होने के कारण इसे कुमुद की उपमा दी गयी है। यह भाव भगवान् की स्वरूपभूता सत्–चित्–आनन्द नामक शक्ति–त्रय की मुकुलित अवस्था है – इसको ही भक्ति–कल्प–लता का उत्फुल्ल प्रसून कहा गया है।

जैसे चन्द्र–ज्योत्स्नारूप सुधा–धारा के स्पर्श से कुमुद – कलिका प्रस्फुटित हो उठती है, वैसे ही श्रीनामसंकीर्त्तन रूप सुधा–धारा से सिक्त होकर भाव–रूप कुमुद – कलिका (अवशिष्ट कषायों के अपगम होने पर) भक्त के सुनिर्मल चित्त में प्रेम–कुसुम रूप में शतदलों में प्रस्फुटित हो उठती है। इसी को 'विद्या – वधू' कहा गया है। श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरायरामानन्द के मुख से विद्या का यही अर्थ कराया है–

श्रीकृष्णभक्ति विना विद्या नाहिं आर।'[9]

पुनः मुण्डक उपनिषद् के 4 श्लोक के अन्तिम चरण में आये विद्वान, शब्द का 'मुक्त–प्रग्रहा.वृत्ति' से 'प्रेमवान' अर्थ ही प्राप्त होता है। कारण श्रीगौरांग के दर्शनों के साथ–साथ प्रेम–प्राप्ति की बात कहना ही उक्त श्लोक का तात्पर्य है। अतएव आलोच्य श्लोक के 'विद्या वधू, शब्द का अर्थ है 'प्रेमधन'। प्रेम को यहाँ वधू क्यों कहा गया है, प्रेम के स्वरूप की आलोचना करने पर ही इसे समझा जा सकता है। 'प्रेम' चित्त को अतिशय स्निग्ध करता है, परमानन्द प्रदान करता है और प्रदान करता है श्रीकृष्ण के प्रति अतिशय ममत्व–भाव। प्रेम 'वधू' की भाँति कोमल स्वभाव, स्निग्ध, सेवा परायण और मधुर स्वभाव वाला है। श्रीनाम के माधुर्यास्वादन की तन्मयता में प्रेमी बाह्य जगत् को भूलकर निरन्तर श्रीकृष्ण संकीर्त्तन करता रहता है। उसकी नामादृष्ट रसना श्रीनाम संकीर्त्तन को कभी नहीं छोड़ सकती, क्योंकि कर्म, योग, ज्ञान, ध्यान, यज्ञ एवं पूजादि समस्त साधनों का फल एकमात्र श्रीकृष्ण नाम संकीर्तन से ही प्राप्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत् (11/5/32) में

विशेषतः राजा निमि के प्रति योगेश्वर करभाजन ने कहा है कि भगवत् प्राप्ति का उपाय है श्रीनामसंकीर्त्तन। श्रीगौरांगसुन्दर जिन्होंने अपने अंगस्वरूप श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु, श्रीद्वैताचार्य प्रभु तथा अपने उपांग स्वरूप, श्रीवासादि पार्षदों के साथ कलि के परमधर्म श्रीनामसंकीर्त्तन का प्रवर्तन किया। उसके लिये स्वयं भी भक्तभाव अंगीकार करके श्रीनामसंकीर्त्तन का माधुर्य आस्वादन किया और जीव–जगत् को इस सर्वश्रेष्ठ भक्ति–अंग की शिक्षा प्रदान की।

जीव का चित्त चंचल है । अतः उसमें भगवत् –स्मृति पूरी तरह जम नहीं पाती। स्थिर चित्तपूर्वक स्मृति का ही फल है। अतः स्मृति का फल पाने के लिये चित्त को संयत करने की जरूरत है । चित्त को संयत करने के लिये वागेन्द्रिय को संयत करना आवश्यक है, क्योंकि वागेन्द्रिय बाहरली और चित्तादि अन्दरूनी समस्त इन्द्रियों की चालक है। नामसंकीर्त्तन वागेन्द्रिय को संयत कर चित्त को भी संयत करता है। उच्चकीर्तन ध्वनि कीर्तनकारी के कानों (श्रवणेन्द्रिय) की संयतकर सुनने वालों का भी उद्धार करती है।

लीला – स्मरण करने वाले साधकों के लिये भी नामसंकीर्त्तन उत्तम साधन है, क्योंकि चित्तस्थिर न होने पर लीला – स्मरण सम्भव नहीं और चित्त की स्थिरता का सर्वश्रेष्ठ साधन है उच्च श्रीनामसंकीर्त्तन, एक इन्द्रिय में आविर्भूत होकर अपने माधुर्यरस से नामामृत समस्त इन्द्रियों को प्लावित कर देता है–

एकस्मिन्निन्द्रिये प्रादुर्भूतं नामामृतं रसैः।
आप्लावयति सर्वाणीन्द्रियाणि मधुरै निजैः।।[10]

श्रीहरिदास ठाकुर उच्चस्वर से ही नामकीर्तन करते थे। श्रीरूपगोस्वामिपाद ने श्रीमन्महाप्रभु के विषय में स्तवमाला में लिखा है कि वे उच्चस्वर से ही तारकब्रह्म हरिनाम (महामन्त्र) का कीर्तन करते थे–'हरेकृष्णेत्युच्चैः स्फुरितरसनः' इत्यादि। श्रीमन्महाप्रभु ने एक दिन श्रीहरिदासजी से पूछा था –

पृथिवीते बहु जीव स्थावर–जंगम।
इह सभार कि प्रकारे हइवे मोचन।।[11]

'हरिदास! पृथ्वी पर तो असंख्य जीव हैं । उनमें जो पशु–पक्षी जंगम जीव हैं और वृक्षादि स्थावर जीव हैं, उन सबका उद्धार कैसे होगा? आपामर मनुष्य जाति का तो नामद्वारा उद्धार हो जायेगा ।' तब श्रीहरिदासजी ने कहा–

"हरिदास कहे, प्रभु ! जाते कृपा तोमार ।
स्थावर जंगमेर प्रथम करियाछ निस्तार ।।
तुमि जेइ करियाछ उच्च संकीर्त्तन ।
स्थावर–जंगमेर सेइ हय त श्रवण ।।

शुनितेइ जंगमेर हय संसार क्षय ।
स्थावरे से शब्द लागे, ताते प्रतिध्वनि हय ।।
प्रतिध्वनि नहे सेइ, करये कीर्तन ।
तोमार कृपाय एइ अकथ्य – कथन ।।
सकल जगते हय उच्च संकीर्त्तन ।
शनि प्रेमावेशे नाचे स्थावर–जंगम" ।।

चैतन्य चरितामृत 3/3/63 – 67

'प्रभो! आपकी कृपा ने तो स्थावर–जंगम सब प्रकार के जीवों का पहले ही निस्तार कर दिया है । आपने जो उच्चस्वर में श्रीनामसंकीर्त्तन का प्रवर्तन किया है। उसे स्थावर और जंगम दोनों श्रवण करते हैं। मनुष्य, पशु–पक्षी जंगम जीवों का नाम सुनते ही संसार–बन्धन टूट जाता है और वृक्षादि जो स्थावर जीव हैं, उनसे जाकर जब उच्चनाम ध्वनि टकराती है, उनसे प्रतिध्वनि निकलती है। वह वास्तव में प्रतिध्वनि नहीं, वही उनका कीर्तन है। एकमात्र यह आपकी ही कृपा है कि बोल न सकने वाले स्थावर भी कृष्णनाम कीर्तन करते हैं। समस्त जगत् में जब उच्चसंकीर्त्तन होता है, उसे सुनकर स्थावर–जंगम समस्त जीव प्रेमाविष्ट होकर नाचते हैं।' अतः उच्चनाम संकीर्तन में जहाँ कीर्तनकारी का अपना निस्तार होता है, वहाँ वह दूसरे अनेक जीवों को भी हरिनाम सुनाकर निस्तार करता है।

महाप्रभु–संकीर्तित श्रीनाम –

यह बात सर्व वेद–शास्त्र सम्मत है कि श्रीभगवान् के सब नाम समान मंगलकारी हैं, तत्त्वतः सर्वशक्तिमान, समान–फलदायक हैं। फिर भी स्वाभाविक यह प्रश्न उठता है कि नाम प्रेमदानकारी कलियुगपावनावतार श्रीमन्महाप्रभु किस नाम का संकीर्त्तन करते थे ? श्रीमद्भागवत में आपके स्वरूप एवं उपासना का वर्णन करते हुए श्रीकरभाजन मुनि ने सर्वप्रथम इसी प्रश्न का उत्तर दिया है– 'कृष्णवर्णं त्विषा.ष्णं' कलि के अवतार श्रीभगवान् 'कृष्ण' का वर्णन अर्थात् कृष्णनाम – गुण लीलादि का कीर्तन करते हैं और उनकी कान्ति अकृष्ण यानि गौरवर्ण की है। राधा – भावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु के लिये श्रीकृष्णनाम–रूप–लीला गान ही प्रिय है। विशेषतः वे कृष्ण–विषयंक राधाप्रेम का, राधाप्रेम द्वारा आस्वादित कृष्णनाम रूप–लीला–माधुर्य का आस्वादन करने के लिये श्यामसुन्दर से गौरसुन्दर हुए हैं।

श्रीमहाप्रभु ने कहा–

"साध्य–साधन–तत्त्व जे किछु सकल ।
हरिनाम संकीर्त्तने मिलिवे सकल" ।।[12]

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे" ।।[13]

हे मिश्र! साध्य–साधन–तत्त्व जो कुछ सब है, वह कलियुग में हरिनाम संकीर्त्तन से प्राप्त होता है। 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।' इस श्लोक को महामन्त्र नाम से कहा जाता है। इसमें सोलह नाम और बत्तीस अक्षर हैं। यह तन्त्र अर्थात् सर्वश्रेष्ठ साधन है और सर्वार्थप्रद है। इस महामन्त्र का कीर्तन करते–करते जब तुममें प्रेमांकुर विकसित होगा, तब तुम साध्य – साधन तत्त्व को जान लोगे अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव प्राप्त करोगे।'

इससे स्पष्ट है कि श्रीमहाप्रभु ने इस महामन्त्र रूप नाम का सर्वप्रथम दान किया है श्रीतपन मिश्र को। श्रीमिश्र ने इस महामन्त्र का कीर्तनकर कृष्णप्रेम की प्राप्ति की एवं परम साध्य कृष्णसेवा का भी सौभाग्य प्राप्त किया – यह सब उनके चरित्र से जाना जाता है।

श्रीमन्महाप्रभु के अनुगत प्रियपार्षद, श्रीजीवगोस्वामी, श्रीगोपालगुरु गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदि ने तथा श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर ने इस 'हरे कृष्ण' महामन्त्र की माधुर्यमयी, ऐश्वर्यमयी तथा युगल–स्मरणमयी विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुतकर इसका अनुपम रसास्वादन किया है। उन समस्त व्याख्याओं का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है । सहज रूप में ज्ञातव्य है कि इस सोलहनामात्मक महामन्त्र में हरि, कृष्ण एवं राम इन तीन नामों का उल्लेख है । ये तीनों नाम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के ही हैं। सर्वचित्तहर होने से वे 'हरि' हैं, सर्वचित्ताकर्षक होने से वे 'कृष्ण' हैं तथा सर्वचित्तरमण (सर्वचित्त–आनन्ददायक) होने से वे 'राम' हैं । इन तीन नामों से स्वयं भगवान् श्री.ष्ण का आह्वान किया गया है। व्याख्याकारों ने 'हरे' शब्द को 'हरा' शब्द का सम्बोधन रूप निश्चित किया है। 'हरा' का अर्थ है राधा। 'कृष्ण' से राधाचित्ताकर्षक तथा 'राम' शब्द से (रमते इति रामः) रमण करने वाले अर्थात् राधारमण ही अभिप्रेत हैं ।

संन्यास ग्रहण करने के तुरन्त बाद श्रीमन्महाप्रभु का मुख्य संकीर्त्तन था – हरि बोल – हरि–हरि बोल।' वैसे तो हरि–हरि बोल की ध्वनि में ही श्रीगौरहरि का आविर्भाव हुआ और उसके बाद सर्वत्र 'हरि–बोल, हरि–बोल' ध्वनि से गौड़ मण्डल गूँज उठा था। संन्यास के बाद श्रीमहाप्रभु ने 'हरि–हरि' संकीर्त्तन करते हुए जब नृत्य आरम्भ किया, और गुरुदेव श्रीपाद केशव भारतीजी को आलिंगन किया तो वे अपने को स्थिर न रख सके । उन्होंने अपने दण्ड कमण्डल को घुमाकर दूर फेंका और प्रेमाविष्ट होकर श्रीप्रभु के साथ भुजाएं ऊँची उठा उच्च–स्वर में गद्‌गद कण्ठ पूर्वक 'हरि–हरि' नाम संकीर्तन करने लगे–

"पाक दिया दण्ड कमण्डलु दूरे फेलि।
सुकृति भारती नाचे 'हरि – हरि बलि"।।[14]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कलिपावनावतार 'श्रीनामसंकीर्त्तन के पिता' श्रीमन्महाप्रभु द्वारा संकीर्तित नाम यदि कोई था, तो वह था 'कृष्णनाम'। कृष्णनाम, कृष्णरूप–गुण–लीला के छोड़कर उनका जीवनाधार और कुछ भी ना था। श्रीमद्भागवत्कृवचन'कृष्णवर्णं की चरितार्थता प्रदर्शित करते हुए श्रीमन्महाप्रभु ने कृष्णनामामृत सिन्धु में निखिल धरणितल को प्लावित कर अपने को श्रीनामसंकीर्त्तन–पिता रूप में विभूषित किया।

श्रीनाम संकीर्त्तन परम उपाय–

श्रीकृष्णनाम संकीर्त्तन द्वारा स्वमाधुर्य का पूर्णतम आस्वादन करते हुए श्रीमन्महाप्रभु ने अन्त में प्रसन्न –चित्त होकर असंख्य गुण – गणालंकृत श्रीभगवन्नाम संकीर्त्तन को 'परम–उपाय' कहकर जीवों के प्रति दिव्य सन्देश दिया–

"प्रभु कहे, शुन स्वरूप रामराय।
नामसंकीर्त्तन कलौ परम उपाय"।।[15]

भगवत्–प्राप्ति के समस्त साधनों पर श्रीनाम की स्वतन्त्र रूप से तथा आनुषंगिक भाव से व्याप्ति है। श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीनामसंकीर्त्तन को परम–उपाय सर्वश्रेष्ठ साधन और साध्य रूप में उद्घोषित किया ।

निष्कर्षः–

महाप्रभु श्रीगौरांग ने संकीर्तन को ही जीवों का परम पुरुषार्थ इंगित कर प्राणियों को भवताप निवारणार्थ नाम–संकीर्तन का अद्भुत मंत्र दिया है जिसके आस्वादन करने का अधिकार प्रत्येक प्राणी का रूप से है जो देशकाल–पात्रादि की सीमा को पारकर किसी भी व्यक्ति को किसी भी स्थान पर किसी भी अवस्था में सहज ही प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः सत्य यह है कि संकीर्त्तन लहरी से संकीर्तनकार के मन का अहंकार विलीन हो जाता है जिससे अपने 'इष्ट' की झाँकी प्रतिबिम्बित होती है । संकीर्तन ही भेदभाव रहित सर्वप्रिय है– यही सब उपासनाओं का सार है– यही ऊँच–नीच भावना से परे सर्वोद्धारक मंत्र है जो आज हमें महाप्रभु के प्रसादरूप में प्राप्त है। संकीर्त्तन मन के शुद्धीकरण का एक सहज उपाय है जिससे भगवत् प्रेम की अलौकिक अनुभूति प्राप्त होती है। संकीर्तन ही सर्वबीज स्वरूप है।

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे"।।, इस घ्ध महामंत्र अजस्त्र गूँज में डूबा है। इधर मृदंगों पर अनेक हाथ थिरक रहे हैं–उधर झाँझ, करताल व मंजीरे भी सजीव होकर उस 'चैतन्य–नाम' को तरंगित

कर रहे हैं–फलतः समवेत जय–जयकार के मध्य एक ऐसी अनुपम व तीव्र ऊर्जा उत्पन्न होती है जो अशेष वायुमंडल को तरंगित कर जाती है और व्यष्टि मन तथा समष्टि मन में मिलकर तद्रूपता धारण कर भगवदाकार वृत्ति में बदल जाता है– यही विश्वास, यही संकीर्त्तन–निष्ठा महाप्रभु की इस युग को अमूल्य देन है।

नाम–संकीर्त्तन ही हमारी नाव है, 'नाम' ही खिवैया और नाम ही लक्ष्य है नाम ही उतरैया। इस नाम–यज्ञ में सकाम भक्तों की अभीष्ट प्राप्ति, मुमुक्षुगण की मोक्ष–प्राप्ति, योगियों की परमात्म–प्राप्ति व कर्म–ज्ञान–योगियों की स्वस्ववांछापूर्ति श्रीहरिनाम–कीर्त्तन से ही है।

सभी साधनों में संकीर्त्तन–साधन श्रेष्ठतम है क्योंकि यह अन्योन्याश्रित न होकर अन्य निरपेक्ष सिद्ध है अर्थात् इसे किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है। शुच–अशुच, मलिन–अमलिन सभी परिस्थितियों में नाम संकीर्तन ग्राह्य है और इसका सभी साधनों से तादात्म्य स्थापित है। नाम–संकीर्तन की सभी साधनों में व्याप्ति होने के कारण आज यही एक मात्र आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक उपाय है, जिसके आश्रित होकर हम सहज ही भवसागर से पार हो सकते हैं।

संदर्भ

1. चैतन्येर सृष्टि एइ प्रेमसंकीर्तन।। चैतन्य चरितामृत 2/11/86
2. श्रीमद्भागवत् 11/5/32
3. श्रीहरिभक्तिविलास, 11।241
4. ऋग्वेद 1/155/4
5. ऋग्वेद 1/156/3
6. श्रीमद्भागवत् 2/1/11
7. चैतन्य चरितामृत 3/20/10
8. चैतन्य चरितामृत 88/22/23
9. चैतन्य चरितामृत 2/8/166
10. श्रीबृहदभागवतम्, 2/3/162
11. चैतन्य चरितामृत 3/3/62
12. चैतन्य भागवत 1/10/136
13. चैतन्य भागवत 1/10/6
14. चैतन्य भागवत 3/1/13
15. चैतन्य चरितामृत 3/20/17

❑

ISSN 0974-8849
दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)
UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4
वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

सार बनाम अस्तित्व
(पश्चिमी दर्शन : प्लेटो और कीर्केगार्ड के विशेष संदर्भ में)

*हर्ष सिंह**

प्लेटो के दर्शन को विचारों के सिद्धांत या रूपों[1] के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। यह प्लेटो के तत्वमीमांसा की व्याख्या करता है। इसके अनुसार, जो वास्तव में वास्तविक है वह वस्तु नहीं है जिसका हम ऐन्द्रिक अनुभव में सामना करते हैं, बल्कि ऐसे रूप या विचार हैं जिन्हें केवल बौद्धिक रूप से समझा जा सकता है। उनका कहना है कि इंद्रिय बोध की दुनिया के उपर, विचारों या रूपों की उत्कृष्ट दुनिया है। और इस विचार/रूप से उनका तात्पर्य अवधारणात्मक वस्तु के सार में था। उदाहरण– गाय बोधात्मक वस्तु है और गाय का विचार अर्थात् गाय–पन जिसके बिना गाय नहीं होगी, इसके पीछे गाय–रूप की वास्तविक सत्ता है।

प्लेटो के अनुसार, ये विचार मॉडल, ढांचा/आर्किटेप्स और आदर्श संस्थाएँ हैं और सांसारिक वस्तुएं उनकी वफादार प्रतियां हैं। दूसरे शब्दों में, विचार सार्वभौमिक हैं जो दुनिया की वस्तुओं में पाए जाते हैं, जो विशेष हैं। वे कहते हैं:

''सार्वभौम पूरी तरह से वास्तविक है क्योंकि यह शाश्वत है; क्षणभंगुर और बदलते विशेष का केवल एक छायादार प्रकार का अस्तित्व होता है, जैसा कि यह गुजरता है और फिर ऐसा होता है जैसे कि यह कभी नहीं था।''[2]

वह यह भी कहते हैं कि विचारों की पारलौकिक दुनिया अधिक वास्तविक है और जैसे चांदनी एक व्युत्पन्न है सूर्य के प्रकाश की, इंद्रिय वस्तुओं की दुनिया विचारों की पारलौकिक दुनिया में व्युत्पन्न है। आध्यात्मिक रूप से प्लेटो दूसरी दुनिया को वास्तविक और इस दुनिया को उसकी नकल/प्रतिलिपि के रूप में इंगित करता है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारी संवेदी दुनिया में जो निहित

* *शोधार्थी, दर्शनशस्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची*

है, वह वास्तविक दुनिया (विचारों की दुनिया) की नकल मात्र है और चूंकि विचारों की दुनिया वास्तविक, पूर्ण और शाश्वत है, इसमें प्रत्येक विशेष के लिए निश्चित सार्वभौमिक गुण है।

नैतिक रूप से, यह भी इंगित करता है कि प्रत्येक विशेष के लिए मानदंडों का एक सेट है कि उन्हें कैसा होना चाहिए, एक आवश्यक विशेषता, जिसके बिना वे विवरण उस सार्वभौमिक का हिस्सा नहीं होंगे। इसलिए, प्लेटो के अनुसार सार, अस्तित्व के सामने पूर्वता और अधिक मूल्य लेता है।

जब यह उनके छात्र, अरस्तू के पास आया तो उन्होंने प्लेटो के बीइंग[3] (संवेदी अभिव्यक्तियों/वस्तुओं) की तुलना में बीइंग[4] (विचारों) पर जोर दिया, और आंशिक रूप से केन्द्र को उलट दिया। अरस्तू ने कहा था कि रूप और द्रव्य मिलकर पदार्थ का निर्माण करते हैं। अर्थात् वस्तु (पदार्थ) के बिना या उसके बाहर विचार का अस्तित्व नहीं हो सकता। इस प्रकार, उन्होंने उन्हें अविभाज्य और उनके संयोजन को पदार्थ कहा। उनके दर्शन ने कार्य–कारण सिद्धांत पर भी ध्यान केन्द्रित किया, जिससे (हमारी दुनिया) बनने पर कुछ ध्यान वापस लाया गया।

बाद में, प्लेटो की छत्रछाया में अन्य दर्शन अस्तित्व में आए। कई अन्य विचारों और संतों ने प्लेटो की जड़ों यानी विचारों की दुनिया से शाखाएं विकसित कीं। किसी न किसी तरह से, उनका मुख्य रूप से यह कहना निहित था कि स्थायी, स्वतंत्र, पूर्ण, अपरिवर्तनीय और शाश्वत वास्तविकता इस दुनिया के बाहर मौजूद है और संवेदी दुनिया एक अस्थायी, आश्रित, अपूर्ण, परिवर्तनशील और समय से चलने वाली वास्तविकता है। यह देकार्त के तर्कवादी दर्शन में परिलक्षित होता है जो इस स्वतंत्र वास्तविकता को ईश्वर कहता है। उसकी समझ में संसार और आत्मा आश्रित वास्तविकताएँ हैं।

देकार्त का अनुसरण करते हुए तथा अपने द्वैतवादी दर्शन में कुछ परिवर्तन करते हुए स्पिनोजा कहते हैं कि ईश्वर स्वयं संसार की रचना विवेकपूर्ण ढंग से करता है। वह कहते हैं, ईश्वर ही सब कुछ है, सब कुछ ईश्वर है। उन पर इंसानों की आजादी पर सवाल उठाने का भी आरोप है।

तर्कवादी दार्शनिकों के दावों का खंडन करते हुए लॉक ने अनुभववाद की अवधारणा का परिचय दिया। उनका कहना है कि इंद्रिय अनुभव ही सही ज्ञान का आधार है। फिर भी, वह पदार्थ की उत्पत्ति की व्याख्या करने में असमर्थ है। वह कहते हैं, मुझे नहीं पता कि क्या है और यह भी कहते हैं कि पदार्थ के बारे में हमारा विचार हमेशा कुछ हद तक भ्रमित रहेगा क्योंकि हम वास्तव में नहीं

जानते कि क्या है। बाद में बर्कले ने इस दर्शन को किसी भी बाहरी/सांसारिक अस्तित्व की उपस्थित का खंडन करने के लिए आगे बढ़ाया और भौतिकवाद की अवधारणा का एक साथ खंडन किया, इस प्रकार व्यक्तिपरक आदर्शवाद का परिचय दिया। अराजकता में जोड़ने के लिए, ह्यूम स्वयं के अस्तितव को नकारने और संदेह तक पहुंचने के लिए उसी विचार को आगे ले जाते हैं। कांट दोनों दुनिया, नौमेना और फेनोमेना, अज्ञात और अनजान और संवेदी दुनिया को स्वीकार करने का प्रयास करता है। वह आस्था को एक दुनिया के अस्तित्व के आधार के रूप में और तर्क को दूसरे के अस्तित्व के आधार के रूप में बताते हैं। इस प्रकार, वह अस्तित्व और इस संसार को कुछ महत्व देता है।

दिग्गज हेगेल वस्तुनिष्ठ आदर्शवाद के अपने दर्शन के साथ आते हैं जहां वे कहते हैं कि परम वास्तविकता पूर्ण, शुद्ध चेतना, सर्वोच्च आत्मा है। वह द्वंद्वात्मक विकास की अवधारणा देता है और कहा है कि वास्तविकता लगातार सामने आ रही है। बाद में, भाषाई दार्शनिकों ने चर्चा के आयाम को दुनिया से शब्द (भाषा) में मौलिक इकाई के रूप में बदल दिया। कीर्केगार्ड के आने तक विश्व दृष्टिकोण के संबंध में चिार की एक नई लहर उभरी। अब तक अन्य सभी दार्शनिकों और विचारकों का मुख्य ध्यान पारलौकिक था। वह पारलौकिक सही माना जाता था और वह दुनिया आंशिक रूप से सही मानी जाती थी। परलोक को पूर्ण, स्वतंत्र और शाश्वत माना जाता था और इस लोक को अपूर्ण, आश्रित और परिवर्तनशील माना जाता था। इसी ने इस दुनिया और इंसानों की अहमियत को कम कर दिया था। मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य दूसरी सिद्ध दुनिया की उम्मीदों पर खरा उतरना और अपने वर्तमान जीवन पर ध्यान न देकर इस दुनिया में संघर्ष करते रहना था। मुख्य विचार स्वर्ग या सर्वशक्तिमान के साथ मिलन को प्राप्त करना था। यह सब इस विचार के तहत किया गया था– सार अस्तित्व से पहले है।

गेम–चेंजर कीर्केगार्ड ने उन क्रांतिकारी शब्दों को कहा कि सत्य और अस्तित्व हमेशा सोचने से पहले होते हैं। उन्होंने कहा कि सार का हमारे अपने अस्तितव से पहले/आगे अस्तित्व होना संभव नहीं है। वह देकार्त के विचार, मैं सोचता हूँ, के गंभीर आलोचक हैं। वह कहते हैं कि किसी भी सोच के संभव होने से पहले हमें अस्तित्व में होना चाहिए। मैं, हमेशा विचार से पहले मौजूद होता हूँ। यह कहने का सही तरीका होगा कि मैं हूँ और इसलिए मुझे लगता है। इस तरह वह दार्शनिक दृष्टिकोण में क्रांतिकारी बदलाव करता है। अब तक, मुख्यधारा का विचार यह था कि सार अस्तित्व का वास्तविक पदार्थ है और अस्तित्व सिर्फ एक परिधि है, जो उतना महत्वपूर्ण नहीं है। कीर्केगार्ड ने कई तरह से साबित किया

कि अस्तित्व किसी भी चीज से पहले, सार या किसी अन्य सांसारिक इकाई से पहले आता है। क्योंकि, अगर अस्तित्व मौजूद न हीं है, तो किसी और चीज का कोई महत्व नहीं है।

लेकिन सबसे दिलचस्प मोड़ तब आता है जब कीर्केगार्ड भगवान की उपस्थिति को भी स्वीकार करता है। वह बताते हैं कि फीयर और ट्रेमब्लिंग[5] की कथा के माध्यम से एक अस्तित्वगत परिप्रेक्ष्य के साथ–साथ ईश्वर और ईश्वर की इच्छा कैसे महत्वपूर्ण है, जो अब्राहम की बाइबिल कहानी पर केंद्रित है। इब्राहीम, 80 वर्ष की आयु के बाद निःसंतान, एक पुत्र के लिए प्रार्थना करता है। परमेश्वर उसकी इच्छा पूरी करता है और इब्राहीम का पुत्र इसहाक है। तीस साल बाद, परमेश्वर ने इब्राहीम को अपने बेटे को मारने का आदेश दिया। इब्राहीम इसहाक को मारने की तैयारी करता है लेकिन आखिरी क्षण में, परमेश्वर इसहाक को बख्श देता है और इब्राहीम को इसके बदले एक मेढ़े की बलि देने की अनुमति देता है।

फीयर और ट्रेमब्लिंग में एक ही कहानी के चार अलग–अलग व्याख्या शामिल हैं, प्रत्येक एक अलग दृष्टिकोण के साथ। पहले संस्करण में, इब्राहीम ने परमेश्वर की इच्छा के अनुसार इसहाक को मारने का फैसला किया। इब्राहीम इसहाक को अश्वस्त करता है कि वह यह अपनी इच्छा से कर रहा है न कि परमेश्वर की इच्छा से। यह झूठ है लेकिन इब्राहीम खुद से कहता है कि वह इसहाक को अपने पिता में विश्वास खोने के बजाय भगवान में विश्वास खोना पसंद करेगा। दूसरे दृष्टिकोण में, इब्राहीम इसहाक के स्थान पर एक मेढ़े की बलि देता है। भले ही परमेश्वर ने इसहाक को बख्श दिया, अब्राहम का विश्वास हिल गया क्योंकि परमेश्वर ने उसे इसहाक को पहले स्थान पर मारने के लिए कहा। तीसरे संस्करण में, इब्राहीम इसहाक को नहीं मारने का फैसला करता है और फिर भगवान से प्रार्थना करता है कि वह अपने बेटे को पहले स्थान पर बलिदान करने के बारे में सोचने के लिए उसे माफ कर दे। चौथे संस्करण में, इब्राहीम इसहाक को मारने से नहीं गुजर सकता। इब्राहीम द्वारा परमेश्वर की आज्ञा को मानने से इनकार करने के कारण इसहाक अपने स्वयं के विश्वास पर सवाल उठाने लगता है। अब, कीकेगार्ड धार्मिक और नैतिक पर ध्यान केन्द्रित करते हुए अब्राहम की कहानी के अपने चार पुनर्कथनों की जांच करता है। उनका दावा है कि इसहाक की हत्या नैतिक रूप से गलत है लेकिन धार्मिक रूप से सही है।

विश्वास और इस्तीफे के बीच अंतर करने के लिए कीर्केगार्ड अब्राहम की कहानी को फिर से कहने का भी उपयोग करता है। इब्राहीम इसहाक को सिर्फ

इसलिए मारने के लिए इस्तीफा के कारण काम नहीं किया कि भगवान को हमेशा आज्ञा माननी चाहिए, बल्कि इस विश्वास के कारण कि भगवान कुछ ऐसा नहीं करेंगे जो नैतिक रूप से गलत हो। इब्राहीम जानता था कि इसहाक को मारना नैतिक रूप से गलत था, लेकिन उसे विश्वास था कि परमेश्वर उसके बेटे को बख्श देगा। इब्राहीम ने नैतिक रूप से कुछ गलत करने का फैसला किया क्योंकि ईश्वर की भलाई में विश्वास करना धार्मिक रूप से सही था। कीर्केगार्ड का दावा है कि नैतिक और धर्म के बीच तनाव अब्राहम की चिंता का कारण बनता है।

कीर्केगार्ड का तक है कि उनका ''अब्राहम की कहानी का पुनर्कथन'[6] नैतिकता के चरमकारणवाद निलंबन के महतव को प्रदर्शित करता है। चरमकारणवाद का मतलब अंत के संबंध में है। यदि कोई भूखा नहीं रहने के लक्ष्य के साथ कुछ खाता है, तो उसने एक टेलीलॉजिकल निर्णय लिया– उन्होंने खाने के द्वारा अभिनय किया, ताकि भूखे न रहने के अंत को प्राप्त किया जा सके। जब इब्राहीम इसहाक को मारने को फैसला करता है तो वह नैतिकता का चरमकारणवाद निलंबन करता है। इब्राहीम जानता है कि इसहाक को मारना अनैतिक है। हालांकि, इब्राहीम ने नैतिकता को निलंबित करने का फैसला किया– नैतिक चिंताओं को ठंडे बस्ते में डालने के लिए– क्योंकि उसे अंत (या टेलोस) की धार्मिकता पर विश्वास है जो भगवान लाएगा। इब्राहीम का विश्वास कि ईश्वर एक अनैतिक चरमकारणवाद की अनुमति नहीं देगा, उसे एक अनैतिक निर्णय लेने की अनुमति देता है। इब्राहीम धार्मिक सरोकारों को नैतिक सरोकारों से उपर रखता है, इस प्रकार वह परमेश्वर में अपने विश्वास को प्रमाणित करता है।

नैतिकता और धर्म के बीच का तनाव चिंता पैदा करता है। इब्राहीम चिंता महसूस करता है क्योंकि इसहाक को छोड़ना उसका नैतिक कर्तव्य है और इसहाक का बलिदान करना उसका धार्मिक कर्तव्य है। नैतिकता कई लोगों की भलाई के लिए है, और वे एक व्यक्ति के व्यक्तिगत सौंदर्य संबंधी सरोकारों से उपर हैं, लेकिन अब्राहम यह स्वीकार करता है कि ईश्वर के साथ उसका व्यक्तिगत संबंध नैतिकता के प्रति उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता से बढ़कर है। यदि इब्राहीम ने इसहाक को मारने की इच्छा की होती, तो यह अनैतिक और अधार्मिक दोनो होता। हालांकि, इब्राहीम इसहाक को व्यक्तिगत चुनाव कारणों या सामाजिक नैतिक कारणों से मारने का फैसला नहीं करता है। इब्राहीम ने इब्राहीम के व्यक्तिगत विश्वास के कारण इसहाक को मारने का फैसला किया कि परमेश्वर वास्तव में इसहाक को मरने नहीं देगा।

कीर्केगार्ड का मानना है कि नैतिकता समाज के लिए महत्वपूर्ण है, लेकिन केवल एक व्यक्ति ही भगवान के पास जा सकता है, और एक व्यक्ति केवल विश्वास के माध्यम से भगवना तक पहुंच सकता है। कीर्केगार्ड का तर्क है कि ईश्वर में इब्राहिम का विश्वास एक विश्वास था कि ईश्वर वास्तव में इब्राहीम को इसहाक को मारने नहीं देगा। यदि इब्राहीम को पर्याप्त विश्वास न होता, तो वह अपने पुत्र को इनकार कर देता। इब्राहीम के विश्वास ने नैतिकता के एक चरमकारणवाद निलंबन की अनुमति दी। कीर्केगार्ड इस कहानी का उपयोग दृढ़ विश्वास को दर्शाने के लिए करता है। इब्राहीम के विश्वास की परीक्षा परमेश्वर ने की थी ओर इब्राहीम ने कसौटी पर खरा उतरा। इस तरह, कीर्केगार्ड चर्च द्वारा आवश्यक अंध आज्ञाकारिता और व्यक्ति के सच्चे विश्वास के बीच अंतर करने का प्रयास करता है। कीर्केगार्ड का तर्क होगा कि यदि इब्राहीम केवल इसहाक को मारने के लिए तैयार था क्योंकि परमेश्वर ने उसे ऐसा करने का आदेश दिया था, तो यह विश्वास नहीं बल्कि आज्ञाकारिता प्रदर्शित करता। इसके बजाय, कीर्केगार्ड के पुनर्कथन का इब्राहीम अपने विश्वास के कारण इसहाक को मारने के लिए तैयार है कि परमेश्वर वास्तव में उसे इसहाक को मारने नहीं देगा। यह एक विरोधाभास या स्वाभाविक रूप से विरोधाभासी स्थिति जैसा लगता है। लेकिन कीर्केगार्ड एक ही समय में मनुष्य के अस्तित्व और पसंद और ईश्वर की इच्छा और विश्वास की सर्वोच्चता को संतुलित करने की कोशिश करता है।

प्रतीयमान विरोधाभास विश्वास और विश्वास के बीच के अंतर को उजागर करता है। इब्राहीम को विश्वास है कि परमेश्वर उसे इसहाक को मारने नहीं देगा, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह इस पर विश्वास करता है। किसी चीज पर विश्वास करने का अर्थ है उसके प्रति आश्वस्त होना; विश्वास करने के लिए इस संभावना की आवश्यकता होता है कि कोई गलत साबित होगा। इसलिए कीर्केगार्ड कहते हैं कि विश्वास को इसकी आवश्यकता नहीं है; हां, इसे सबूत को भी दुश्मन मानना चाहिए। यदि इब्राहिम को वास्तव में विश्वास था कि परमेश्वर उससे इसहाक की हत्या नहीं करवाएगा, तो बलिदान किसी प्रकार की परीक्षा नहीं होगी। हालांकि, इब्राहीम को पूरी तरह से आश्वस्त नहीं किया जा सकता है कि उसका बेटा बख्शा जाएगा। उसे विश्वास होना चाहिए कि इसहाक नहीं मरेगा, भले ही उसे विश्वास हो कि उसे मार डालना चाहिए।

कीर्केगार्ड नैतिकता के आवश्यक विरोधाभासों या प्रतीत होने वाली असंभावनाओं में से एक को दिखाता है। एक नैतिक प्रणाली में ऐसे नियम होते हैं जो लोगों के बड़े समूहों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए स्थापित किये जाते हैं।

हालांकि, कभी–कभी नियम लोगों को नुकसान पहुँचाते हैं और एक नियम का पालन करने से एक व्यक्ति की मदद हो सकती है लेकिन दस लोगों को नुकसान हो सकता है। नैतिक प्रणालियां कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बनाई गयी हैं, लेकिन मनुष्यों में भविष्य देखने की क्षमता नहीं है। इसलिए, कोई भी पूरी तरह निश्चित नहीं हो सकता है कि इन वांछित लक्ष्यों तक कैसे पहुंचा जाए। ईश्वर में विश्वास इस अनिश्चितता का उत्तर देता है क्योंकि यह भविष्यवाणी के बोझ को हटा देता है।

विश्वास में नैतिकता का चरमकारणवाद निलंबन शामिल है, जिसमें विश्वास किसी को यह विश्वास करने की अनुमति देता है कि एक अनैतिक कार्रवाई का परिणाम बेहतर अंत होगा। अकेले मनुष्य के पास इस प्रकार की जानकारी तक पहुँच नहीं है, केवल परमेश्वर के पास है। इसलिए, जब भी ऐसा करना समाज की नैतिक प्रणालियों के साथ संघर्ष करता है, तो मनुष्यों को ईश्वर पर अपना भरोसा रखना चाहिए। ऐसा करने का निर्णय चिंता पैदा करता है क्योंकि एक व्यक्ति कभी भी यह नहीं जान सकता है कि परीक्षण पूरा होने तक उसने परीक्षा पास कर ली है या नहीं। कीर्केगार्ड सोचते हैं कि चिंता एक नकारात्मक भावना है, फिर भी इसे एक सकारात्मक संकेत के रूप में लिया जा सकता है कि व्यक्ति ईश्वर के साथ सही संबंध का अनुसरण कर रहा है। इस तरह, विश्वास के माध्यम से, वह अनुभवजन्य दुनिया–दूसरी दुनिया के टकराव को मजबूत करता है।

अस्तित्वपरक पद्धति के उत्तराधिकारी सार्त्र कमान संभालते हैं। सार्त्र का प्राथमिक विचार यह है कि मनुष्य स्वतंत्र होने को अकेला छोड़ दिया गया है। सार्त्र मनुष्य की स्वतंत्रता को पूर्ण होने की घोषणा करता है और यह स्थापित करना चाहता है कि अस्तित्व सार से पहले है। उन्होंने मानव अस्तित्व की विभिन्न परतों का विश्लेषण करने के लिए हुसेरलियन परिघटना पद्धति[7] को अपनाया।

इससे उनका मतलब यह था कि, एक डिजाइन की गई वस्तु जैसे चाकू के विपरीत जिसका खाका और उद्देश्य वास्तविक भौतिक चीज पूर्व–अस्तित्व में है– मनुष्य के पास कोई पूर्व स्थापित उद्देश्य या प्रकृति नहीं है, न ही ऐसा कुछ भी जो हमें करना है या होना चाहिए। सार्त्र एक प्रबल नास्तिक थे और इसलिए उनका मानना था कि ऐसा कोई दिव्य कारीगर नहीं हो सकता जिसके दिमाग में हमारे आवश्यक गुणों की कल्पना की गयी हो। न ही उनका मानना था कि मूल्यों का कोई अन्य बाहरी स्रोत है– उदाहरण के लिए, अरस्तू के विपरीत, सार्त्र एक सामान्य मानव स्वभाव में विश्वास नहीं करते थे जो नैतिकता का स्रोत हो सकता है। प्लेटो के समय से, अनिवार्यतावाद दर्शन का निर्विवाद आदर्श था।

इसके अनुसार, सार अस्तित्व से पहले है। लेकिन सार्त्र के अनुसार अस्तित्व सार से पहले आता है।

वह यह कहकर अपने विचार को आगे बढ़ाता है कि मनुष्य को बाध्य करने वाली कोई मौलिक कानून या सिद्धांत नहीं है।

''मनुष्य स्वतंत्र होने को अकेला छोड़ दिया गया है।''[8]

इस प्रकार, मनुष्य को अपने लिए निर्णय लेना चाहिए और चुनाव करना चाहिए। यह चुनाव उनकी परम स्वतंत्रता और मनुष्य की नैतिकता की नींव है। इस चुनाव के बाद उनकी व्यक्तिगत कार्रवाई (पसंद के आधार पर) की जिम्मेदारी लेनी चाहिए। मनुष्य को विशेषाधिकार देकर, उन्होंने अस्तित्व और मानव जीवन के मूल्य को एक उच्च पद पर पहुँचाया।

सार्त्र एक नास्तिक हैं और वे कहते हैं, ''नास्तिक अस्तित्ववाद कहता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, तो कम से कम एक ऐसा अस्तित्व है जिसमें अस्तित्व सार से पहले है, एक ऐसा प्राणी जो किसी भी अवधारणा द्वारा परिभाषित किये जाने से पहले अस्तित्व में है, और यह अस्तित्व मनुष्य है।'[9] यह हमारे सामने अत्यंत विस्मय के साथ उपस्थित है कि समकालीन पश्चिमी दार्शनिकों ने कितनी खूबसूरती से इस विचार की शृंखला को तोड़ दिया कि सार महत्वपूर्ण था। उन्होंने कारण, प्रमाण, सांसारिक उदाहरणों का उपयोग यह दर्शाने के लिए किया कि अस्तित्व अन्य सभी चीजों का प्राथमिक स्रोत है। हालॉकि, यह विचार मनुष्य की कल्पनाओं में अचानक नहीं आया। यह एक विकासवादी समझ के रूप में आया–पुनर्जागरण के समय से लेकर सुधार के युग, वैज्ञानिक सोच ओर अन्वेषण के युग तक। इस पूरे समय में, दुनिया मध्ययुगीन से आधुनिक काल तक लगातार विकसित हो रही थी। और विचारक भी थे। औपनिवेशिक व्यवस्था ने साम्राज्यवाद और वाणिज्यिक क्रांति को रास्ता दिया, जिसके कारण औद्योगिक क्रांति और मानव का शोषण हुआ। यूरोप अत्यधिक आबादी वाला था, गंदगी, बीमारी और प्रदूषण से भरा हुआ था। 20वीं सदी में दो बड़े युद्धों के रूप में नई समस्याएं थीं– विश्व युद्ध जिनके कारण अकल्पनीय विनाश और अथाह क्षति हुई।

ये सभी घटनाएँ कीर्केगार्ड और सार्त्र जैसे समकालीन दार्शनिकों के मन में प्रकट हुई। उन्हों अंततः उन परेशानियों का एहसास हुआ जिनसे मानव जाति गुजरी है। और फिर वे कहते हैं, 'मैं अपने लिए और दूसरे के लिए जिम्मेदार हूँ।'[10] वे समझ गए थे कि अगर कुछ भी ठीक करना है, तो वह पृथ्वी पर मनुष्य को जीवन और अस्तित्व है। इस प्रकार, उन्होंने मानव जाति के कल्याण के लिए नैतिकता, दर्शन, कारण, नीति निर्माण, शासन आदि का ध्यान वापस लाया। यह प्रथम अन्वेषक प्लेटो और उनके सभी अनुयायियों के विचार के ठीक विपरीत है। अरस्तू, देकार्त, बर्कले, ह्यूम आदि सभी ने अस्तित्व के अलावा हर चीज पर ध्यान

केन्द्रित किया। इसने भले ही नैतिकता, धर्म, कारण आदि के लिए आधार तैयार किया हो, लेकिन आधुनिक अस्तित्ववादियों ने पृथ्वी पर मनुष्य के वास्तविक कल्याण, प्रगति और विकास का मार्ग प्रशस्त किया, जो बाद में व्यक्तिवाद, नारीवाद, अधिकार आधारित दृष्टिकोण, उपभोक्तावाद आदि में विकसित हुआ। इस प्रकार, सार और अस्तित्व दोनों महत्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं और दार्शनिक बहस के केन्द्रीय विषय हैं। अब यह निष्कर्ष निकालना पर्याप्त है कि जहां प्लेटो सार पर ध्यान केंद्रित करता है, कीर्केगार्ड का केंद्रीय विषय अस्तित्व था।

संदर्भ

1. Trans. Theory of forms
2. Trans. "The universal is fully real because it is eternal; the fleeting and changing particular has only a shadowy kind of existence, as it passes and is then as if it never had been."
3. Trans. being
4. Trans. Being
5. Trans. Fear and Trembling
6. Trans. "Retellings of the story of Abraham"
7. Trans. Phenomenological method
8. Trans. "Man is condemned to be free."
9. Trans. "Atheistic Existentialism states that if God does not exist, there is at least one being in whom existence precedes essence, a being who exists before he can be defined by any concept, and this being is man."
10. Trans. "I am responsible for myself and for everyone else."

संदर्भ सूची

2. Bhadra, M. K., A Critical Survey of Phenomenology and Existentialism, Allied Publishers, 1990, Page 135
6. Kierkegaard S., Fear and Trembling, Princeton University Press, 1941, Chap. The Abraham Story
8. Bhadra, M. K., A Critical Survey of Phenomenology and Existentialism, Allied Publishers, 1990, Page 376
9. Sartre J. P., Existentialism, trans. by B. Frechtman, (New York, Philosophical Library, 1947), Page 18
10. Sartre J. P., Existentialism, trans. by B. Frechtman, (New York, Philosophical Library, 1947), Page 21

❑

ISSN 0974-8849
दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)
UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4
वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

कार्ल पॉपर का विज्ञान दर्शन, मिथ्याकरण का सिद्धांत एवं वैज्ञानिक पद्धति : एक समीक्षात्मक अध्ययन

सुजाता कुमारी सिंह *

कार्ल पॉपर एक ऑस्ट्रियाई ब्रिटिश दार्शनिक थे, जिन्होंने पारंपरिक विचारों की आलोचना की कि ज्ञान को वैज्ञानिक और दार्शनिक परिकल्पना का समर्थन करने के लिए कैसे कथित किया गया था। यह पत्र पॉपर के प्रभाव का विश्लेषण करता है कि विज्ञान का समर्थन करने के लिए ज्ञान का उपयोग कैसे किया जाता है। उन्होंने मनोविज्ञान, प्रकृतिवाद, आगमनवाद और तार्किक प्रत्यक्षवाद की आलोचना की तथा गैर विज्ञान से विज्ञान की सीमा तय करने वाली कसौटी के रूप में संभावित मिथ्याकरण के अपने सिद्धांत को सामने रखा।

पॉपर ने 1930 के दशक में एक निगमनात्मक विधि के रूप में मिथ्याकरण की अवधारणा दी थी। सत्य या सिद्धांतों की बहुत अधिक अनुभवजन्य अवलोकन (आगमनात्मक विधि) प्राप्त करने के विचार के विपरित, उन्होंने दावा किया कि अनुभवजन्य टिप्पणियों द्वारा सामान्य बयानों का खंडन करना तार्किक रूप से संभव है। नतीजतन, पॉपर परीक्षण और त्रुटि के माध्यम से अनुसंधान की एक विधि की वकालत करते हैं। विज्ञान को मिथ्याकरण की विधि का उपयोग करना चाहिए और उसके लिए इसका उपयोग विज्ञान और गैर विज्ञान के बीच सीमांकन मानदंड है।

इस शोध पत्र में मैं यह जांच करना चाहती हूँ कि क्या और कैसे एक विधि के रूप में मिथ्याकरण और सामान्य रूप से पॉपर का विज्ञान दर्शन, वैज्ञानिक नियमों के लिए उपयुक्त और लागू होता है। तत्पश्चात्, मैं इसकी तर्कसंगतता या अन्यथा स्थापित करने की दृष्टि से इसकी ताकत और कमजोरियों के साथ मिथ्याकरण की अवधारणा की व्याख्या और मूल्यांकन करूंगी। इसके अलावा मैं उन विशेषताओं को भी स्पष्ट करूंगी जो विज्ञान की उन्नति के लिए आवश्यक हैं।

** शोध छात्रा, (यू.जी.सी. नेट, जे.आर.एफ आई.सी.पी.आर, नई दिल्ली) दर्शनशास्त्र विभाग पटना विश्वविद्यालय, पटना*

"लेकिन जो कुछ मैने सीखा है उसे मैं आगे बढ़ाऊंगा ताकि मुझसे बेहतर कोई सच्चाई का अनुमान लगा सके, और अपने काम में मेरी गलती को साबित कर सके और फटकार लगा सके। इस पर मुझे खुशी होगी कि मैं अभी भी एक माध्यम था जिससे यह सच्चाई सामने आई है।" (पॉपर, 2002 : 2)

अल्ब्रेक्ट ड्यूरर

विज्ञान का दर्शन वैज्ञानिक सिद्धांतों की विश्वसनीयता से संबंधित है, और ऐसा करने के लिए कई तरह के दृष्टिकोण सामने आए हैं। ये विधियाँ वैज्ञानिक तर्क की नींव और प्राकृतिक दुनिया के बारे में भविष्यवाणियां करने की क्षमता का मूल्यांकन करने का प्रयास करती है। विज्ञान दर्शन के अध्ययन में महत्वपूर्ण मुद्दों में शामिल है–विज्ञान की पद्धति की समस्या, वो कारक जो विज्ञान की प्रगति को बढ़ा सकते हैं, विज्ञान में सत्य और निश्चितता का प्रश्न और साथ ही वैज्ञानिक खोजों की तर्कसंगतता का मुद्दा। उपरोक्त मुद्दों से उत्पन्न चुनौतियों के जवाब में कई विचारधाराएँ उभरी हैं। उदाहरण के लिए, सापेक्षतावादी वैज्ञानिक सत्य को संदर्भ की अवधि, पर्यावरण और अभिविन्यास के संदर्भ में देखते हैं। यथार्थवादी के लिए विज्ञान में एक कथन या तो सत्य है या असत्य–दोनों के बीच कोई मध्य मार्ग नहीं है। यंत्रवादी वैज्ञानिक सिद्धांतों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका में अधिक रुचि रखते हैं। तार्किक प्रत्यक्षवादी विज्ञान की पद्धति के साथ–साथ विज्ञान और तत्वमीमांसा के बीच संबंध, दोनों में रुचि रखते हैं। कार्यप्रणाली पर वे वैज्ञानिक अनुसंधान में, प्रक्रिया के रूप में आगमन (induction) की वकालत करते हैं। वो इस पद्धति से सहमत होकर, तत्वमीमांसा के प्रस्तावों को गैर–संवेदनशील और ज्ञान के अधिग्रहण में कोई संबंध नहीं होने के कारण खारिज करने के लिए, सत्यापन और पुष्टिकरण के अपने सिद्धांत का उपयोग करते हैं। उपरोक्त समस्याओं के बीच पॉपर एक ऐसी कार्यपणाली का प्रस्ताव देने के लिए सामने आए जो बौद्धिक रूप से कार्यकारी थी। यह अध्ययन उन अज्ञात वैज्ञानिक तरीकों की खोज करता है जो पॉपर के लेखन में उभरते और दोहराए जाते हैं। साथ ही यह मिथ्याकरण सिद्धांत[1] की भी समीक्षा करता है, जिसने विज्ञान को छद्म विज्ञान से अलग करने पर जोर दिया।[2] इसमें उन्होंने सत्य की स्थापना पर अनिश्चितता की पुष्टि की है जो कि गलत नहीं है और इसमें गैर–निष्कर्ष स्पष्ट है, और फिर उन्होंने यह मांग की कि जिसे ज्ञान माना जाना चाहिए, उसके मापन के लिए किसी भी प्रणाली को एक प्रतिमान के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। मिथ्याकरण के सिद्धांत के साथ पॉपर का कहना है कि किसी भी तथ्य का खंडन किया जा सकता है, चाहे उसके माप के माध्यम की ताकत कुछ भी हो। वह विज्ञान और तत्वमीमांसा का सीमांकन करने का

प्रयास करते है, और उन्हें केवल सत्य की निश्चितता में पूरकता के क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से एकीकृत करते हैं।[3]

पॉपर का मानना है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास, आवश्यक रूप से वैज्ञानिक पद्धति में निश्चित अनुकूलन क्षमता के माध्यम से मानव ज्ञान के विकास के साथ जुड़ा है।

अतः उद्देश्यपूर्ण ढंग से, हमें संभवतः यह पूछना पड़ सकता है कि, फिर वैज्ञानिक पद्धति या कार्यप्रणाली क्या है? आम तौर पर यह माना जाता है कि वैज्ञानिक पद्धति यह सुनिश्चित करने का एक तरीका है कि प्रयोग, उपलब्ध और संबंधित तथ्यों के आधार पर अच्छे परिणाम या किसी विशिष्ट प्रश्न का उत्तर दें। यह केवल सामान्य गुण और विचार है, जिनका उपयोग विभिन्न परिकल्पनाओं की पुष्टि या खंडन में किया जाता है, अर्थात् सामान्य तरीके से परिकल्पनाओं का मूल्यांकन किया जाता है या विज्ञान में शोध किये जाते हैं। वैज्ञानिक सत्यापन का पूरा मामला तथ्यों के ऊपर तथ्यों की व्याख्या पर केन्द्रित है। विज्ञान का विकास ज्ञात तथ्यों पर तथ्यों की व्याख्या पर आधारित है। वैज्ञानिक आवश्यक निष्कर्ष निकालने के लिए तथ्यों को प्रस्तुत करने वाले स्पष्टीकरणों के माध्यम से अवलोकनों परिकल्पनाओं और कटौती का उपयोग करते है।[4]

कार्ल पॉपर और मिथ्याकरण का सिद्धांत

पॉपर का उद्देश्य वैज्ञानिक पद्धति में आगमन (induction) द्वारा वैज्ञानिक समस्या को उस तरीके से हल करना है जैसे कि रेने डेकार्ट करना चाहते थे। इसलिए उनका कहना है कि वैज्ञानिक पद्धति को इस प्रकार अपनाना चाहिए–सबसे पहले, समस्या के बारे में जागरूक होकर, दूसरा, समस्या का समाधान सुझाएं। तीसरा, एक सिद्धांत बनाने के लिए निगमनात्मक (deductive) प्रस्ताव बनायें। अन्त में, सर्वोत्तम सिद्धांतों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के परीक्षणों के माध्यम से अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचें। दूसरे शब्दों में, पुरानी वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार–सबसे पहले किसी भी तथ्य का निरीक्षण करना, दूसरा अवलोकन के आँकड़े इकट्ठा करना, तत्पश्चात् उन आँकड़ों से एक स्वरूप (Pattern) बनाना, एक सिद्धांत तैयार करना और अंततः सूत्रीकरण (formulation) की विधि से यह जाँच करना की क्या यह वैध है या समय और स्थान के पाठ पर खरा उतरता है?

पॉपर वैज्ञानिक ज्ञान और स्पष्टीकरण के प्रमुख मानदंड के रूप में "परीक्षणशीलता" (testability) और "निष्पक्षता" (objectivity) की अत्यधिक सराहना करते हैं। उनका मानना है कि सभी वैज्ञानिक ज्ञान को, साक्ष्य या अच्छे कारण से उचित ठहराया जाना चाहिए जो समय की कसौटी पर खरा उतर सके, लेकिन यह किसी भी तरह से यह नहीं दर्शाता है कि पहले से मौजूद सिद्धांतों को गलत साबित करने के लिए नये सिद्ध सिद्धांत नहीं ढूंढ़े जा सकते। "समय के परीक्षण"

(Test of Time) का विचार एक अधिक ग्रहणषीळ सिद्धांत की लहर के लिए एक विशेष सिद्धांत की समाप्ति का संकेत देता है।

रोसेनबर्ग के शब्दों में–"मिथ्याकरण का तर्क विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि विज्ञान मिथ्या है। विज्ञान एक परिकल्पना का तब तक कठोर परीक्षण करके प्रगति करता है, जब तक कि परिकल्पना गलत साबित न हो जाए, ताकि इसका सुधार किया जा सके, या एक बेहतर परिकल्पना को रास्ता दिया जा सके। विज्ञान का सत्य के प्रति बढ़ता सन्निकटन मिथ्या परीक्षणों और उनके प्रति वैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं पर विशेष रूप से निर्भर करता है।"[5]

वैज्ञानिक विकास के इसी आधार पर कार्ल पॉपर ने वैज्ञानिक तरीकों के विकास को ध्यान में रखते हुए मिथ्याकरण के अपने वैज्ञानिक सिद्धांत का निर्माण किया, ताकि हठधर्मिता और पारंपरिक तरीकों से बहुत अधिक जुड़ाव न हो। इस संबंध में यहाँ वैज्ञानिक पद्धति के अंतर्गत वैज्ञानिक ज्ञान को विशेष और भेदभावपूर्ण नहीं, बल्कि सामान्य और सार्वभौमिक माना जाता है। विज्ञान (Science) और छद्म विज्ञान (Pseudo-Science) के बीच अंतर संकेतन का विश्लेषण करने के लिए फ्रेडेरिक फेरे ने वैज्ञानिक पद्धति की दो विशेषताएँ रखीं:

1. वैज्ञानिक विधि के लिए पूर्वानुमेयता के तत्व या कम से कम कुछ अनुभव के विनिर्देश की आवश्यकता होती है, जो सैद्धांतिक रूप से प्रस्तावित स्पष्टीकरण को सत्यापित या अस्वीकार कर सकता है। यह आवश्यकता वैज्ञानिक व्याख्या की प्रमुख विशेषताओं में से एक की रक्षा करती है।
2. वैज्ञानिक पद्धति के लिए आवश्यक है कि यदि किसी सिद्धांत का वास्तव में स्पष्टीकरण करना है तो उसे विस्तार की अनुमति देनी चाहिए, अर्थात् उन आकड़ों से परे एक संभावित स्पष्टीकरण के लिए आवेदन ढूंढ़ना होगा जो मूल रूप से इसकी मांग करता है।[6]

पॉपर का मानना है कि तथ्यों की व्याख्या वैज्ञानिक अभियान की पहचान है। इसी अपेक्षा के साथ अनुमान और खंडन का सिद्धांत अर्थात् "निशान" (trial) और त्रुटि (error) की स्थिति उभर कर सामने आती है। अवलोकन (observation) के द्वारा प्राप्त सिद्धांत या तो मिथ्या है या पुष्टि।

रोसेनबर्ग के शब्दों में–"एक स्पष्टीकरण वह आकर्षण है जो दिखाता है कि जो हुआ वह तार्किक आवश्यकता के रूप में होना था। जो किसी विकल्प की अनुमति नहीं देता है, स्पष्टीकरण की अपील बहुत विवादास्पद दार्शनिक शोध कार्यों पर आधारित होती है जिन्हें दार्शनिकों ने अस्वीकार कर दिया होगा। यदि ये दो प्रकार की व्याख्याएँ संदिग्ध धारणाओं पर आधारित है, तो यह जानना आवश्यक है कि इस भावना के बावजूद भी यह पर्याप्त नहीं है। "कुशल" कारण व्याख्या ही सर्वश्रेष्ठ व्याख्यात्मक जिज्ञासा को शांत कर सकता है।"[7]

सत्यापनीयता (verifiability) को वैज्ञानिक पद्धतियों के दायरे में रह कर कुछ निश्चित कानूनों का पालन करना चाहिए। रोसेनबर्ग ने "विशेष विज्ञान" (Special sciences) की उस कारण प्रवृत्ति की व्याख्या करने की कोशिश की। पॉपर के अनुसार किसी भी सिद्धांत को सिद्ध या उसके सच होने का दावा नहीं किया जा सकता, उसकी केवल पुष्टि या समर्थन ही की जा सकती है। यदि वह मिथ्या सिद्ध हो तो उसका त्याग किया जा सकता है। इसका खंडन वैसे ही किया जा सकता है जैसे हम पहले परमाणु द्वारा तत्वों की संरचना के बारे में जानते थे। लेकिन अब इसे इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन के रूप में नकारा जाता है।[8]

कार्ल पॉपर और वैज्ञानिक पद्धति की विस्तृत व्याख्या

कार्ल पॉपर वास्तव में वैज्ञानिक शोधों में प्रतिमान–चालित निष्कर्षों को गलत साबित करने की कोशिश करते हैं। वह यह स्वीकार करते हैं कि इन निष्कर्षों से प्राप्त सभी तरह के ज्ञान सीमारहित हैं। यानी, वह सभी तरीकों से पर्यावरणीय और मानवीय त्रुटियों की पहचान करते हैं जो निस्संदेह ही मिथ्याकरण का कारण बनेंगे।[9]

सी०एस० मोमोह के शब्दों में–"वैज्ञानिक पद्धति की एक प्रमुख आवश्यकता किसी वस्तु के साथ संपर्क है। यह संपर्क मुख्यतः वृहत्–विज्ञान के दायरे में प्रत्यक्ष है जो उन वस्तुओं से संबंधित है जो अवधारणात्मक नहीं है। जबकि सूक्ष्म–विज्ञान अपने क्षेत्र में वैज्ञानिक अवधारणात्मक रूप से अनियंत्रित वस्तुओं से निपटते हैं तथा अप्रत्यक्ष रूप से उनके संपर्क में आते हैं। मगर दोनों ही विज्ञानों में, अवलोकन और प्रयोग वैज्ञानिकों के लिए आवश्यक शर्तें हैं।"

अधिक सशक्त रूप से, पॉपर ने अपने आगमनात्मक खंडन (inductive refutation) में मिथ्याकरण के सिद्धांत को "पॉपर हाइपोथेटिको– डिडक्टिव विधि" कहा है। इसके साथ, उन्हें 20वीं सदी के साथी वैज्ञानिक जैसे–पॉल फेयरबेंड के दार्शनिक विचारों के साथ अपनी अराजक ज्ञानमीमांसा के साथ प्रेरित किया गया, जहाँ उन्होंने प्रतिपादित किया कि वैज्ञानिक जुड़ाव में "कुछ भी होता है" या "किसी भी अनर्थ का अर्थ होता है।" उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि, वैज्ञानिकों द्वारा हमेशा उपयोग किये जाने वाले पद्धतिगत नियमों के संदर्भ में विज्ञान की प्रगति की तुलना करना असंभव है जो निश्चित रूप से वैज्ञानिक प्रगति की गतिविधियों को सीमित करेगा। इसके अलावा, इमरे लैकाटोस, (जिन्हें कई लोग पॉपर और कुह्न के बीच एक उपयोगी विकल्प के रूप में देखते हैं), ने "प्रगतिशील शोध कार्यक्रम" का विचार पेश किया। ये तब प्रगतिशील थे जब वे या तो अनुभवजन्य साक्ष्य या प्रगति का समर्थन करके आगे बढ़ते थे। इन सभी में, यह कहना कि एक वैज्ञानिक अपने सामने मौजूद भौतिक तथ्यों पर तार्किक

रूप से विचार करते हैं, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैज्ञानिक दार्शनिक विवादों में पक्ष लेते हैं।

यदि, सी०एस० मोमोह के अनुसार, कुछ भी सत्य है, तो वह यह है कि अद्वैतवाद और द्वैतवाद, या यथार्थवाद और आदर्शवाद में जो भी गुण है, वे वास्तव में वैज्ञानिकों के उनके जाँच और प्रयोग के दौरान परेशान नहीं करते।[10]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

मिथ्याकरण एक सत्यापनीयता सिद्धांत से संबंधित है जो किसी अन्य मौजूदा सिद्धांत की सत्यता पर जोर देता है और इसे वैज्ञानिक प्रयास के एक शिक्षाप्रद सिद्धांत के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार, किसी भी सिद्धांत को गलत ठहराया जा सकता है। फिर भी दर्शनशास्त्र उनकी विधियों और पद्धतियों, निष्कर्षों और मान्यताओं आदि के औचित्य पर सवाल उठाता है। जहाँ मानवीय तर्क अपूर्ण है और कोई भी मिथ्याकरण नये विचारों को जन्म देता है और नये ज्ञान का आविष्कार करता है। यह शैक्षणिक सीमाओं को विस्तृत करता है, क्योंकि मिथ्याकरण अपने अर्थ में वैज्ञानिक अनुशासन में एक स्वस्थ हस्तक्षेप है। यह ज्ञान के स्तर को बढ़ाता है और किसी विशेष सिद्धांत या सिद्धांतों का बेहतर बनाता है।[11]

फिर भी, विज्ञान के प्रति पॉपर का लगाव उस परीक्षणीय वस्तु को स्वीकार करती प्रतीत होती है जो परिणामों की भरोसेमंद अपेक्षाओं को पूरा करती है। पॉपर के शब्दों में वह व्यवहारिकता है।[12] और इसलिए यह स्पष्ट है कि पॉपर का दर्शन वर्तमान शैक्षणिक अभ्यास, को चुनौती देता है। अकादमिक रूप से स्थित और वस्तुनिष्ठ होने के कारण, पॉपर का शोध बहुत यथार्थवादी रूप से विवादास्पद रहा है तथा कई विचारकों को स्वीकार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि कुछ वैज्ञानिक नियम और कानून ऐसे हैं जिनका इतिहास के दौरान कभी भी खंडन नहीं किया गया है, विशेष रूप से वो जो इस प्रकृति के नियम पर आधारित हैं।[13] विज्ञान में प्रकृति के नियम को समझने के लिए "स्पष्टीकरण", "सिद्धांत", "कारण", "परिकल्पना", "ज्ञान" एवं अन्य ऐसी अवधारणाओं को समझने की अपरिहार्य आवश्यकता है। जैसा कि माइकल मैथ्यू कहते हैं–"ये सभी अवधारणाएँ ज्ञानमीमांसा और आध्यात्मिक प्रश्नों की दार्शनिक जाँच में योगदान देती हैं और आंशिक रूप से उनसे उत्पन्न होती है : इस बारे में प्रश्न कि कौन सी वस्तुओं का ज्ञान संभव है तथा हम उन्हें कैसे जान सकते हैं तथा कौन सी चीजें वास्तव में इस 'जगत' में मौजूद हैं तथा वे एकदूसरे से कैसे संबंधित हैं।" पॉपर के मिथ्याकरण सिद्धांत की अवधारणा इन वैज्ञानिक घटनाओं, संभावनाओं और अवधारणाओं की गतिशील प्रकृति पर वैज्ञानिक शिक्षा के विकास को प्रभावित करने में प्रकृति के कानून की प्रगतिशील निकटता और प्रवृत्ति पर आधारित है।"[14]

अतः मिथ्याकरण मूल्यांकन के सिद्धांत को इसकी स्थायी प्रासंगिकता प्रदान करने के लिए अकादमिक संदर्भात्मक आधार की आवश्यकता है। विकास विज्ञान की संस्कृति है, जिसमें खंडन (refutation) और सहयोग (collaboration) प्रमुख हैं जो उसके विकास को आगे बढ़ाते हैं। इस तथ्य के कारण वैज्ञानिक क्षेत्र में मिथ्याकरण सिद्धांत का बहुत अधिक महत्व है क्योंकि मानवीय तर्कसंगतता की सीमाओं के आधार पर किसी का भी ज्ञान समग्र और निश्चित नहीं है।[15]

संदर्भ

1. कार्ल० आर० पॉपर, "ऑब्जेक्टिव नॉलेज : अन इवोल्यूशनरी अप्रोच", ऑक्सफोर्ड : द क्लेरेन्डन प्रेस, 1972, पृ० 14, 47–48, 52–60
2. कार्ल० आर० पॉपर, "कन्जेक्चर्स एण्ड रेयूटेशन्स : द ग्रोथ ऑफ साइन्टिफिक नॉलेज", न्यू यॉर्कः हार्पर एण्ड रॉ, 1963, पृ० 433–443
3. पी०ओ० ईसान्बर, "एन अप्रैसल ऑफ कार्ल पॉपर्स थियोरी ऑफ फॉल्सीफिकेशन", वोल्यूम 3, 2016 पृ० 71–88
4. एलविस इमाफिडन, "द पॉपुलर/रेशनलिस्ट इमेज ऑफ साइंस : एन ओरव्यू ऑफ द पॉजिटिविस्ट व्यू ऑफ साइंस", वाल्यूम–2, 2015, पृ० 101–119
5. एलेक्स रोजेबर्ग, "फिलॉसफी ऑफ साइंस : ए कंटेम्पररी इन्ट्रोडक्शन", न्यू यॉर्क : रूटलेज क्लासिक्स, 2012, पृ०–202
6. फ्रडरिक फेरे, "लैंग्वेज लॉजिक एण्ड गॉड", न्यू यॉर्क : हार्पर एण्ड रॉ पब्लिशर्स, 1961, पृ०–23
7. एलेक्स रोसनेबर्ग, "फिलॉसफी ऑफ साइंस : ए कंटेम्पररी इन्ट्रोडक्शन", न्यू यॉर्क : रूटलेज, 2012, पृ०–204
8. वही, पृ०–206
9. सी०एस० मोमोह, "ऑन कल्चरल फिलॉसफी", 1988, पृ० 25–38
10. वही, पृ०–30
11. हेनरी, ओ० अकव्वे, "हिस्ट्री एण्ड फिलॉसफी ऑफ साइंस", अबुजा ट्रांसपोर्ट कम्युनिकेशंस, 2013, पृ०–124
12. निकोलस डाइक्स, "डिबंकिंग पॉपर : ए क्रिटिक ऑफ कार्ल पॉपर्स क्रिटिकल रेसनलिज्म, लिबर्टेरियन एलायंस", 2003, पृ०–124
13. माइकल, आर० मैथ्यूस, "टीचिंग साइंस", पृ०–346
14. ओ० इसानबोर, "एन अप्रेजल ऑफ कार्ल पॉपर थिअरी ऑफ फाल्सीफिकेशन", वाल्यूम–3, 2016, पृ० 71–88
15. वही, पृ०–90

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

विहंगम योग की दार्शनिक पृष्ठभूमि

इन्दु प्रकाश मिश्र *

भारतीय अध्यात्म विद्या का मूल आधार है– योग। जिसकी निर्मल धारा इस आर्यभूमि भारत में अनादि काल से सतत प्रवाहमान है। जिसमें स्नान कर साधक न सिर्फ तन से अपितु मन और आत्मा से भी पूर्णतः शुद्ध हो जाता है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में योग को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। जिसका प्रचार–प्रसार आज से नहीं अपितु सृष्टि के आदिकाल से होता आ रहा है। प्रस्तुत शोध आलेख में हम जिस बिंदु पर बात करेंगे वह है–'विहंगम योग की दार्शनिक पृष्ठभूमि'।

विहंगम योग कोई आधुनिक मत संप्रदाय नहीं अपितु भारत की एक प्राचीनतम योगविद्या है। वेदों में इसी योगविद्या को ब्रह्मविद्या, पराविद्या, शब्द–सुरति योग, देवयान पथ आदि विविध नामों से जाना जाता है।

इस योग परंपरा के वर्तमान आविष्कारक महर्षि सदाफलदेव जी महाराज उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद अंतर्गत पकड़ी नामक गाँव में 25 अगस्त सन् 1888 ईस्वी को अवतीर्ण हुए। वे बाल्यकाल से ही योग साधना के अभ्यास में आरूढ़ रहा करते थे। शून्यशिखर हिमालय की दुर्गम कन्दरा में सत्रह वर्षीय गहन योग साधना के फलस्वरूप उनको जो तत्वबोध प्राप्त हुआ उसी को उन्होंने एक ग्रन्थ के रूप में सृजित कर दिया, जिसका नाम है–'स्वर्वेद'।

विहंगम योग की समस्त तात्त्विक व सैद्धांतिक बातें इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। इसको विहंगम योग दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है, जिसकी रचना स्वामी जी ने आत्मबोध होने के पश्चात् हिमालय की कन्दरा में ही की थी।

11 फरवरी सन–1954 ई. को झूंसी प्रयागराज में जब वे अपने पंच भौतिक शरीर का परित्याग करने लगे तब देह त्याग के समय उन्होंने अफसोस जताते हुए अपने उत्तराधिकारी से कहा–"आज मेरे सामने दुनिया और रूस, अमेरिका के वैज्ञानिक बैठते और देखते कि मैं शरीर कैसे छोड़ रहा हूँ। इसके अभाव में

* *शोध छात्र, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)*

हिंदुस्तान के 10 बड़े–बड़े राजनेता विद्वान हों। नहीं तो कम से कम भारत के सर्वमान्य तीन प्रतिष्ठित व्यक्ति आकर मेरी मृत्यु को देखते। योगी का मरण एक महान् ज्ञान के अंदर है। यह एक प्रकार की योग लीला है"[1]।

उक्त तिथि को सायं 4 बजे उन्होंने अपने समस्त भक्त शिष्यों को एकत्रित कर कहा कि अब मैं जा रहा हूँ। स्वामी जी ने योगमुद्रा में आसीन होकर अपने पञ्च भौतिक देह का परित्याग कर दिया। देह त्याग के पश्चात् जब उनके भक्त–शिष्य, नस– नाड़ियों का परीक्षण करने लगे तब उन्होंने आकाशवाणी की और मानस की ये पंक्तियाँ दुहरायीं–

बिनु पग चले सुने बिनु काना। कर बिनु कर्म करे विधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़योगी।।[2]

अर्थात् एक योगी बिना पैर का चलता है, बिना कान का सुनता है, बिना हाथ का कर्म करता है, बिना जिह्वा के समस्त रसों का उपभोग करता है और बिना वाणी के बोलता है। ये सब एक श्रेष्ठ योगी अपने साधनात्मक सिद्धियों के आधार पर सहजता से कर सकता है। एक श्रेष्ठ योगी को मृत्यु पर भी अधिकार प्राप्त होता है, वह जब चाहे अपने पंच भौतिक देह का स्वतंत्र परित्याग कर सकता है।

महर्षि सदाफल देव जी महाराज एक श्रेष्ठ योगी होने के साथ ही साथ एक कुशल राष्ट्र भक्त, महान समाज सुधारक तथा एक श्रेष्ठ चिन्तक भी थे। उनके अनुभूति ग्रन्थ 'स्वर्वेद' में विहंगम योग के समस्त दार्शनिक सिद्धांतों को प्रकट किया गया है। अस्तु इसी ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत शोध आलेख में उनके दार्शनिक सिद्धांतों को प्रतिपादित करने का एक लघु प्रयास किया जा रहा है।

यदि 'विहंगम' शब्द पर विचार किया जाए तो विहंगम का अर्थ होता है– पक्षी और 'योग' का अर्थ होता है– जोड़, मेल, संयम या समाधि।

पाणिनि व्याकरण के अनुसार युज् धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से योग शब्द निष्पन्न होता है। जो प्रायः तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है–1– युजिर् योगे'[3] जोड़ या मेल के अर्थ में 2–'युज संयमने'[4] संयम के अर्थ में 3– 'युज समाधौ'[5] समाधि अर्थ में। प्रायः इन्हीं तीन अर्थों में युज् धातु का प्रयोग हुआ है।

योग शब्द को परिभाषित करते हुए विहंगम योग के प्रणेता महर्षि सदाफल देव जी महाराज लिखते हैं–

योग कहत हैं जोड़ को, योग कहत हैं संधि।
योग रहस्य उपाय में, जीव ब्रह्म की संधि।।[6]
परम पुरुष अरु आतमा, संधि निरंतर योग।
जड़ माया व्यापे नहीं, कभी न होय वियोग।।[7]

योग का अर्थ जोड़ या संधि होता है। योग के रहस्य भेद साधन से जीव और ब्रह्म का मेल या मिलन होता है। जीव और ब्रह्म के मिलन को ही योग कहते हैं।

योग की एक दूसरी परिभाषा देते हुए सद्गुरु सदाफल देव जी कहते हैं–

योग योग सब कोई कहा, योग न जाना कोय।
अर्ध धार ऊरध चले, योग कहावे सोय।।[8]

उन्होंने कहा कि योग– योग तो सब कोई कहते हैं, लेकिन योग की वास्तविक परिभाषा क्या है, इससे लोग अनभिज्ञ हैं। योग शब्द को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा–"अर्ध धार ऊरध चले, योग कहावे सोय"[9] अर्थात् आत्म चेतना जो अर्ध प्रवाही है, संसार में फँसी हुयी है। मन, बुद्धि, इंद्रियादि जड़ करणों में फंसी हुई है, उसी चेतना को उलट कर ऊर्ध्व मुख कर देना अर्थात् संसारोन्मुखी आत्म– चेतना को परमात्मा की ओर उन्मुख कर देना ही योग है।

अब 'विहंगम' शब्द पर विचार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। विहंगम का क्या अर्थ है तथा योग शब्द के साथ इसका क्या संबंध है और इसकी प्रामाणिकता क्या है? इन समस्त बिन्दुओं पर क्रमशः विचार करते हैं।

''संस्कृत शब्दकोश (अमरकोश) में विहग अथवा विहंगम का अर्थ पक्षी बतलाया गया है। 'विहायसा गच्छति इति विहंगमः' इस निरुक्ति में 'विहायस्' उपपद के आगे 'गम्' धातु में तथा 'खच्' प्रत्यय के लगने से विहंगम शब्द बनता है। 'विहायस्' का अर्थ 'अंतरिक्ष' तथा 'गम्' धातु का अर्थ गमन, ज्ञान और मोक्ष है। विहायस् के 'विह' आदेश होने तथा 'मुम्' के आगम होने से 'विहंगम' शब्द बनता है।''[10]

पक्षी आकाश में गमन करने की क्षमता रखता है और वह निराधार आकाश में गमन करता है। उसको जब भूख– प्यास लगती है तब वह किसी वृक्ष अथवा धरती का आधार लेता है और जब वह आकाश मार्ग में गमन करता है तब वह वृक्ष की डाल (शाखा) आदि का आधार लेकर नहीं उड़ता है। वह उड़ता है तो निराधार, अपने पौरुष और दो पंखों के सहारे।

ठीक इसी प्रकार विहंगम योग का साधक अपनी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त सांसारिक उपयुक्त आधार ग्रहण करता है और अपने जीविकोपार्जन का उपाय भी करता है। लेकिन जब वह परमात्म–साक्षात्कार व आत्म–साक्षात्कार के निमित्त योग साधना का अभ्यास करता है तो निराधार, पक्षी की भांति। तब वह न मन का आधार लेता है, न चित्त का, न बुद्धि का, न इन्द्रियों का। वह स्वयं अपने आत्मिक आधार पर स्थित होने के लिए क्रमशः इंद्रियों तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का आधार छोड़कर योग साधना में अरूढ़ होता है। विहंगम योग के वर्तमान आविष्कारक महर्षि सदाफल देव जी महाराज कहते हैं–

इंद्रियों से नाहिं साधन, नाहिं साधन प्राण से।
चित्त मन से नाहिं साधन, नाहिं बुद्धिमहान से।।
प्रकृति के आधार तजि, स्वज्ञान से साधन चले।
कहैं सदाफल योग दुर्लभ, वर विहंगम सत फलै।।[11]

कोई पक्षी अपने स्वयं के पुरुषार्थ तथा अपने दो पंखों के आधार पर आकाश गमन करता है। पक्षी के दो पंखों को अनेक विद्वानों ने अपने– अपने आधार पर परिभाषित किया है। गीता और योग दर्शन के अनुसार यदि देखा जाए तो अभ्यास और वैराग्य यही दो पंख हैं एक साधक के पास, जिसके आधार पर ही वह परमतत्त्व की प्राप्ति के निमित्त योग साधना में आगे बढ़ सकता है।

जैसे एक पक्षी के लिए उसके दोनों पंख जरूरी हैं, किसी एक पंख के अभाव में वह आकाश गमन नहीं कर सकता। उसी प्रकार एक साधक के अंदर अभ्यास और वैराग्य रूपी पंख परम आवश्यक है। इसी भांति महर्षि सदाफल देव जी महाराज अभ्यास–वैराग्य की जगह ज्ञान– वैराग्य को पक्षी का दो पंख मानते हैं और भक्ति को पक्षी के गमन करने का मार्ग मानते हैं, जिसमे साधक रूपी पक्षी निराधार बिना किसी अवरोध के गमन कर सकता है। इस बात की पुष्टि करते हुए महर्षि सदाफलदेव देव जी महाराज लिखते हैं–''ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति इन तीनों के पूर्ण होने से सच्चिदानंद सत्पुरुष महाप्रभु की प्राप्ति होती है। प्रकृति तथा प्राकृतिक देह संघात को त्याग कर चिदाकाश अर्थात् अपने चेतन लोक को अलग पक्षी की नाई अपने शुद्ध स्वरूप से उड़कर जाते हैं इसलिए इसे विहंगम योग कहते हैं।''[12]

ज्ञान और वैराग्य को उन्होंने पक्षी के दो पंख बतलाए हैं और कहा कि ज्ञान पक्षी का दक्षिण या दाहिना पंख और वैराग्य वाम पक्ष अर्थात् बायां पंख है। जैसे पक्षी को उसके दोनों पंखों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार साधक को भी ज्ञान और वैराग्य रूपी पंख की आवश्यकता है। ज्ञान मतलब तत्व ज्ञान। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसको यथारूप जानना और संशय से रहित होकर जो ज्ञान निर्भ्रान्त सत्य पर आधारित है, उसे ही ज्ञान कहा जाता है। इन्हीं ज्ञान तथा वैराग्य रूपी दो पंखों के सहारे विहंगम योग का साधक निराधार भक्ति मार्ग पर स्वात्मज्ञान से उड़ने लगता है।

इस प्रकार योग और विहंगम इन दोनों शब्दों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि "विहंगम" शब्द पक्षी बोधक है और योग उस विराट चेतना ईश्वर से, आत्मा– परमात्मा का मेल ही योग है। अब ध्यान देने योग्य बात है कि पक्षी का यहां सिर्फ उदाहरण दिया गया है और इसका मुख्य लक्ष्य आत्म–दर्शन तथा परमात्म–दर्शन है। इस योग की चर्चा वेदों तथा उपनिषद् आदि ग्रंथों में भी प्राप्त होती है।

'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वःपत।।'[13]

इस प्रकार यहां वैदिक ऋचा के माध्यम से बतलाया गया है कि सुंदर पंखों से युक्त पक्षी की भांति निराधार आकाश में गमन करो और 'दिवंगच्छ' अर्थात् दिव्य चेतन प्रकाश लोक को प्राप्त करो। जैसे– पक्षी आकाश गमन के समय सांसारिक आधार छोड़ देता है और निराधार आकाश गमन करता है। वैसे ही आप मन बुद्धि

चित्त और अहंकार तथा इंद्रियादि जो प्राकृतिक आधार हैं उनका त्याग कर शुद्ध आत्मबल के सहारे भक्ति मार्ग पर गमन करो।

आत्म–चेतना को परमात्मा तक ले जाने वाले मार्ग में जो शून्यता है, उस शून्य मार्ग में कैसे गमन करना है, इसी विशेष युक्ति का नाम है विहंगम योग।

वराहोपनिषद में विहंगम मार्ग तथा पिपिल मार्ग का वर्णन प्राप्त होता है–

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते।
शुको विहंगमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका।।[14]

दुख रूप इस संसार सागर से पार होने के लिए दो मार्ग प्राचीन ऋषियों द्वारा वर्णित है। एक मार्ग का नाम है– विहंगम मार्ग और दूसरे का नाम है– पिपिल मार्ग। विहंगम मार्ग के उपदेशक शुकदेव मुनि तथा पिपिल मार्ग के आचार्य के रूप में वामदेव को बतलाया गया है। जैसा कि नाम से ही पता चल रहा है कि पक्षी अर्थात् विहंगम आकाश मार्ग में अपने दो पंखों के सहारे शीघ्र गमन करता है लेकिन पिपीलिका (चींटी) धीरे–धीरे गमन करती है।

यहां विहंगम मार्ग की श्रेष्ठता बतलाते हुए कहा गया कि जो विहंगम मार्गी है वह अल्प समय के अभ्यास से ही निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। लेकिन जो पिपिल मार्ग का पथिक है, वह अनेक जन्म–जन्मांतरों में भ्रमण करने के पश्चात मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्तस्यताभ्यां विना मुक्तिभाजो न सन्ति।
शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः सद्यो मुक्तास्ते भवन्तीह लोके।।
वमदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं मृत्वा जनित्वा च पुनः पुनस्तत्।
ते वै लोके क्रम मुक्ता भवन्ति योगै सांख्यैः कर्मभिः सत्व युक्तैः।।[15]

इस प्रकार इस उपनिषद में बतलाया गया कि जो भी विहंगम मार्ग का अनुसरण करेंगे वे जल्द मुक्त होंगे और जो पिपिल मार्ग के अनुगामी हैं वे जन्म–जन्मांतरों पश्चात योग, सांख्य तथा कर्म आदि का अनुष्ठान अतिकाल तक करने के पश्चात मुक्त होंगे।

जैसे पक्षी शीघ्र गामी होता है, लेकिन चींटी की गति बहुत धीमी होती है, वैसे ही विहंगम योग का साधक प्राकृतिक करणों व कर्मकांडों को छोड़कर अपने आत्म–ज्ञान के आधार पर भक्ति करता है और जो पिपिल मार्ग का अनुगामी है वह नाना प्रकार के कर्मकाण्डों में जकड़ा हुआ मोक्ष के उपाय को बहुत ही मध्यम गति से करता है।

शुकमार्गेण विरजाः प्रयान्ति परमं पदम्।[16]

शुक मार्ग अर्थात् विहंगम मार्ग के द्वारा ही परम पद निर्वाण की शीघ्र और सहज प्राप्ति होती है। अब सर्वप्रथम दर्शन के अर्थ पर विचार करते हैं इसके पश्चात् इसकी शाखा प्रशाखाओं का चिंतन करते हुए विहंगम योग की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे।

पाश्चात्य दर्शन शास्त्रियों के अनुसार दर्शन को 'फिलॉसफी' (Philosophy) कहते हैं। फिलॉसफी शब्द ग्रीक भाषा के 'फिलॉस' और 'सोफिया' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'फिलॉस' का अर्थ होता है 'प्रेम' और 'सोफिया' का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार फिलॉसफी शब्द का अर्थ हुआ 'ज्ञान के प्रति प्रेम' या 'ज्ञान से प्रेम' अर्थात ज्ञानानुराग।

भारतीय मनीषियों ने 'फिलॉसफी' को 'दर्शन' नाम से संबोधित किया है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार दृश्' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाने से दर्शन शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है– 'देखना' अथवा जिसके द्वारा किसी वस्तु को देखा व समझा जाय' उसे दर्शन कहते हैं। ''दृश्यते यथार्थ तत्वमनेन दर्शनम्'' अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ तत्व की अनुभूति हो वही दर्शन है।

इस प्रकार भारतीय चिंतन परंपरा में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ है– 'दृष्टि'। जो साधारण अर्थों में प्रयुक्त 'देखना' से भिन्न है। व्यवहार में 'दर्शन करना' और 'देखना' दोनों का प्रयोग अलग– अलग सन्दर्भों में होता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ तत्त्वदर्शन, तत्वज्ञान अथवा तत्व का साक्षात्कार है।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी पुस्तक–"दर्शन शास्त्र की रूपरेखा" में सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र को कुल 11 भागों में विभक्त किया है, जो निम्न प्रकार है– 1– तत्त्व–विज्ञान (Metaphysics or Ontology), 2–विश्व विज्ञान (Cosmology), 3– ईश्वर विज्ञान (Theology), 4– धर्म– दर्शन (Philosophy of Religion) 5– प्रमाण विज्ञान (Epistemology), 6–तर्क–विज्ञान (Logic), 7–नीति–विज्ञान (Ethics), 8–सौन्दर्य विज्ञान (Aesthetics), 9–मूल्य– विज्ञान (Axiology), 10– भाषा दर्शन (Philosophy of Language) 11–विज्ञान दर्शन (Philosophy of Science)।

इस प्रकार उपरोक्त ग्यारह शाखाओं में सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र को विभक्त कर अध्ययन किया जाता है। आइये! अब विहंगम योग दर्शन के अनुसार उपरोक्त सभी विभागों पर क्रमिक चर्चा करते हैं।

(1) तत्त्व–विज्ञान (Metaphysics or Ontology)– तत्त्व–विज्ञान को आंग्ल भाषा में Metaphysics कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है– Meta = After + Physics + the science of the physical world- अर्थात् वह ज्ञान जो भौतिक विज्ञान से परे हो। इसी बात को विहंगम योग के प्रणेता महर्षि सदाफलदेव जी महाराज अपनी भाषा में परिभाषित करते हुए कहते हैं–

मानव शक्तिक बाहरे, जगत काम कोई नाहिं।
बाहर है सो पुरुष का, सर्व शक्ति जेहिं माहिं।।[17]

अर्थात इस भौतिक जगत में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो मानव शक्ति के बाहर हो या जिसको मानव न कर सके। लेकिन कुछ ऐसे भी पदार्थ या तत्व हैं जिनकी रचना मानव नहीं कर सकता उसे ही तत्व विज्ञान कहते हैं।

दर्शन की इस शाखा को अरस्तू आदि पाश्चात्य चिंतकों ने प्राथमिक दर्शन शास्त्र कहा है क्योंकि किसी भी दर्शन की शुरुआत ही तत्वों के परिगणन या चिंतन से होता है, इसीलिए इसको प्रारंभिक दर्शन कहा गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दर्शन शास्त्र की वह शाखा जिसमें विश्व के मूल या आधारभूत तत्वों की विवेचना होती हो अथवा जो भौतिक विज्ञान की सीमा को पार कर वैसे पदार्थों की खोज करता है जो भौतिक जगत के कारण स्वरूप हैं, उसको 'तत्त्व विज्ञान' (Metaphysics) कहते हैं। "भौतिक विज्ञान भौतिक जगत की व्याख्या तक सीमित रहता है जबकि तत्त्व विज्ञान उसकी तह में बैठकर उस सत्य का अनुसंधान करता है जो भौतिक जगत का आधार है"।[18]

प्रायः सभी दर्शनों की अपनी–अपनी तत्त्व मीमांसा होती है बिना तत्वबोध के उस दर्शन की प्रमाणिकता ही नहीं सिद्ध होती है। इस प्रकार विहंगम योग की भी अपनी तत्व मीमांसा है। अब उसपर विचार करते हैं–

विहंगम योग दर्शन की तत्त्व मीमांसा–जैसे–सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा–वेदान्त तथा जैन, बौद्ध चार्वाक आदि दर्शनों की अपनी अपनी तत्त्व मीमांसा है उसी प्रकार विहंगम योग दर्शन की भी तत्त्व मीमांसा है। विहंगम योग के सिद्धांत ग्रन्थ 'स्वर्वेद' में महर्षि सदाफल देव जी महाराज ने इस सम्बन्ध में लिखा–

नित्य अनादि षट् वस्तु हैं, इनकर सब विस्तार।
रूप गुण अरु कर्म का, व्याख्या सकल पसार।।
चेतन चार स्वरुप है, जड़ है एक असार।
जड़ चेतन से रहित है, एक बाँध संसार।।
एक सकल सकम्भ है, एक चलावन हार।
बद्ध मुक्त तत्व एक है, एक छोड़ावनहार।।[19]

अर्थात् इस सृष्टि में कुल छह पदार्थ नित्य अनादि हैं, जिनके रूप, गुण और कर्म की व्याख्या सम्पूर्ण चराचर जगत में दृष्टिगोचर होती है। इन छह नित्य अनादि पदार्थों में चार (1–निःअक्षर ब्रह्म, 2–अक्षर ब्रह्म, 3–आत्मा और 4–नित्य अनादि सद्गुरु) चेतन पदार्थ हैं, एक (प्रकृति) जड़ पदार्थ और एक न जड़ है न चेतन, उसे 'काल' कहते हैं।

(2) विश्व विज्ञान (Cosmology)–दर्शन शास्त्र की इस शाखा में विश्व (Universe) की उत्पत्ति, उसके स्वरूप आदि पर सम्यक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। तत्त्व विज्ञान और इसमें सिर्फ इतनी भिन्नता होती है कि तत्त्व विज्ञान में हम सीधे विश्व के मूल तत्व के विषय में जिज्ञासा करते हैं, अपितु विश्व विज्ञान में विश्व की भिन्न–भिन्न घटनाओं की समष्टि के रूप में देखकर उसकी व्याख्या द्वारा संसार के सामान्य स्वरूप, उत्पत्ति, विकास आदि को समझने की चेष्टा करते हैं। विहंगम योग के प्रणेता ने भी विश्व विज्ञान को अपने दार्शनिक चिंतन में

प्रचुरता से स्थान दिया है। विश्व की रचना के सम्बन्ध में स्वामी जी ने स्वर्वेद में लिखा–

अक्षर माहीं कंप है, माया योग विकाश।
सृष्टि के प्रादुर्भाव है, अक्षर जग परकाश।।[20]

अक्षर के कम्प से ही परमाणुओं में संयोग होने लगता है, अर्थात परमाणुओं का विकास होने लगता है, जिससे सृष्टि की रचना आरम्भ होती है। अक्षर के प्रकाश से परमाणुओं के योग–विकास द्वारा जगत् की रचना होती है।

आदि सृष्टि के मूल में, प्रकटे शब्द विदेह।
तीन लोक पीछे बने, प्रकृति त्रिघात अपेह।।[21]

मूलारम्भ सृष्टि के प्रादुर्भाव में सबसे पहले विदेह शब्द अर्थात् व्यापक शब्द प्रकट होता है। उसके द्वारा चेष्टा करने पर शून्य परमाणुओं के सत्त्व, रज एवं तम के क्रमिक विकास से तीन लोकों की रचना होती है।

(3) ईश्वर विज्ञान (Theology)– दर्शन शास्त्र के एक प्रमुख शाखा के रूप में 'ईश्वर विज्ञान' को स्वीकार किया गया। इसको आंग्ल भाषा में Theology कहते हैं, जो दो शब्दों के मेल से बना है–Theo = God (ईश्वर), Logos = Study or science जिसका अर्थ हुआ ईश्वर विद्या या ईश्वर विज्ञान। दर्शन की इस शाखा में ईश्वर के अस्तित्व की दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की जाती है।

ईश्वर के अस्तित्व को लेकर आदिकाल से ही संशय होते रहे हैं। कुछ दार्शनिक उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो कुछ उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। कुछ के विचार में ईश्वर एक है तो कुछ के विचार में ईश्वर विविध रूपों में बनता हुआ नजर आता है। कुछ दार्शनिक उसको सगुण तो कुछ निर्गुण मानते हैं। कुछ साकार तो कुछ उसको निराकार मानते हैं। इन सभी जिज्ञासाओं का समाधान अनादिकाल से ही खोजा जाता रहा है और प्रायः सभी दर्शन ईश्वर तत्त्व पर अपना मत प्रकट करते हैं कुछ उसके अस्तित्त्व को स्वीकार करते हैं तो कुछ उसके अस्तित्त्व को अस्वीकार करते हैं। इस विषय में स्वामी सदाफल देव जी ने भी अपना मत प्रकट किया है–

करता धरता सृष्टि का, नियमन पूषण ईश।
साक्षी कर्माध्यक्ष है, फलप्रद न्यायाधीश।।[22]

अर्थात जो सम्पूर्ण संसार का स्रष्टा अथवा नियामक है। पालन पोषण करने वाला है। जो हमारे कर्मो का साक्षी है और जो कर्मानुसार फल प्रदान करनेवाला दुनिया का सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश है, उसी महान सत्ता को 'ईश्वर' नाम से संबोधित किया जाता है।

साकार और निराकार के झगडे को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा कि–

निराकार नहिं वस्तु है, सब कर होत स्वरूप।
जड़ चेतन दो भेद हैं, रूपहिं रूप अनूप।।[23]

दुनिया में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका स्वरूप न हो अर्थात दुनिया में समस्त तत्वों का अपना स्वरूप होता है। वे सारे तत्व दो रूपों में जाने जाते हैं 1– जड़ और 2–चेतन। जैसे हमें सूक्ष्माति–सूक्ष्म पदार्थों को देखने के लिए सूक्ष्म दर्शी यन्त्र की जरूरत होती है उसी प्रकार वह ईश्वर दुनिया के समस्त तत्वों में शूक्ष्म है। अस्तु उसको देखने के लिए शूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है जिसे तात्त्विक दृष्टि या आनुभविक दृष्टि कहते हैं।

(4) धर्म–दर्शन (Philosophy of Religion)– ईश्वर विज्ञान और धर्म दर्शन में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं है। उसमें ईश्वर के अस्तित्व पर जिज्ञासा और समाधान प्रस्तुत किया जाता है और इसमें मानव के लिए आचरणीय तत्त्वों पर चिंतन प्रस्तुत किया जाता है।

धर्म शब्द संस्कृत व्याकरण के 'धृ धारणे' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसकी व्युत्पत्ति होती है "धारयति इति धर्मः" अर्थात् जिस उत्तम गुण व्यवहार को धारण किया जाता है वही धर्म है।

धर्मनीति व्यवहार ले, पंच विषय संग संत।
नियमित हरि माया रहे, जीवन सुभग सुमंत।।
धर्म नीति अरु न्याय से, समदर्शी संसार।
भू व्यापक यह धर्म है, भूमण्डल परचार ।।[24]
सुख व शांति संसार के, धर्म नीति व्यवहार।
साशक भूमण्डल रहैं, जग अध्यात्म प्रचार।।[25]

(5) प्रमाण विज्ञान (Epistemology)–प्रमाण विज्ञान को ही दूसरे शब्दों में ज्ञान–मीमांसा भी कहते हैं, इसको आंग्ल भाषा में Epistemology कहा जाता है। यह दो शब्दों Episteme (Knowledgelogos) (theory) से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है मीमांसा या ज्ञान शास्त्र। दर्शन शास्त्र की प्रथम तीन शाखाएँ सत्ता (Reality) का विवेचन करती हैं और प्रमाण विज्ञान सत्ता के ज्ञान का विवेचन करता है। दर्शन की सभी शाखाओं को अपने सिद्धांत निरूपण के निमित्त इसका आश्रय लेना पड़ता है। विहंगम योग दर्शन में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है। ज्ञान की परिभाषा देते हुए सद्गुरुदेव कहते हैं–

जो वस्तू जैसा रहे, तैसा वाको जान।
रूप बोध निर्भ्रांत है, संशयहिन सज्ञान।।[26]

अर्थात् जो वस्तु जैसा है उसको वैसा, यथारूप जानना ही ज्ञान है, जिसके द्वारा किसी तत्त्व के रूप का निर्भ्रांत और संशय रहित बोध हो ज्ञान कहलाता है। किसी भी ज्ञान के सत्यता की परख के लिए प्रायः समस्त दर्शनों के द्वारा प्रमाण मीमांसा प्रस्तुत की जाती है। जैसे–सांख्य और योग दर्शन में तीन तीन प्रमाण– प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का आश्रय लिया गया है। न्याय आदि में चार प्रमाण

हैं। उसी प्रकार महर्षि सदाफलदेव जी ने पांच प्रकार के प्रमाणों को वर्णित किया है।

अनूमान उपमान है, अवर शब्द परमान।
वन प्रत्यक्ष क्रम सृष्टि का, पाँच परिक्षा ज्ञान।।[27]

उपरोक्त दोहे में महर्षि सदाफलदेव जी ने ज्ञान की पांच परीक्षाओं का वर्णन किया है। इस विषय में आचार्य धर्मचन्द्र देव जी लिखते हैं–"प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और सृष्टि क्रम ये पांच परीक्षाएं होती हैं। इनके द्वारा सर्व पदार्थों की परीक्षा करके बोध प्राप्त करना चाहिए। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो भ्रमरहित ज्ञान प्राप्त होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष साधन द्वारा अप्रत्यक्ष पदार्थ की जो सिद्धि की जाती है, उसको अनुमान कहते हैं, जैसे धूम्र से अग्नि का, कार्य से कारण का गुण से गुणी का, पुत्र से पिता का अनुमान होता है। सादृश्य तुल्य वस्तु की उपमा देकर किसी पदार्थ की सिद्धि की जाती है, उसको उपमान कहते हैं, जैसे सूर्य के समान प्रकाश या चन्द्रमा के समान मुख है, इसको उपमान कहते हैं। सद्गुरुओं के आप्त वचन को शब्द कहते हैं। माता–पिता द्वारा सन्तान होती है। इस क्रम को सृष्टिक्रम कहते हैं। प्रकृति के नियम व्यवस्था के अनुसार व्यवहार को सृष्टिक्रम कहते हैं। ये पाँच परीक्षायें हैं, जिनके द्वारा सब वस्तुयें परीक्षा करके जानी जाती है और माननीय होती है"।[28]

आप्त पुरुष का वचन ही, जग को है प्रमाण।
आप्त आप्त पहिचानते, व अनुरागी जान।।[29]

आप्त पुरुष का वचन ही जगत् या संसार के लिए प्रमाण है। क्योंकि उस आप्त पुरुष ने उस परम तत्त्व ईश्वर का साक्षात्कार किया है। इसलिए ऐसे महापुरुष को आप्त पुरुष या ऋषि कहा जाता है।

साक्षात्कृत धर्माण ऋषयः बभूवु[30]

निरुक्त में स्पष्ट निर्देश है कि आप्त पुरुष जिसने तत्त्वों का साक्षात्कार कर लिया है। वह तत्व–द्रष्टा ही 'ऋषि' है।

(6) तर्क–विज्ञान (Logic)– इसका मुख्य विषय अनुमान और उसकी प्रमाणिकता है। अर्थात दर्शन के सैद्धांतिक सिद्धि के निमित्त जिन–जिन युक्तियों का प्रयोग किया जाता है उसे तर्क विज्ञान कहते हैं। विहंगम योग दर्शन के सैद्धांतिक निरूपण के निमित्त भी स्वामी जी ने अपने सैद्धान्तिक ग्रंथों में तर्क प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विहंगम योग में तर्क विज्ञान को भी महत्त्व दिया गया है।

(7) नीति–विज्ञान (Ethics)– इसको आचार शास्त्र भी कहते हैं और प्रत्येक दर्शन की अपनी– अपनी आचार संहिता होती है। जिसमें कर्तव्य अथवा अकर्तव्य कर्मों का विवेचन होता है तथा जिसमें शुभ–अशुभ, उचित–अनुचित वांछनीय–

अवांछनी आदि का विचार किया जाता है, उसे 'नीति–विज्ञान' या आचार शास्त्र कहा जाता है।

ग्रहण करो गुण जगत से ऐगुण देख न कोय।
ऐगुण देखो आपमें त्याग यतन कर सोय।।[31]

अर्थात दूसरे का अवगुण न देखकर उसका गुण ग्रहण करना चाहिए और अपने दुर्गुण को देखकर उसका यत्न पूर्वक त्याग करना चाहिए।

(8) सौन्दर्य विज्ञान (Aesthetics)–दर्शन की इस शाखा का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य का दार्शनिक विवेचन करना है। प्रायः सौन्दर्यानुभूति किसी न किसी रूप में सबको होती है, कोई न कोई चीज सबको सुन्दर लगती है। इसी सौन्दर्यानुभूति का विश्लेषण तथा सुन्दर–असुन्दर के परख की कसौटी बतलाना सौन्दर्य विज्ञान का अभीष्ट है। इस शाखा में सौंदर्य के स्वरूप, महत्त्व, उसकी वास्तविकता, सौन्दर्यनुभाव का अन्य अनुभवों के साथ सम्बन्ध आदि का विवेचन किया जाता है।

पीले प्याला प्रेम का, मुख पर लाली आय।
प्रिय मुख ज्यों लाली पड़ी, वह छवि बरनि न जाय।।[32]
सुन्दर रूप निरन्तर दरशे।
पुष्प वास इव आतम पारसे।।[33]

(9) मूल्य–विज्ञान (Axiology)– जीवन में मूल्यों की उपयोगिता कदम–कदम पर होती है। व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन की गतिविधि उन मूल्यों के अनुरूप होती है जिसमें उनकी आस्था रहती है। स्वामी जी ने भी जीवन के मूल्यों का वर्णन किया है–

आलस निद्रा त्याग कर, जाग भजन में लाग।
जीवन समय अमूल्य है, फिर ऐसा कहँ पाग।।[34]

(10) भाषा दर्शन (Philosophy of Language)–दर्शन की इस शाखा का प्रयोग पिछले कुछ वर्षों से किया जा रहा है। विशेषकर सन 1920 के बाद से इस शाखा का प्रयोग किया जाने लगा। इस क्षेत्र में स्वामी जी ने भी बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है और उन्होंने हिन्दी और संस्कृत भाषा के उत्थान के लिए अभूतपूर्व कार्य किया है।

(11) विज्ञान दर्शन (Philosophy of Science)–दर्शन की इस शाखा का भी प्रचार पिछले कुछ वर्षों से ही है। इसमें विज्ञान की तार्किक व सैद्धांतिक समस्याओं को अपना आधार बनाकर अपने मत का प्रतिपादन किया जाता है। स्वामी सदाफल देव जी ने अपने सैद्धांति मत को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के निमित्त एक ग्रन्थ का सृजन किया है, जिसका नाम है–'विज्ञान– दर्शन'। इस ग्रन्थ में विहंगम योग के वैज्ञानिक सिद्धांतो का प्रमाण है।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपरोक्त साक्ष्यों व प्रमाणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'विहंगम योग,' दर्शन शास्त्र की उन समस्त शाखाओं का वर्णन करता है, जिनको समकालीन अथवा प्राच्य भारतीय दार्शनिक परम्परा में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं–कहीं इसमें महर्षि सदाफलदेव जी महाराज का स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन भी दृष्टिगोचर होता है।

अस्तु यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'विहंगम योग दर्शन' के वर्तमान आविष्कारक महर्षि सदाफल देव जी महाराज न सिर्फ एक महान योगी थे अपितु वे एक महान चिन्तक, विचारक और तत्त्वद्रष्टा युगऋषि भी थे। उन्होंने 'स्वर्वेद' सहित कुल 35 दिव्य सद्ग्रन्थों की रचना कर अपने दार्शनिक मत को बहुत ही दृढ़ता से प्रतिपादित किया है। इस प्रकार उनके दार्शनिक चिंतन की गहनता को देखते हुए उनको समकालीन भारतीय दार्शनिकों की श्रेणी में स्वीकार किया जा सकता है।

संदर्भ

1. सद्गुरु आचार्य धर्म चन्द्रदेव जी महाराज– दिव्य जीवन कथा–सुकृत ऑफसेट प्रेस–छतनाग रोड, गंगातट झूँसी, प्रयागराज (उ.प्र.) चतुर्थ संस्करण–सन्–2016 ई. पृष्ठ–94
2. वही–पृष्ठ–102 (यह चौपाई श्रीराम चरित मानस में भी वालकण्ड में है)
3. रुधादिगण–7 पाणिनिमुनि प्रणीत– धातु–पाठ –रामलाल कपूर ट्रस्ट, ग्राम–रेवली पो.– शाहपुर तुर्क, जिला –सोनीपत, हरियाणा–षष्ठ संस्करण–2001 पृष्ठ–41
4. वही– चुरादिगण–231, पृष्ठ–52
5. वही– दिवादिगण–66, पृष्ठ–32
6. महर्षि सद्गुरु सदाफलदेव जी महाराज–स्वर्वेद (मूल) मण्डल– 4 अध्याय–2 दोहा–11, सुकृत ऑफसेट प्रेस, गंगातट, झूँसी, प्रयागराज (उ.प्र.) प्रथम संस्करण–2016, पृष्ठ–184
7. वही 5/1/17, पृष्ठ–252
8. वही 4/2/7, पृष्ठ–183
9. वही
10. सुखनन्दन सिंह 'सदय'–विहंगम योग एक झलक– सुकृत ऑफसेट प्रेस, गंगातट, झूँसी, प्रयागराज (उ.प्र.) सप्तम् संस्करण–2014 पृष्ठ– 3
11. महर्षि सद्गुरु सदाफलदेव जी महाराज– 'शब्द– प्रकाश–17 सुकृत ऑफसेट प्रेस, गंगातट, झूँसी, प्रयागराज (उ.प्र.) चतुर्थ संस्करण– 2016 ई.पृष्ठ–7

12. सद्गुरु सदाफलदेव जी महाराज– 'विहंगम योग– प्रकाश' सुकृत ऑफसेट प्रेस, महर्षि सदाफलदेव आश्रम, गंगातट झूँसी प्रयागराज (उ.प्र.) तृतीय संस्करण सं.–2051 पृष्ठ–1
13. यजुर्वेद संहिता–12/4 – चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान– 38 यू.ए. जवाहर, नगर, बंगलो रोड, दिल्ली– पुनर्मुद्रित संस्करण–2016 पृष्ठ–43
14. वराहोपनिषद् 4/36 'उपनिषज्ज्ञान ज्योतिः' श्रीगुरुकृपा आश्रम, सुन्दरा, आणन्द प्रथम संस्करण सं.– 2070 पृष्ठ–241
15. वही– 4/34,35
16. वही– 4/38
17. स्वर्वेद– 3/2/33 सन्दर्भ–6 पृष्ठ– 147
18. प्रो. राजेन्द्र प्रसाद– दर्शनशास्त्र की रूपरेखा–मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली– पुनर्मुद्रित संस्करण–2011 पृष्ठ–23–24
19. स्वर्वेद–1/1/7,8,9 सन्दर्भ– 6 पृष्ठ– 2
20. वही–1/2/33 पृष्ठ– 13
21. वही–1/2/41 पृष्ठ– 14
22. वही–2/6/8 पृष्ठ– 103
23. वही–5/8/82 पृष्ठ– 310
24. वही–4/10/31, 40 पृष्ठ– 230, 231
25. वही–4/12/20 पृष्ठ– 238
26. वही–4/4/3 पृष्ठ– 194
27. वही–2/8/16 पृष्ठ– 119
28. सद्गुरु आचार्य धर्म चन्द्र देव जी महाराज– 'स्वर्वेद भाष्य'– 2/8/16 सुकृत ऑफसेट प्रेस, गंगातट झूंसी, प्रयागराज, (उ.प्र.) अष्टादश संस्करण– 2015 पृष्ठ–146
29. स्वर्वेद 3/2/19 सन्दर्भ– 6 पृष्ठ – 146
30. निरुक्त–1/20 'निरुक्त शास्त्रम'–रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत हरियाणा–द्वितीय संस्करण– 2004 ई. पृष्ठ. 64
31. स्वर्वेद–2/7/1 सन्दर्भ– 6 पृष्ट–110
32. वही–1/4/12 पृष्ट– 25
33. वही–(स्वर्वेद उत्तरार्द्ध) 6/1/20/6 पृ. 391
34. वही–3/7/1 पृष्ट– 162

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

एपिक्यूरस और चार्वाक दर्शन का सुख के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन

भव्यता चौहान *

भूमिका : जब से इस सृष्टि पर मानव प्रजाति अनुदित हुई है, तभी से इस प्रजाति ने अपनी उन्नति का निरंतर प्रयास किया है। मनुष्य जाति की बौद्धिक सम्पदा का ही परिणाम है जिसने उसे विचित्र कार्यों, खोज व आविष्कारों के लिए प्रेरित किया परन्तु यह उन्नति तब विफल हो जाती है, जब सारी मूलभूत सुख–सुविधाओं के बाद भी मनुष्य का जीवन पीड़ा, कष्ट और दुख में व्यतीत होने लग जाता है। कभी–कभी जीवन की आधारभूत सुविधाओं के बावजूद भी वो सुखी नहीं हो पाता। जिसके चलते वो मानसिक व शारीरिक रूप से अनेक बीमारियों से ग्रसित हो जाता है जैसे तनाव, उत्कंठा डिप्रेशन इत्यादि। विकास के इस युग में मानव आज 'तकनीकी और विलासिता' का आदि बन चूका है। मानव प्रवृति उपभोग और लालच में खुद को विलीन करती नज़र आ रही है, इन्हीं कुछ कारणों के चलते मनुष्य सुख के सच्चे मार्ग से कोसों दूर होता जा रहा है। जहाँ कुछ लोग सुखी ना होने के कारण से ईर्ष्या, द्वेष, लूट, डकैती, चोरी, क़त्ल करने तक को आतुर हो जाते है वही कुछ लोग आत्महत्या जैसा निष्ठुर प्रयास भी करते हैं। हमारे समाज के ऐसे ही कुछ आंकड़े प्रतिवर्ष बढ़ रहे है, जो की बेहद चिंताजनक है। यहाँ परेशानियों का हल खोजने के साथ ये समझना बेहद ज़रूरी है की मनुष्य इन परेशानियों में क्यों फंस जाता है? क्यों मनुष्य इस जीवन में सच्चे सुख का अनुभव नहीं कर पाता है? ऐसे में मनुष्य को पुनः अपने मूल्यों और आदर्शों को टटोलने की जरूरत है। ऐसे में दर्शनशास्त्र का अध्ययन मानव समाज के लिए बहुत कल्याणकारी सिद्ध होगा। दर्शन की मुख्य समस्याएं ईश्वर, मोक्ष, मूलतत्त्व के साथ –साथ एक योग्य व सार्थक जीवन जीने की भी हैं। जिसका हल बहुत से दार्शनिकों ने देने का प्रयास भी किया है। उन दार्शनिकों के दर्शन

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान महाविद्यालय, अजमेर (राजस्थान)*

का अध्ययन करके हम इस जीवन की असल मार्मिकता को समझ सकते है। इस जीवन में सुख और सुखी जीवन की आधारशिला रख सकते है। इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए दर्शन के दो विभिन्न काल खंड के दर्शनों का चयन किया गया है 'तुलनात्मक अध्ययन' के उद्देश्य से। जिसमें पहला दर्शन है एपिक्यूरस का दर्शन और दूसरा है चार्वाक का दर्शन। एक और एपिक्यूरस का दर्शन पाश्चात्य ग्रीक दर्शन परंपरा का है वहीं दूसरी और चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शन की भी नास्तिक परंपरा का है।

सुखवाद (Hedonism) : दर्शन का एक मुख्य अंग हैं 'नीतिशास्त्र' जिसके अंतर्गत सभी नैतिक आचरण व मूल्यों की अभिपुष्टि की जाती हैं और फिर निर्माण होता हैं सिद्धांतों का जिसका मनुष्य के जीवन पर सीधा असर पड़ता है। नैतिकता के मापदंड जो मनुष्य अपने लिए तय करता है उसी के अनुसार फल प्राप्त करता है और वही नैतिकता जब व्यक्तिगत रूप से सामूहिक नैतिकता का रूप लेती है जो अंततः तय करती है समाज के उद्धार और पतन के मार्ग। दर्शन में वह मत जो सुख को मानव जीवन का परम लक्ष्य मानता है, वह सुखवाद कहलाता है। सुखवाद के अनुसार अच्छाई वह है जो सुख व आनंद की अनुभूति प्रदान करती हो और साथ ही दुःख और पीड़ा से निदान दिलाने में कारगर सिद्ध हो। सुखवाद के भी कई रूप है जिसमें नैतिक सुखवाद, मनोवैज्ञानिक सुखवाद, स्वार्थ मूलक, परार्थ मूलक, निकृष्ट सुखवाद, उत्कृष्ट सुखवाद इत्यादि शामिल है। सुखवाद का मुख्य विचार इस प्रकार है कि सुख ही मनुष्य का मुख्य निर्णायक गुण है, जो उसके स्वभाव और समस्त क्रियाकलाप को निर्धारित करता है। पाश्चात्य दर्शन में भी सुखवाद का प्रारम्भ अरिस्टिपस के साइरेनिक्स को माना जाता है, जिनका यह कथन था कि 'एक अच्छे जीवन का लक्ष्य उस क्षण का भावनात्मक आनंद होना चाहिए'। जीवन की सार्थकता तो प्रत्येक क्षण में जितना संभव हो उतना आनंद एकत्र करने की है। सुखवादी दर्शन में भी अनेक कई दर्शन है जिनमें साइनिसिस्म, स्टोईसीस्म, उपयोगितावाद, अस्तित्ववाद, एपिक्यूरियनवाद व चार्वाक दर्शन सहित अन्य कई दर्शन हैं जो सुखवाद के सिद्धांतों को हमारे समक्ष रखते हैं। जिनमें कुछ प्रश्नों के उत्तर व कुछ समस्याओं का हल खोजा जा सकता हैं जैसे सुख क्या हैं? सुखी कैसे रहा जा सकता हैं? सुख किस सीमा तक प्राप्त किया जा सकता है? दुःख को किस प्रकार निम्न किया जा सकता हैं? सुखी जीवन जीने के लिए हमारे मूल कर्तव्य और जीवनशैली किस प्रकार होनी चाहिए? इत्यादि।

एपिक्यूरस : एपिक्यूरस (341–270) प्राचीन हेलेनिस्टिक काल के यूनानी दार्शनिक थे । सुखवादी दर्शन के अंतर्गत नैतिक सुखवाद इस बात को परिभाषित करता है कि हर मनुष्य को सुख प्राप्ति का प्रयास सन्मार्ग से करना चाहिए वहीं मनोवैज्ञानिक सुखवाद इस बात की अगुवाई करता है की हर व्यक्ति के मूल में

सुख प्राप्ति की इच्छा प्राकृतिक रूप से निहित होती है, इसीलिए ये कहा जा सकता है कि एपिक्यूरस का नैतिक सुखवाद उनके मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है [1] क्योंकि वह सन्मार्ग से सुख प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करते है और सुख को व्यक्ति की स्वाभाविक मूल आकांशा स्वीकार करते है। इसी बीच वो ये कहते है की एक दार्शनिक व्यक्ति ही सबसे अधिक सुखी व्यक्ति होता है क्योंकि वो परिवर्तनशील व अस्थाई सुख के बजाय स्थाई सुख को चुनता है।

एपिक्यूरस सुख व आनंद की खोज को जीवन की सर्वोच्च अच्छाई के रूप में भी स्वीकार करते हैं साथ ही वो इस बात के लिए भी सचेत करते है की हमें आनंददायक कृत्यों और वस्तुओं का गुलाम बनने से सावधान रहना चाहिए। आनंद की खोज को नैतिक आत्म–संयम द्वारा नियंत्रित करना बेहद आवश्यक है और स्वयं के द्वारा किसी भी कृत्य से दूसरों को नुकसान पहुंचाने की नियत कभी नहीं रखनी चाहिए। हमें अनावश्यक सुख की चाह में झूठी प्रतिस्पर्धा से भी बचना चाहिए परन्तु फिर भी एपिक्यूरस सुखी जीवन को मनुष्य के जीवन की पहली जरूरत तो मानते ही हैं। जब ये प्रश्न एपिक्यूरस से किया गया की सुख क्या है? वो इसका जवाब देते हुए कहते है की "Pleasure is our first and kindred good- It is the starting point of every choice and of every aversion] and to it we always come back] in as much as we make feeling the rule by which to judge of every good thing"[2]

'सुख' का एक पारम्परिक मत ये है की सुखी जीवन की लालसा रखना सही नहीं होती है, जिस कारण से अन्य दार्शनिकों द्वारा एपिक्यूरस व उनके अनुयायियों पर अत्यधिक सुख भोगने वाले दर्शन का भी आक्षेप लगता रहा है, परन्तु कालांतर में इस दर्शन ने अपनी सभी आलोचनाओं को गलत साबित किया है और एपिक्यूरस का दर्शन सुखवादी दर्शनों में उच्च श्रेणी में रखा जाता है। सुख के दो रूपों में वो 'चल' सुख और 'स्थिर' सुख को परिभाषित करते है एपिक्यूरस का कहना है कि जब सुख क्षणिक हो या कुछ समय तक ही रहे वो 'चल' सुख है जैसे अपना पसंदीदा भोजन खाना, पसंदीदा खेल खेलना इत्यादि। जब किसी कार्य के पश्चात कोई ज़रूरत या कमी नहीं रह जाती है, वह स्थिति अपने आप में आनंददायक एवं सुखी होती है एपिक्यूरस इसे 'स्थिर' सुख कहते हैं और उनकी दृष्टि में 'स्थिर' सुख सर्वोत्तम सुख हैं। हमें ज़िन्दगी की तमाम छोटी बड़ी चीज़ों में संतुष्ट होना आना चाहिए। हमारा ध्यान मन की आंतरिक शान्ति पर हो जिसे एटारेक्सीया (ataraxia) 'चिंताओं से मुक्ति' कहा गया है, एपिक्यूरस के अनुसार सुख एक आंतरिक मूल्य है, जैसे मन की शांति सुख की अनुभूति से प्राप्त होती है। वहीं जिसके पास मन की शांति है वह न तो खुद को परेशान करता है ना दूसरों को। मृत्यु का भय जिसकी चिंता आमतौर पर हर व्यक्ति करता है परंतु एपिक्यूरस के कहे अनुसार मृत्यु की भी चिंता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वो पूरी तरह अनावश्यक हैं। मौत के बाद वैसे भी व्यक्ति कुछ भी महसूस नहीं

कर सकता है ऐसे में मृत्यु का डर निरर्थक है। 'मृत्यु के भय से मुक्ति' को अपोनिआ (aponia) कहा गया हैं। एटारेक्सीया और अपोनिआ पर उनका कथन इस प्रकार है –

"When we say that pleasure is the end and aim we do not mean the pleasures of the insatiable or the simple pleasures of sensuality but the absence of pain in the body (aponia) and of trouble in the soul (ataraxia)"

उनके अनुसार मित्रता सुख प्राप्त करने के लिए बेहद ज़रूरी है आप खुद को अधिक सुखी तब भी महसूस कर सकेंगे जब आप अपने मित्रों के साथ दार्शनिक चर्चाओं में हिस्सा लेंगे उनसे अन्य विषयों पर बातचीत करेंगे। जहाँ तक ईश्वर का प्रश्न है वो कहते है की यह धारणा की हम अपने बुरे कर्मों के अंतर्गत ईश्वर के द्वारा दंड भुगतेंगे। ईश्वर के कारण इस भय का उत्पन्न होना, वर्तमान को दुःख की ओर धकेलता है, ईश्वर सर्वव्यापी है परन्तु उनका हमारे जीवन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है इसीलिए हमारे मन में ईश्वर का डर नहीं होना चाहिए। मनुष्य पूरी तरह कार्य करने के लिए अथवा अपनी खुशियों को चुनने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र है वो किसी भी रूप में बाध्य नहीं है ये भी एक वजह है जिसके कारण हमें ईश्वर से भय नहीं रखना चाहिए। मनुष्य के कार्य अंततः डर और दर्द से मुक्ति के लिए होने चाहिए इस पर एपिक्यूरस का कथन इस प्रकार है –

"The end of all our actions is to be free from pain and fear; and when once we have attained this, all the tempest of the soul is laid, seeing that the living creature has not to go to find something that is wanting, or to seek something else by which the good of the soul and of the body will be fulfilled." [3]

अपने एक चर्चित पत्र 'अ लेटर टू इडोमेनस' में एपिक्यूरस ने अपने जीवन के आखिरी दिनों में भी अत्यंत शारीरिक पीड़ा के बावजूद उन्होंने खुद को सुखी माना हैं, जहाँ उन्होंने ये दर्शाया की व्यक्ति अपने मुश्किल दौर में भी अपने सुख के पलों को याद करें तो खुद को सुखी अनुभव कर सकता है।

एपिक्यूरस ये मानते है की सुख को समझने के लिए भी बुद्धि की आवश्यकता होती है। कुछ पीड़ाएं व दर्द भी खुशी तक पहुँचने का ज़रिया होते है। कुछ दर्द आपको जीवन में और दर्द की तरफ धकेलेंगे और कुछ आपको करुणा और ज़िन्दगी की तरफ जो की एक सुखी जीवन की सबसे उच्च कोटि की अवस्था है। यहाँ ये भी ध्यान में रखने की बात है की हर पीड़ा से दूर भागना सही नहीं है, बस उन्हीं पीड़ाओं से दूर रहना चाहिए जो आपको और अधिक पीड़ित बनाएंगी। जब प्रश्न उठता है की किस प्रकार सुख के स्रोत हो आंतरिक या बाह्य ऐसे में भी ऐसे में एपिक्यूरस आंतरिक स्रोत की और अधिक प्रविष्ट है। वो कहते है की जितना हो सके बाह्य स्रोतों से स्वतंत्र रहना चाहिए। जो व्यक्ति जीवन में साधारण चीज़ों में संतुष्ट रहता है वो व्यक्ति कभी निराश नहीं होगा। जब आप

अपनी ज़िन्दगी में विलासिता पूर्ण ज़िन्दगी को सुख का आधार समझते है तो उस विलासिता के चले जाने पर आप दुखी हो सकते है, चिंतित हो सकते है। जितना अधिक आप विलासिता की और उनमुख होंगे उतना अधिक आप निराशा और चिंता की और उनमुख होंगे। एपिक्यूरस घोर सुखवाद की भी उपेक्षा करते थे जो की अत्यधिक इन्द्रिय सुख पर बल देता है।

चार्वाक दर्शन : चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शन प्रणाली के अंतर्गत आता हैं। जो नास्तिक (वेद विरोधी) दर्शनों में एक प्रभावी दर्शन है, जिसे और भी नामों से पुकारा जाता है जैसे लोकायत, बृहस्पति दर्शन, पूर्वपक्ष आदि। **'लोक' शब्द का विवक्षित अर्थ है– संसार और 'आयत' शब्द का अर्थ है दीर्घतात्मक विस्तार।**[4] लोकायत–दर्शन को लोकायत कहने का कारण जो लोगों द्वारा गृहण किया गया है वो दर्शन लोकायत दर्शन कहलाता है। लोकायत दर्शन एक वस्तुवादी दर्शन हैं। वास्तविकता तो यह है कि, विश्व का अधिकांशतः मानव जो जीवन जीता है वह चार्वाक दर्शन ही है। रमणीय वाक्यों के प्रयोग वश चार्वाक दर्शन को लोकायत दर्शन के नाम से भी जानते हैं। सुखवादी दर्शन कहलाने के कारण चार्वाक दर्शन की भी काफी आलोचना की गई है परंतु इस सुखवादी के कुछ अंश तो वेदों से भी प्राप्त होते है। चार्वाक तर्क देते हुए कहते है की वेदों में भी धन, यश, रस काम आदि को बहुत महत्व दिया गया है, परन्तु वेदों को फिर भी श्रेष्ठ ज्ञान कहा जाता हैं, ऐसे कई दार्शनिकों का मत है की चार्वाक दर्शन की आलोचनाओं का मुख्य कारण उनका सुखवाद न होकर अपितु घोर अधार्मिक होना है। साथ ही कर्मकांड, वेद, उपनिषद को सत्य न स्वीकार करना भी मुख्य कारण सिद्ध होता है। यह सुखवादी दर्शनों में अग्रणी है और इस दर्शन का स्पष्ट कथन इस प्रकार है की "जबकि जीवन तुम्हारा है, आनंद से जियो; मौत की खोजी नज़र से कोई नहीं बच सकताः जब एक बार हमारा यह ढांचा जल जाता है, तो यह दोबारा कैसे वापस आएगा?" एवं **यावज्जीवं सुखं जीवेत्रास्ती मृत्युगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?** [5]

जब तक जीवन रहे सुख से जीना चाहिए, ऐसा कोई नहीं जिसके पास मृत्यु ना जा सके; जब शरीर एक बार जल जाता हैं, तब इसका पुनः आगमन कैसे हो सकता हैं?[6] सुख शरीरात्मा का एक आगंतुक भाव हैं और इसलिए वो उसका गुण हैं।[7] दुःख को समझें बिना दुखाभावस्वरुप सुख नहीं समझा जा सकेगा और सुख को समझें बिना सुखभावस्वरुप दुःख को नहीं समझा जा सकेगा।[8] चार्वाक ने उसी सुख को प्राथमिकता दी है जो नजदीक हो। जो अधिक सुखकर या सुखदायक है वही शुभ है। सुख की आकांक्षा आलोचना का विषय नहीं अपितु उच्च चिंतन का विषय है। चार्वाक दर्शन ये कहता है कि इसी जीवन में अच्छा भोजन, इन्द्रिय सुख और आरामदायक वस्तुओं उपभोग करना ही स्वर्ग है। वही वास्तविक सुख वो है जिसका प्रत्यक्ष हो सके। पूर्व जन्म की धारणा या आने वाले

जन्म में आनंद की कामना या किसी कार्य को पूर्ण करने की मंशा रखना मूर्खता हैं, क्योंकि दूसरे जन्म का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

चार्वाक के अनुसार धर्म का नैतिक जीवन में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं है। क्योंकि धर्म का उपयोग कुछ लोगों ने अपनी आजीविका चलाने के लिए किया है जैसे कुटिल पुजारियों के द्वारा साधारण लोगों को मूर्ख बनाकर उन्हें वेद और उपनिषदों का त्रुटिपूर्ण ज्ञान दिया गया हैं। पाप–पुण्य, स्वर्ग–नर्क की अवधारणा से लोगों को भयभीत किया गया है।

"किसी भी प्राणी से अर्थित हो, प्राणी की कामना का अर्थात्प्राप्य रूप में उसकी इच्छा का विषय हो, वह है 'अर्थ'। अतः चार्वाक–सिद्धान्त में अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ रूप से मान्य हैं।"[9]

चार्वाक ईश्वर और परलोक को भी नहीं मानते हैं। परलोक को ना मानने के पीछे इनका तर्क है की जिस चीज़ का प्रत्यक्ष ना हो सके वो विश्वसनीय नहीं है। सिर्फ प्रत्यक्ष प्रमाण ही एकमात्र प्रमाण हैं। नास्तिक चार्वाक दर्शन जो कुछ बाहरी इन्द्रियों से दिखाई देता है अनुभूत होता है, उसी की सत्ता को स्वीकार करता है। ईश्वर को न मानने पर शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल की व्यवस्था कैसे सम्भव होगी? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए चार्वाक कहते हैं की एक लौकिक तथा दूसरा अलौकिक कर्म होता हैं।

यदि आप अलौकिक कर्मों के फल की व्यवस्था के सन्दर्भ में चिंतित हैं तो यह चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि पारलौकिक फल की दृष्टि से विहित ये सभी यज्ञ, पूजा, पाठ तपस्या आदि वैदिक कर्म अन्य सरल मनुष्यों को ठगने की दृष्टि से तथा अपनी आजीविका का भरण पोषण की युक्ति हैं। इन वैदिक कर्मों के फल का भी कोई प्रत्यक्ष नहीं होता हैं। अतः आज तक किसी को भी इन वैदिक अनुष्ठानों, वर्णाश्रम–व्यवस्थाओं, कर्मों के फल, स्वर्ग, मोक्ष आदि की कोई प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं है अतः ये समस्त वैदिक कर्म निष्फल ही हैं।

सर्वदर्शनसंग्रह जो माधवाचार्य द्वारा लिखित हैं उसमें भी चार्वाक दर्शन का आधार सुख ही हैं और जीवन का प्रधान लक्ष्य है 'सुखवाद'। चार्वाक कहते हैं की संसार में दुःख भी है, यह समझकर जो सुख नहीं भोगना चाहते, वे मूर्ख हैं जिस प्रकार एक मछली में काँटे होते हैं फिर भी कांटे निकाल मछली को खाया जाता हैं वैसे ही इस जीवन से हर संभव दुःख को निकाल कर सुख को भोगना चाहिए। चार्वाक देहात्मवादी हैं जो मनुष्य में आत्मा के वास को नहीं स्वीकार करता हैं। चार्वाक के अनुसार जिस प्रकार गुड़, चावल आदि के संयोग से मादकता उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों से चेतनता उत्पन्न हो जाती है जिसे भूतचैतन्यवाद कहा जाता हैं।

तुलनात्मक निष्कर्ष

1. एक ओर जहाँ एपिक्यूरस ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने के पश्चात उनसे भयमुक्त रहने के लिए कहते थे क्योंकि उनका मत इस प्रकार था

की ईश्वर का मनुष्य के जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं हैं, वहीं दूसरी ओर चार्वाक ईश्वर के अस्तित्व को नकार कर सृष्टि को प्राकृतिक नियोजन स्वीकार करते हैं।

2. जहाँ एपिक्यूरस कहते हैं की साधारण जीवन और अनावश्यक इच्छाओं से बचना चाहिए। भोजन और इन्द्रिय सुख से ऊपर आपके घनिष्ठ मित्रों से दार्शनिक वार्तालाप में सुख हैं। वहीं चार्वाक दर्शन ये कहता है कि इसी जीवन में अच्छा भोजन, इन्द्रिय सुख और आरामदायक वस्तुओं उपभोग करना ही स्वर्ग है। वही वास्तविक सुख है जिसका प्रत्यक्ष हो सके। प्रत्यक्ष के बिना कोई भी चीज़ सत्य नहीं हो सकती।

3. एक ओर जहाँ एपिक्यूरस किसी के साथ गलत व्यवहार या दूसरों को नुकसान ना पहुंचाने की सीख दी हैं, और चार्वाक में किसी का अहित करने की कोई भी सीख या चेष्ठा नहीं की गयी हैं, परन्तु कर्म फल में विश्वास ना करने को कहा गया हैं। सुख अर्जित करने के लिए हर प्रकार के कर्मों को निष्पादित करने के लिए प्रोत्साहित किया गया हैं।

4. एक ओर जहाँ एपिक्यूरस बौद्धिक व आंतरिक सुख की ओर अधिक उन्मुखता दिखाते है वहीं चार्वाक के लिए शारीरिक सुख ही सबसे श्रेष्ठ है ।

5. जहाँ एपिक्यूरस कहते है की मृत्यु और ईश्वर के भय से उत्पन्न दुःख को निरर्थक कहते है वहीं चार्वाक की मान्यता में दुःख के भय से सुख की चेष्टा ही समाप्त कर देना मूर्खता है ।

6. एपिक्यूरस मृत्यु से भय नहीं रखने को कहते हैं उनका कहना हैं ये भय हमारे सुखी जीवन के लिए एक बाधा हैं । वहीं चार्वाक कहते हैं की मृत्यु के पश्चात् कोई जीवन नहीं हैं । इसीलिए सुखी जीवन जीने के लिए ऋण लेने की आवश्यकता पड़े तब भी कोई परेशानी नहीं हैं ।

7. एपिक्यूरस अन्य लोगों को साथ लेकर एक सुखी जीवन जीने की बात कहते हैं वहीं चार्वाक अपने स्वयं के लिए सुखी जीवन जो आपको उचित लगे उसी तरह जीने की बात कहते हैं।

संदर्भ

1. Epicurus । Internet Encyclopaedia of Philosophy
2. Letter on Happiness : By Epicurus Translated by Alessandria Bottachin, 2015
3. The Five Great Philosophies of Life : William De Witt Hyde, 1924
4. आचार्य आनंद झा : चार्वाक दर्शन, 2016
5. सर्वदर्शनसंग्रह : माध्वाचार्य, 2021, पृ. सं. – 1
6. पृ. सं. – 1
7. चार्वाक दर्शन, आचार्य आनंद झा, पृ. सं. – 246
8. पृ. सं. – 246
9. आचार्य आनंद झा : चार्वाक दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, पृ. सं. – 37

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ

*आभाष आर्य**

भारतीय वाङ्मय में सृजन की समस्त धाराओं का निर्माण गम्भीरता, नीरवता एवं शान्ति के गहन सरोवर से हुआ है। जिनका समबन्ध अथवा आधार किसी न किसी साधना, उपासना की पद्धतियों से रहा है। वस्तुतः आत्मानुसंधान की समस्त धाराओं का सृजन साधना के शिखर से ही होता है। भारतीय वाङ्मय में स्मृति परम्परा से सम्बद्ध साधना शिखर का ख्यातिलब्ध ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता भी उसी मार्ग का दिग्दर्शन कराता है; जिसे स्मृति प्रस्थान कहा जाता है। स्मृति प्रस्थान के इस ग्रंथ में वर्णित साधना के शीर्ष को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

जब मनुष्य अपने मन में स्थित समस्त कामनाओं के ऊपर विजय प्राप्त कर लेता है, अपनी आत्मा से अपनी आत्मा में संतुष्ट हो जाता है, वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। जो राग, भय, क्रोध से मुक्त हो जाता है वह स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य 'मुनि' कहलाता है। जिसे किसी वस्तु के प्रति मोह नहीं रहता, जो शुभ को प्राप्त करके प्रसन्न नहीं होता एवं अशुभ को प्राप्त करके अप्रसन्न नहीं होता, उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। वह दुःख–सुख, लाभ–हानि, जय–पराजय समस्त स्थितियों में समान भाव रखता है एवं उसका यह संतुलन कोई तोड़ भी नहीं सकता है। जब उसके शब्द बाहर निकलते हैं तो मन के दुःख एवं सुख से बाहर नहीं निकलते अपितु आत्मा की अथाह गहराई से बाहर निकलते हैं। वह मोह की भाषा नहीं बोलता है बल्कि निष्काम कर्म की भाषा की बोलता है। स्थितप्रज्ञ के द्वारा किया गया प्रत्येक कर्म लोकसंग्रह के लिये होता है। लोकसंग्रह केवल ज्ञानी पुरूष के लिये ही संभव है क्योंकि वह समस्त कर्म अपनी व्यक्तिगत कामनाओं एवं अभिलाषाओं से मुक्त होकर करता है।

** पीएच.डी. शोधार्थी, भारतीय दर्शन, साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, जि. रायसेन, म.प्र.*

सामान्यतः स्थितप्रज्ञ का अर्थ है सुख और दुःख दोनों में समभाव रखना। राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह के आवेगों में भी सहज एवं शांत रहना। अपनी प्रज्ञा में स्थित रहना। प्रज्ञा अर्थात् अपनी मूल चैतन्य बुद्धि। वह बुद्धि जो बाहर की धारणाओं से परे है। जिसमें किसी प्रकार का आग्रह अथवा दुराग्रह नहीं है। हमारे अंदर दुःख एवं सुख व्याप्त है। हमारे अंदर विभिन्न प्रकार के संस्कार हैं। हमारे संस्कार, हमारे विचारों एवं अनुभवों से बने हैं। इनमें प्रेम के साथ घ्रणा, राग के साथ द्वेष, वैराग्य के साथ मोह, मैत्री के साथ शत्रुता, सहजता के साथ अहंकार जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार दिन के साथ रात होती है, उसी प्रकार प्रत्येक अस्तित्व के दो पहलू होते हैं। स्थितप्रज्ञ इन दोनों परिस्थियों में सम हो जाता है। स्वयं को दोनों स्थितियों में समान रखते हुए केवल दृष्टा की भांति देखता है। जीवन में विभिन्न प्रकार की स्थितियां एवं भाव आते हैं, लेकिन उनके साथ वहना नहीं है। जिस प्रकार दुःख आता है तो दुःख के साथ न वह जायें। सुख आता है, तो सुख के उत्सव में ही न डूबे रहें। हमारी पाँच इन्द्रियों मे से एक ही पर्याप्त है हमे बहा ले जाने के लिये, केवल सुगंध ही पर्याप्त है हमे मदहोश करने के लिये। केवल सुन्दरता ही हमे मोहित कर सकती है। केवल एक वेग ही हमे वासना में बहा ले जा सकता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।[1]

जिस प्रकार पवन के झोंके नाव को भटका देते हैं, उसी प्रकार काम, क्रोध और वासना बुद्धि को भटका देती है। इन्द्रियाँ बुद्धि को हर लेती है। नाव बुद्धि है और वायु मन, जिस प्रकार वायु नाव की दिशा को बदल देती है उसी प्रकार मन के वेग में बुद्धि की दिशा बदल जाती है।

सुख–दुःख, बंधन–मोक्ष की कुंजी 'मन' है। मन का जैसा स्वभाव या प्रकृति होगी मन वैसा ही आदेश इन्द्रियों को विषय ग्रहण करने के लिए देगा। इसलिए मन को विषयों की आसक्ति से मुक्त रखना चाहिए। क्योकि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि 'यदि आसक्ति का नाश न किया जाय तो ये हठी स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बुद्धिमान पुरूष के मन को भी हर लेती हैं।'[2]

मन के स्वभाव को श्रेष्ठ, कल्याणकारी और दिव्य बनाना मनुष्य के हित में है जिसका वृहद् विवरण 'श्रीमद्भगवद्गीता' में विशेष रूप से प्राप्त होता है। 'गीता सदा निश्चित रूप से अनासक्त योगी के लिए भी शुभ कर्म करने का विधान करती है; परन्तु उसमें यह कमी दिखाई देती है कि जीवन में सबके साथ पूर्ण और उचित रूचि लेने का आदेश नहीं है यद्यपि योगी सब कुछ करता हुआ भी

पूर्णतः अंतर में अप्रभावित रहता है।'[3] अनेक बार यह प्रश्न मन में आता है कि महाभारत का समय वर्तमान समय से अलग था। यद्यपि वह प्रसंग दूसरा था। वर्तमान में मनुष्य कहता है कि – मैं तो गृहस्थ हूँ, मेरे पास अनेक जिम्मेदारियाँ है, मेरे पास अनेक कामनाएँ है, तो फिर मेरे जीवन में गीता के सारे उपदेश किस प्रकार से प्रासंगिक अथवा सार्थक हो सकते हैं।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में वर्णित 'स्थितप्रज्ञ' का सामान्य अर्थ यह निकाला गया है कि– जो ठहर गया है, जिसकी गति रूक गई है, जो अविचल रहता है, भले–बुरे, कामना–अकामना से ऊपर उठ गया है वह स्थितप्रज्ञ है। वर्तमान समय में ऐसा किस प्रकार से संभव है? मनुष्य को जीवन में गतिशील रहना पड़ता है। अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने होते हैं। मनुष्य कामनाओं से युक्त प्राणी है, इसलिये वह दुःख एवं सुख से युक्त अवश्य होगा। इस प्रकार के तर्क देने वाले एक या दो नहीं वल्कि अनेक व्यक्ति हैं जिन्होंने स्थितप्रज्ञ के मर्म को नहीं समझा है।

स्थितप्रज्ञ दो शब्दों से मिलकर बना है, स्थिर एवं प्रज्ञा। यहां स्थिर से तात्पर्य रूकना अथवा ठहरना है एवं प्रज्ञा का तात्पर्य चेतना युक्त ज्ञान से है। जब मनुष्य चिंताओं से ग्रसित, भय से युक्त एवं आशंकाओं से घिरा रहता है, उस समय वह अपने सांसारिक कार्य को भलिभांति नहीं कर पाता है। वह बार–बार विचलित होता है। इसलिये स्थितप्रज्ञ होकर, चिन्ताओं से ऊपर उठकर, एकाग्र मन से अपनी आत्मा की आवाज सुनकर, अपनी आत्मा के अनुसार कार्य करता है वह प्रसन्न रहता है, सन्तुष्ट रहता है। आत्मभाव से निकली कर्म भावना में अनासक्ति होती है। इसलिए स्थितप्रज्ञ का कर्म अनासक्त भाव से होता है। जिसकी पुष्टि योगवाशिष्ठ में भी दृष्टिगोचर होती है। योगवाशिष्ठ के अनुसार– 'योगवाशिष्ठ में जीवनमुक्त स्वयं अपने कर्म ही अनासक्त होकर नहीं करता अपितु प्रत्यक्षतः दूसरों के सुख दुःख में भागीदार हो जाता है।'[4]

इस संबंध में गीता के उपदेश प्रत्येक व्यक्ति के लिये सार्थक, आवश्यक एवं प्रत्येक स्थिति में प्रेरणा देने वाले हैं। प्रत्येक कार्य में सहयोग देने वाले विचार हैं। स्थितप्रज्ञ के विषय में अर्जुन, श्रीकृष्ण से प्रश्न करता है कि– 'हे! केशव जिस व्यक्ति ने स्वयं को जान लिया है, जिसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, जो स्थिर बुद्धि वाला है, उसके लक्षण क्या हैं? वह बोलता कैसे है? उसके बैठने एवं चलने की शैली कैसी है? वह कैसे कार्य करता है?'[5] इसका अभिप्राय यह है कि अर्जुन स्थितप्रज्ञ की व्यवहारिक दशा की जानकारी श्रीकृष्ण से मांगता है। इस पर श्रीकृष्ण कहते है कि–

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।[6]

जब मनुष्य मन में स्थित, हृदय में प्रविष्ट सम्पूर्ण कामानाओं एवं अभिलाषाओं से मुक्त हो जाता है एवं अपनी आत्मा से आत्मा में संतुष्ट हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। 'जो न दुःख में दुःखी हो एवं न सुख में सुखी हो, जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये हों ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है।[7]

स्थितप्रज्ञ वह मुनि है जो सुख और दुःख दोनों ही में समान भाव रखता है। जब वह बोलता है तो मन में स्थित दुःख अथवा सुख से नहीं आत्मा की गहराई से बोलता है। वह मोह की भाषा नहीं बोलता वल्कि निष्काम कर्म की भाषा बोलता है। 'जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसी की भांति वह इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में होती हैं।'[8]

'सिद्ध पुरूषों का कोई स्वार्थ नहीं होता। उनके कार्य लोकसंग्रह के लिए, लोक–कल्याण के लिये होते हैं। ब्रह्म ज्ञान के बाद कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। सिद्ध पुरूष के लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उसका कोई कार्य शेष नहीं है। इसका अर्थ है कि उसका कोई स्वार्थ नहीं है, उसके कार्य लोक–कल्याण के लिये होते हैं। वह लोक कल्याण की कामना से कार्य नहीं करता, अपितु उसके द्वारा सम्पादित कार्यों से स्वतः लोक–कल्याण होता है, जैसे सूर्य की स्थिति मात्र से प्रकाश फैलता है।'[9] परन्तु भोग, आसक्ति आदि के बन्धनों से युक्त मनुष्य उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता है। कामनाओं एवं वासनाओं के पाश निरन्तर अन्य कामनाओं, इच्छाओं एवं वासनाओं को जन्म देते रहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।[10]

सामन्य पुरूष विषय का ध्यान करता है, विषय का ध्यान उसे आसक्त बना देता है, इस आसक्ति या लगाव से काम का जन्म होता है। जब काम की पूर्ति नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।[11]

क्रोध उत्पन्न होने से विषय के प्रति मोह और बढ़ जाता है, जब मोह बढ़ जाता है तो सोचने की शक्ति भटक जाती है, और जब सोचने की शक्ति भटक

जाती है तो बुद्धि का नाश होता है। अन्ततः बुद्धि के नाश होने पर मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

साधारण व्यक्ति अपने जीवन में मन के द्वारा दुःख एवं सुख का अनुभव करते हुए समस्त कर्मों को करता है और स्वयं को उन कर्मों का भोक्ता समझने लगता है। वह प्रत्येक कर्म कुछ पाने या कुछ भोगने के मोह में करता है, उसकी आसक्ति कर्मफल में होती है जो उसे स्वयं की तहो से उपर उठने ही नहीं देते, इन आसक्तियों के कारण वह अपने आनंदस्वरूप का अनुभव नहीं कर पाता है यही उसके बंधन है, एवं इन्हीं बंधनों से मुक्ति ही मोक्ष है।[12] 'एक राजा अखिल विश्व सम्राट बनना चाहता है। सम्राट स्वर्ग का देवता बनना चाहता है और स्वर्ग का देवता स्वर्ग के राजा इन्द्र का पद पाना चाहता है तथा इन्द्र सृष्टि के दूसरे सृजनकर्ता ब्रह्म का पद चाहता है। फिर भी भौतिक सुखों की भूख समाप्त नहीं होती।'[13] लेकिन जब कोई अपने मन को भौतिक लालसाओं और विषय भोगों से हटाना सीख लेता है तब ऐसा मनुष्य आत्मा के आंतरिक सुख की अनुभूति करता है और लोकातीत होकर सिद्धावस्था प्राप्त करता है। कठोपनिषद् में इस विषय पर वर्णन किया गया है कि– 'कामनाओं का परित्याग करने वाला मनुष्य भगवान के समान हो जाता है।'[14] जब कोई अपने मन से समस्त स्वार्थयुक्त कामनाओं का उन्मूलन करता है, तब सांसारिक बंधनों से जकड़ी जीवात्मा जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाती है और भगवान के समान सद्गुणी हो जाती है। लोकातीत अवस्था में स्थितप्रज्ञ वह है जिसने अपनी कामनाओं और इन्द्रिय तृप्ति का त्याग कर दिया है और जो आत्म संतुष्ट रहता है।

सारतः जब विषय–भोग की सारी इच्छाएं शान्त हो जाती हैं, जब मन में प्रेम और घृणा, भय और क्रोध, राग और द्वेष, हर्ष और शोक कोई विकार नहीं पैदा कर पाते, जब बाह्य इन्द्रियाँ अपने अनुचित विषयों से विरत हो जाती हैं, जब आत्मा के पूर्णतया वश में होकर इन्द्रियाँ राग–द्वेष से शून्य होकर उचित विषयों के भोग में लग जाती हैं और जब मन विपत्ति और सम्पत्ति, सुख और दुःख में पूर्णतया सम रहकर जीवन के सर्वोच्च साध्य ईश्वर मे रम जाता है, तब मुमुक्षु की प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। इसलिये स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य वह है जो मन को सुखों के लिए ललचाने और दुःखों के लिए शोक प्रकट करने की अनुमति नहीं देता। वह मन को भय और क्रोध के आवेग के आगे पराजित नहीं होने देता।

संदर्भ

1. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/62, इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।
2. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/60, यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।
3. दासगुप्ता, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास, (अनु. एम. पी. व्यास), राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2011 पृ. 205–06
4. वही,– पृ. 207
5. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/54, स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।
6. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/55, प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।
7. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/56, दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यत।।
8. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/58, यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
9. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन–आलोचन एवं अनुशीलन, मोतीलाल बनारसी प्रंकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ.19
10. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/62, ध्यायतो विषयान्पुंसः स्गस्तेषूपजायते। स्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
11. श्रीमद्भगवद्गीता– 2/63, क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।
12. विद्यारण्य स्वामी, जीवन्–मुक्ति–विवेक, (अनु. स्वामी मोक्षदानंद), अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 2022, पृ. 20
13. गरूड़ पुराण – 2/12/14, चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरत्वलाभे सकलसुरपतित्वम्। भवितुं सुरपतिरूवंगतित्वं तथापि न निवर्तते तृष्णा।।
14. कठोपनिषद् – 2/3/14, यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मोऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

बौद्ध धर्म में मानवतावाद

*सुष्मिता बनर्जी**

प्रस्तावना

मानवतावाद का अर्थ हैं मानव के अस्तित्व को महत्व देना। मानवतावाद दर्शन की एक ऐसी विचारधारा है जिसके अन्तर्गत मानव तथा उसकी समस्याओं के विवेचन को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है।[1] इस रूप में मानवतावाद से अभिप्राय उस दर्शन से रहा है जिसका केन्द्र व प्रमाण दोनों मनुष्य ही है। मानवतावाद मनुष्य के कल्याण की दृष्टि एवं सर्वतोमुखी विकास जाति, वर्ग, सम्प्रदाय को अधिक महत्व नहीं देता। इस प्रकार वर्तमान मानवतावाद का मुख्य केन्द्र जीवन और उसका उच्चतम निर्माण है।

मानवता शब्द की उत्पत्ति 'मानव' शब्द से हुई है 'मानव' शब्द में भाववाचक 'ता' प्रत्यय जुड़ने से यौगिक शब्द 'मानवता' बनता है। इसलिए मानवता का साधारण अर्थ मनुष्यत्व होता है। मानवतावाद का है जिसे आधार मानव की गहराइयों का तत्वज्ञान है जिसे अध्यात्म विद्या कहा जाता है और जिसे प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक तथा मानवतावादी स्वर्गीय सर जुलियन हक्सले ने मानवीय संभावनाओं का विज्ञान की संज्ञा दी थी और आशा व्यक्त की थी कि आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञान इसी दिशा में विकसित होगा।[2] यह एक मानवशास्त्र हैं, जिस पर भारतवर्ष ने अब से तीन हजार वर्ष से भी पहले अपने शाश्वत साहित्य उपनिषदों में शोध व विकास किया था। इस विज्ञान के प्रणेता ने महान् ऋषिगण, जिनमें पुरुष थे, नारियाँ थी यहां तक की बच्चे बुद्धिजीवी, शासक और विद्यार्थी भी थे जिनकी एकमात्र धुन थी सत्य की खोज और मानव का कल्याण। उनकी मनोवृत्ति, दृष्टिकोण और स्वभाव आज के भौतिक वैज्ञानिकों से काफी कुछ

** शोधार्थी, पी.एच.डी. (दर्शनशास्त्र), दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

मिलते–जुलते थे। दोनों के बीच अन्तर सिर्फ इतना ही है कि जहाँ आज के भौतिक विज्ञानी बाह्य जगत् में शोध करते है, इन प्राचीन भारतीय ऋषियों ने मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति के रहस्यमय जगत् पर शोध किया था। वे लोग मानव व्यक्तित्व की अतल गहराइयों तक बैठे और यह पता लगाया कि मनुष्य के पंच भौतिक शरीर के पीछे, स्नायु तंत्र के पीछे, मानसिक प्रणाली के पीछे एक अमर अनन्त और आध्यात्मिक केन्द्र भी है। मानव व्यक्तित्व के इस ज्ञान को 'शुद्ध विज्ञान' 'कहते हैं और इसे अपने जीवन व कर्म में अपनाने की तकनीक विधि को इसका व्यावहारिक विज्ञान।

मानव के दो रूप हैं 1. बाह्य रूप और 2. आन्तरिक रूप। बाह्य रूप उसका शारीरिक रूप है और आन्तरिक रूप उसकी अन्तरात्मा है। बाह्य रूप में प्रत्येक मानव एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न अवश्य है, लेकिन आन्तरिक रूप सबमें एक समान है जो शांति की खोज करता है और वह उसकी अन्तरात्मक है। मानव का भाव अथवा कर्म अर्थ में तल प्रत्यय जोड़कर 'मानवता' की निष्पत्ति हुई है। अर्थात् मनु महर्षि के विधान के अनुसार अपनी शारीरिक, मानसिक और वाचिक हलचलों को तथा पाणिपाद द्वारा होने वाले कर्मों को नियंत्रित करने वाले का नाम 'मानव है।

भारतीय दर्शन में मानवतावाद के चिन्तन का समय वेद एवं उपनिषद् काल है।[3] भारतीय दार्शनिकों ने आत्मचिंतन और आत्मविश्लेषण पर बहुत जोर दिया। आत्म–ज्ञान अथवा ब्रह्म–साक्षात्कार मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। जब मानव आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होता है तथा अपने भीतर चिर–विद्यमान दिक्–पक्ष को अभिव्यक्त करता हैं, तब वह अपने आपको प्रेम व दया के माध्यम से व्यक्त करने में सक्षम होता है और मानव के साथ–साथ पशु–पक्षियों के प्रति भी मानवीय भावनाएँ प्रदर्शित कर पाता है। जगत में इस श्रेणी के आध्यात्मिक ऊर्जा को अभिव्यक्ति भगवान बुद्ध, महावीर, ईशा, श्री रामकृष्ण, विवेकानन्द जैसे व्यक्तियों के माध्यम से हुआ करता है। उन लोगों ने प्रेम के द्वारा घृणा पर विजय प्राप्त प्राप्त की थी तथा अशान्त जनों को शान्ति तथा दुखियों को सुख प्रदान किया था।

मानवतावादी दृष्टिकोण

'मानवता विश्व बन्धुत्व की भावना हैं और सभ्यता एवं संस्कृति का मेरूदण्ड है।[4] मानवता मनुष्य को सात्विकता एवं नैतिकता की ओर ले जाती है 'मानवता' की उत्पत्ति 'मन' शब्द में बतलायी गयी जिसका एक अर्थ 'मनन करना' एवं दूसरा अर्थ है सहानुभूति रखना। मनन करना बुद्धि का और सहानुभूति रखना हृदय का

गुण समझा जाता है। अतः मन शब्द में बुद्धि और हृदय दोनों के गुणों का समावेश हो जाता है। इस तरह मानवता में मुख्य तीन गुणों का समावेश हो जाता है मनन करना, सहानुभूति रखना, निश्चय पर अटल रहना इन्हीं तीनों गुणों के मिलने से मानवता पूर्ण हो जाती है। स्पष्ट है कि मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानवता है।

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का आगमन भी धर्म के धरातल पर दुःख–दैन्य के बीच सिसकती हुई मानवता के उद्धार के लिए हुआ था। महाकरुणा बौद्ध धर्म को आधारशिला है। जब तक विश्व के क्षुद्रातिशुद्र जीवों को दुःख से मुक्ति नहीं मिल जाती तब तक बोधिसत्व अपनी मुक्ति की कामना नहीं करते हैं। बुद्ध एक नए प्रकार के मुक्त मानव के विकास का उद्देश्य लेकर चले थे। वे मानव को पूर्वाग्रहों से मुक्त देखना चाहते थे, एक ऐसा मानव उनका काम्य था जो अपनी आत्मा को अपना दीपक – 'आत्मदीप' बनाकर अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करने के लिए संकल्पित हो। ग्रीक दार्शनिक सुकरात ने भी कहा था कि–मनुष्य को सर्वप्रथम अपने आपको समझना आवश्यक है। जिस बात से हमें कष्ट होता है, वही दूसरों के लिए भी कष्टदायक हो सकता हैं। जो हमारी वेदना का आधार है वही दूसरों के लिए भी करुणा बन सकता है। अतः यदि हम अपने आपको समझ लेंगे तो दूसरों को भी समझ सकते हैं। इस प्रकार मानववाद की प्रथम सीढ़ी है–आत्म–नियंत्रण, आत्म–चिन्तन और आत्म विवेचन।

महात्मा बुद्ध मानवता के पुजारी ही नहीं वरन् शक्ति एवं प्रेरणा के स्त्रोत भी थे। उन्होने जीवन और जगत् को स्वीकार किया तथा इस समस्या में अपने को नहीं डाला कि मनुष्य अमर है या नश्वर, समीम है या असीम, जीव और शरीर एक है या अलग, अर्हत् मृत्यु के बाद बना रहता है अथवा उसके साथ विनष्ट हो जाता है। वस्तुतः उनका धर्म था मोक्ष के मार्ग का निर्देशन करना। उनके धर्म का लक्ष्य था मनुष्य को सांसारिक वेदना और कष्ट से मुक्त करना। वे ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान का आलोक उत्पन्न करना चाहते थे जिससे स्पृहा और वासना का विनाश हो।

बौद्ध धर्म में मानवता के विकास के लिए 'पारमिता साधना' की व्यवस्था है। मानवता के विकास के लिए जिस प्रणाली का प्रयोग होता है उसे पारमिता साधना कहते है। पालि बौद्ध शास्त्र में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा पारमिता का उल्लेख किया गया है।

मानवता के दुःख का कारण उसका अज्ञान है और बारह कारणों की श्रृंखला है। दुःख, जरा–मरण, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना स्पर्श, षडायतन, नामरूप,

संस्कार, अविद्या ये ही दुःखों के कारण है। यह अज्ञान है कि वह इस संसार की वस्तुओं को नित्य मानता है जबकि यहाँ सभी कुछ परिवर्तन– शील है, एक से एक की उत्पत्ति है जिसे बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा उन्हाने 'विश्व की क्षणभंगुरता की व्याख्या करते हुए स्पष्ट बताया है कि मनुष्य इस क्षणभंगुरता को देखकर भी स्वयं की सत्ता को नित्य मान बैठता हैं और ऐसा समझने लगता है कि सुख के सारे साधन भी नित्य है इसलिए वह अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति की लालसा रखता है और इसी लालसा में अनेक प्रकार की व्यथा, चिन्ता से घिरता चला जाता है। बुद्ध जीवन के इस जरामरण से परिपूर्ण सृष्टि को देखकर अपार करुणा से भर उठे थे और इसी व्यथा ने उन्हें 'आत्मदीपो भव' तक की साधना यात्रा को पूर्ण करने में सहायता की।

बुद्ध के धर्म सिद्धान्त में 'आर्य सत्य' का प्रधान योग था। जीवन में दुःख की अपरिहार्यता से उनके धर्म का प्रारम्भ हुआ था जो आर्य सत्य था। वस्तुतः बुद्ध ने दुःख को आर्य सत्य के अन्तर्गत रखा था जिसमें दुःख समुदाय, निरोध, निरोधागामिनी प्रतिपदा सम्मिलित थे। इन चार विभागों में बुद्ध–दर्शन के चिन्तन का दिग्दर्शन होता जो चत्वारि आर्य सच्चानि (चार आर्य सत्य) के रूप में सन्निहित है। बुद्ध ने इन्हीं चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया।

निश्चय ही यह वस्तुस्थिति है कि रोग को जाने बिना उसका निदान 'संभव नहीं। प्रतीत्यसमुत्पाद में दुःख के कारणों को निर्दिष्ट करके उनसे मुक्ति के उपाय बताए गए है। द्वादश निदान इस प्रकार है –

1. अविद्या से संस्कार, 2. संस्कार से विज्ञान, 3. विज्ञान से नामरूप 4. नामरूप से षडायतन (अर्थात् मन सहित पांच ज्ञानेद्रियाँ) 5. षडायतन से स्पर्श 6. स्पर्श से वेदना, 7. वेदना से तृष्णा, 8. तृष्णा से उपादान, 9. उपादान से भव (संसार में होने की प्रवृत्ति), 10. भव से जाति 11. जाति से जरा और 12. जरा से मरण। ये बारहों स्वरूप चार आर्य सत्यों से ही निःसृत है। इस शृंखला की प्रथम कड़ी अविद्या अर्थात् अज्ञान है। अविद्या को मोह और तमस्कन्ध कहा जाता है। बौद्ध सन्दर्भ में अविद्या चार आर्य सत्यों का अज्ञान है।[5] भगवान बुद्ध को यह विश्वास था कि दुःख का निरोध संभव है। चूंकि दुःख का उद्भव तृष्णा और अज्ञान से होता है इसलिए तृष्णा और अज्ञान का अन्त आवश्यक है। सांसारिक आकांक्षाओं का त्याग और अवरोध ही 'दुःख –निरोध' के अन्तर्गत गृहीत किया गया।

दुःख से मुक्ति पाने के लिए किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए तथा तृष्णा और अज्ञान जनित मनोवृत्तियों और संस्कारो से कैसे मुक्ति मिलनी चाहिए इसे बुद्ध

ने इस चौथे ज्ञान तत्त्व के अन्तर्गत प्रतिपादित किया है। उनका विचार था कि सुख–दुःख को किसी भी अति के मार्ग को अपनाने से दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। वस्तुतः भगवान बुद्ध इन दोनों अति मार्गों का अनुभव कर दोनों के बीच में प्रवाहित होने वाले मार्ग को ग्रहण करने का निर्देश किया एवं तपस्या और कठोर काया–क्लेश की साधना को त्यागकर दोनों के मध्यवर्ती मार्ग का उपदेश प्रदान किया, जिसे मध्यम मार्ग कहते हैं।

अन्त में भगवान बुद्ध ने संसार के आवागमन के चक्र से बचने ने लिए अर्थात् सम्पूर्ण दुःखो को अन्त कर निर्वाण–प्राप्ति के लिए 'आष्टांगिक मार्ग' के अनुपालन का निर्देश दिया, जो इस प्रकार हैं– सम्यक दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक समाधि। आष्टांगमार्ग की दुःख निवृत्ति में श्रेष्ठता स्वीकार की गयी है –

मग्गानठैगिको सेट्टठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागों सेटठो धम्मानं, द्विपदानां च चक्खुमा।। (धम्मपद 20.1)

दुःख के सत्य का साक्षात्कार पंचस्कन्धरूप, वेदना संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान के ज्ञान से होता है जो दुःख रूप मानवदेह का निर्माण करते हैं। सामान्यजन को तो दुःख के केवल उसी रूप का ज्ञान होता है जिसे वह समय–समय पर अनुभव करता है। उसे इस सत्य का ज्ञान नहीं होता है कि दुःख ही उसकी सत्ता के स्वरूप का निर्माण करता है।

महात्मा बुद्ध मानवतावाद के प्रबल व्याख्याकार थे तथा मनुष्य के उत्कर्ष के लिए निरन्तर सोचा करते थे। उनके अनुसार मानव का लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष धर्म की आधारशिला पर होता है। वस्तुतः बुद्ध का धार्मिक चिन्तन और तर्क बुद्धिवाद पर आधृत था। इसमें न कहीं पारम्परिक पाखण्ड था, न अंधविश्वास।

आज पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए आध्यात्मिक चेतना की आवश्यकता है जिससे मानव जीवन के बन्द कपाट और गवाक्ष फिर से खुल जाये। मनुष्य आत्मिक स्वतंत्रता प्राप्त कर मुक्त मानवों में स्थित ईश्वरत्व की चिनगारी को सुलगा सके एवं मानवता का उद्धार कर सके।

निष्कर्ष

सभ्यता का विकास मानवीय चिन्तन पर निर्भर करता है। अतः मानवीय चिन्तन की धारा जिस ओर हो, विकास उसी ओर होता है। वर्तमान समय में मानवीय चिन्तन की विकास धारा अभ्यन्तर न होकर बह्यन्तर हो गयी है और वह केवल सुख–सुविधा से भरे जीवन को ही विकास पूर्ण मान बैठा किन्तु उसकी इस चिन्ता ने उसके विचारों की ऐसी संकीर्णता एवं जटिलता उत्पन्न कर दी है कि

वह स्वकेन्द्रित हो गया है। उसका यह स्व केवल बाहरी अभिव्यक्ति को लेकर है इसलिए उसमें आज स्वार्थ, लोभ, मोह आदि सभी दुर्गुण जो मानवतावाद के विरोध में हैं और जिसकी स्पष्ट चर्चा महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में किया हैं। हमें महात्मा बुद्ध के जीवन–चरित एवं उनके द्वारा बताये गए नैतिक मार्ग अर्थात् आष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना होगा। उनके 'मानवतावादी विचारों को अपने जीवन में चरित्रार्थ करना होगा।

मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आभिव्यक्ति मानवता है। मानव के आत्मा की उन्नति तभी हो सकती है जब वह समस्त जीवों से स्नेह करने लगे। सार्वभौम मानवता का दर्शन प्रकाश मार्ग है, सत का पथ है और यहीं अमरत्व है। इसलिए भगवान बुद्ध ने कहा था, 'आत्मदीपो भव' अर्थात अपनी आत्मा को अपना दीपक बनाकर अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करने के लिए संकल्पित हो।

'मानवता' एक ऊँची उदार भावना है। स्वार्थ और संकीर्णता से उसका घोर विरोध है। मानवता वास्तव में एक मानव धर्म है जो सभी मनुष्यों से प्रेम करने की शिक्षा देती है तथा जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, धर्म, देश आदि के भेद–भाव को अस्वीकार करती है। वह मानव मात्र के हित के लिए व्यक्ति को अभिप्रेरित करती है।

संदर्भ

1. प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़ (पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान) : बौद्ध व जैन धर्म में मानवतावाद, अक्टूबर 31, 2020 लेख।
2. डॉ. (सुश्री) किरण कुमारी (एम. ए. दर्शन, एम. ए. संस्कृत, एम. ए., पी–एच० डी० व्याख्याता, संस्कृत विभाग गंगा देवी महिला महाविद्यालय कंकड़बाग पटना–20) : धर्म और दर्शन, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृष्ठ–131
3. डॉ. (सुश्री) किरण कुमारी : धर्म और दर्शन, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, 2004, पृष्ठ–132–133
4. डॉ. (सुश्री) किरण कुमारी : धर्म और दर्शन, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली 2004, पृष्ठ–190
5. डॉ. सन्तोष कुमार त्रिपाठी, डॉ. राकेश मणि त्रिपाठी : दर्शन का मानवतावादी दृष्टिकोण, जैन एवं बौद्ध दर्शन साहित्यागार, पृष्ठ –38

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

वेद वाङ्गमय में आयु तत्त्वमीमांसा

मधु कुमारी *

डॉ. नागेन्द्र मिश्र **

सनातन संस्कृति में समस्त ज्ञान विज्ञान के आदि श्रोत वेद है, ऋक्–यजु–साम तथा अथर्व ये चार वेद हैं और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गंधवर्वेद और शिल्पवेद उपवेद हैं। महात्मा मनु के अनुसार पितृ, देव तथा मनुष्य के सनातन चक्षु वेद ही है। भारतीय वाङ्गमय के वर्गीकरण के अनुसार आयुवेद की गणना उपवेदों में होता है, वेद अपरिवर्तनीय सत्य शाश्वत सनातन स्वयंभू है। उपवेद के रूप में आयुवेद भी वेद है। इसके भी निर्देश जो द्रव्य, श्रृतु, समय, मानव प्रकृति आदि के हैं, वे अलौकिक तथा अपरिवर्तनीय अर्थात मानव रचना के आयुसंबंधी प्रत्येक ज्ञेय विषयक ज्ञान (वेद) को आयुर्वेद कहा गया है। पंचभौतिक शरीर, चक्षुरादि इंद्रियाँ मन और आत्मा ये आयु के घटक तत्व हैं। इन चारों के संयोग की अवधि को आयु कहा गया है। वेद–पुराण–उपनिषद् आदि अन्य सभी श्रुति ग्रंथों में आयु की रक्षा और दीर्घायु का कामना से अनेकों प्रार्थनाएँ की गयी है। परमात्मा को पाना एक जन्म की नहीं जन्मों जन्म की तपस्या का फल है। अतः साधना के लिए लम्बी उम्र आवश्यक है।

पुराणों – उपनिषदों में सृष्टि का निर्माण पाँच भौतिक तत्व और चेतना का संयोग को माना गया है।[1] जड़ तथा चेतन सभी ईश्वर (ब्रह्म) की ही अवस्थाएँ हैं। इसके पाँच कोष बताएँ गए हैं – 1. अन्न, 2. प्राण, 3. मन, 4. विज्ञान और 5. आनंद। उपनिषदों में अन्न को ब्रह्म माना गया है। स्थूल शरीर अन्न से ही उत्पन्न होता है। अन्न से ही जीवित रहता है और अन्न के उद्गम स्थल में ही

** शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना*

*** एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, आर.पी.एम. कॉलेज, पटना सिटी, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना*

विलीन हो जाता है शरीर अन्नमय कोष है। अन्न के रस से बना हुए इस शरीर के भीतर एक और शरीर है उसका नाम प्राणमय है, यह सूक्ष्म शरीर है।[2] ऐसा प्रश्नोपनिषद् के प्रश्न–3 मंत्र 8 में भी बताया गया है देवता मनुष्य पशु आदि सभी प्राणी प्राण के सहारे ही जीते हैं। प्राण ही सभी प्राणियों का आयु (जीवन) है। इसलिए प्राण सर्वायुष कहलाता है। यह 'आयु ही जीवन है' जो मनुष्य यह प्राणतत्व को जान लेता है वह अमर हो जाता है।[3] प्राणमय पुरुष के भीतर उससे भी सूक्ष्म रहने वाला एक अन्य पुरुष मनोमय है। तैतरीय उपनिषद् के अनुसार पक्षी के रूप में एक प्रकार कल्पना की गयी है कि उसका मनोमय पुरुष का मानो अयुर्वेद सिर है, ऋग्वेद दाहिना पंख है, सामवेद बायाँ पंख है, विधि वाक्य शरीर का मध्यभाग है तथा अथर्ववेद के मंत्र पूँछ और आधार है।[4] बुद्धि के तद्रुप हुआ जीवात्मा, विज्ञानमय कोष है। जो अन्न से स्थूल शरीर प्राणमय के और मनोमय के है, वे ही परब्रह्म परमेश्वर है। विज्ञानमय जीवात्मा से भिन्न इसेक भीतर रहने वाली आत्मा आनंदमय परमात्मा है, यह परब्रह्म है।[5] अथर्ववेदीय उपनिषद् – प्रश्नोपनिषद् (मुण्डोकपनिषद्) के षष्ट प्रश्न में ब्रह्म को सोलह कलाओं से युक्त माना गया है। ये कलाए हैं – प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इंद्रिय, मन, अन्न, वीय, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम।[6] मनुष्य को ब्रह्माण्ड का छोटा नमूना माना गया है। सृष्टि और शरीर दोनों पाँच भौतिक है।

आयुर्वेद में आयु संबंधित सभी ज्ञान–विज्ञान की व्याख्या की गयी है। आयु के चार रूप बताए गए हैं हित आयु अहित आयु सुख, और दुख आयु।[7] सर्वहित चाहने वाली हितायु है। इसके विपरीत अहित आयु है। अहित आयु से बचना चाहिए और हित–आयु के लिए शास्त्रों के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। सुख आयु प्रदाय है तथा दुःख आयु कष्टकारी और अवांछनीय है। आयुवेद शास्त्र का उपदेश हित आयु व सुख आयु की प्रति और अहित आयु व दुःख आयु से बचने का मार्गदर्शक शास्त्र है। आयु, शरीर इंद्रिय मन और आत्मा के संयोग की अवस्था है। न्याय वैशेषिक सांख्य आदि दर्शन के सम्प्रदायों में शरीर, इंद्रिय, मन, आत्मा को पदार्थ के रूप में माना गया है। इनके परस्पर सहयोग से ही जीवन की स्थिति है। और जीवन से ही सृष्टि है।

प्राण जीवन शक्ति हे। प्राण ही मस्तिष्क – मन और शरीर को सजीव बनाए रखता है। प्राण के ही सम्पर्क से शरीर में विभिन्न प्राणियों के काम–काज का समर्थन करता है और शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्राण वह काल तत्व है जो सृष्टि की रचना या शिल्प को बढ़ाया है। प्रश्नोपनिषद् में बताया गया है वाणी, चक्षु श्रोत आदि सब

इंद्रियों और मन आदि अंतःकरण की वृतियों में प्राण तत्व सर्वश्रेष्ठ है। प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और यही सूर्य है, यही मेघ है, इंद्र और वायु है। यही देव, पृथ्वी और भूत–समुदाय है। सत् और असत् एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृत स्वरूप परमात्मा है, वह भी यह प्राण ही है।[8]

जिस प्रकार रथ के पहियों में लगे हुए अरे नायिके ही आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद की सब ऋचाएँ, सिद्ध होने वाले यज्ञादि शुभ कर्म और अनादि शुभ कर्म करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अधिकारी वर्ग – ये सबके सब प्राण पर ही टिके हुए हैं। सबका आश्रय प्राण ही है। प्राण ही प्रजापति है। गर्भ में विचरने वाला शिशु रूप जन्म लेने वाला भी प्राण ही है। प्राण की तृप्ति के लिए ही सब अन्न का भक्षण करते हैं। देवताओं के लिए हवि पहुंचाने वाला भी उत्तम अग्नि है। पितरों के लिए पहली स्वधा है। प्राण ही इंद्र 'रूद्र' – सूर्य है, चंद्र, तारे, मेघ है। प्रत्यक्ष दीखने वाले इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं सब प्राण के अधीन हैं।[9]

विश्व–दर्शन में सृष्टि के आदि तत्त्व की जिज्ञासा रही है। ईश्वास्योपनिषद् में जीवों के भीतर स्थित प्राण को वायु कहा गया है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रवाहित वायु को अनित्य कहा गया है। ईश्वर से यही प्रार्थना की गयी है कि हमारा प्राण विश्व के प्राण अर्थात् अनित्य में समाहित हो। व्यक्ति में जो प्राण है वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अनित्य है।[10] कठ उपनिषद् में अदिति को प्राण से उत्पन्न बताया गया है। प्राण को केवल ज्ञानी ही देखते हैं। यह अदिति प्रकृति है। अदिति का जन्म प्राण से हुआ है। प्राण प्राण वस्तुतः वायु है। वायु आदि तत्व हैं। प्राण के कारण ही प्राणियों का अस्तितव है। कठ उपनिषद् में यह भी बताया गया है कि सांसर में जो कुछ है वह सब प्राण की गति से उत्पन्न हुआ है।[11] बृहदारण्य उपनिषद् में प्राण का वर्णन कुल इस प्रकार किया गया है–'प्राण–मुख ओर नासिका में संचार करने वाली जो हृदय पर्यन्त वृति है, वह प्रणयन (वहिर्गमन) के कारण प्राण कहलाती है।' प्राण शब्द से वृतिमान अध्यात्मिक अन (वायु) कहा गया है। इसके कर्म की व्याख्या तो इसके वृत्ति भेद के प्रदर्शन से ही कर दी गयी है। वृहदारण्य उपनिषद् के अनुसार तीन लोक ये हैं – वाक, मन और प्राण। वाक् यह लोक है, मन अन्तरिक्ष लोक हैं और प्राण स्वर्ग लोक हैं। वाक्–मन–प्राण ही भूः भूवः और स्वः है। तीन वेद हैं– जिसमें वाक् ऋग्वेद हैं, मन अजुर्वेद के और प्राण सामवेद हैं। देवता, पितृ और मनुष्य में वाक् देवता है मन पितृगण है और प्राण मनुष्य है। माता–पिता और प्रज्ञा में वाक् माता है, मन पिता है और प्राण प्रज्ञा है।[12]

छान्दोग्य उपनिषद् के आख्यान में वर्णन हैं कि सभी इन्द्रियों की परीक्षा लेने के बाद प्राण की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। प्राण के बिना चक्षु–वाग्यादि इंद्रिय सभी शिथिल हैं। सभी इंद्रियों के अभाव में प्राण की स्थिति है। किन्तु प्राण के अभाव में इंद्रिय निष्क्रिय सिद्ध हुई। अन्त में, सभी इन्द्रियों द्वारा प्राण की स्तुति की गयी है।[13]

प्राण तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता बावजूद प्राण का अस्तित्व है। प्राण अध्यात्म का विषय भी है और भौतिक वाद का भी विषय है। (ऋग्वेद 7 : 87 :2) के अनुसार प्राण मूलतः वायु है। योग दर्शन में प्राण वायु पर संख्य को प्राणायाम कहा गया है।[14] प्राणायाम से प्राण की शुद्धि होती है।

आयुर्वेद शास्त्र में वायु के परमाणु रूप में नित्य माना गया है। विषय भेद से वायु तीन प्रकार की बतायी गयी है, जो वृक्षादित को हिलाती हो वह वायु है। शरीर के भीतर संचारित होने वाला प्राणवायु है। वह एक है परन्तु शरीरान्तर्गत स्थान भेद से उसकी पांच संज्ञाएँ दी गयी है। इस प्रकार संज्ञाएँ हैं – प्राण, उदात्त, समान, आपान और व्यान।

प्राण वायु – सुश्रुत संहिता के अनुसार प्राण वायु मुख से संपादित करने वाले अन्न को भीतर प्रवेश करनेवाला तथा प्राणि का अवलम्बन करता है। आचार्य उलहन ने इसका स्थान मुर्द्धा, उरए कण्ट तथा नासिका बताया है। प्राण सत्व गुण प्रधान तत्व हैं। प्राण वायु हृदय में, आपान गुण में, समान नाभि में, उदात्त कष्ट में और व्यान समग्र शरीर में है। प्राण वायु का गुण और कार्य कुछ इस प्रकार बताया गया है–

1. लघु, निर्मल, प्रकाश, शुद्ध, काल, सुख, ज्ञान संगी ज्ञान, विद्या।[15]

2. उदात्त वायु – भाषण, गीतादि तथा अवश्यसादि कार्य करता है नाभि उरू एवं कण्ठ में इसका स्थान है।

3. समान वायु – यह अमाशय एवं अमाशय मध्य स्थिति है। पाचनादि में सहायता करता है तथा शुल्य और अतिसार आदि रोग उत्पन्न करता है।

4. न्याय वायु – समग्र शरीर में संचरण करने वाला है। इसमें निमेष उन्मेष आदि क्रियाएं उत्पन्न की जाती है। यह कुपित होने पर प्रायः सर्वशरीगत रोग उत्पन्न करता हे।

5. अपान वायु – इसका स्थान महर्षि सुश्रुत ने पक्वाशय बताया है। यह अधोमार्गी होकर मूत्र युरीष आदि का विसर्ग करता है। परन्तु कुपित होकर यह अधोभाग स्थित वाहित तथा शुदासंक्षिप्त रोगों को उत्पन्न करता है।

जब शरीरगत पाँच प्रकार के वायु का प्रकोप वह जाता है तो शरीरान्त हो जाता है।[16]

समस्त सृष्टि पाँच भौतिक हैं। शरीर भी पाँच तत्वों से बना है। किंतु इन सभी में महत्वपूर्ण प्राण तत्व हैं जो सभी को क्रियाशील बनाए रखता है। प्राण सूर्य है। प्राण से ही सभी तत्व प्रकाशित हैं। प्राण कर्मों को शक्ति प्रदायक शक्ति है। वेद, उपनिषद, पुराण, गीता आयुर्वेद यादि सभी ग्रंथों में प्राण की महिमा बतायी गयी है। प्राण की स्तुतियाँ शामिल की गयी है। प्राण से ही जीवन है और प्रत्येक जीवन की इच्छा भी प्राण है। प्राण प्रथम ऐषणा है। प्राण सर्वायुष है। आयु की रक्षा मनुष्य का प्रथम धर्म है। आयुर्वेद उपनिषद् यम–नियमों का पालन कर प्राण को स्थिति को शुद्ध और बलवान बनाया जा सकता है। समग्र सृष्टि जितनी विस्तृत है, प्राण तत्त्व की महिमा उनकी ही विशाल है।

संदर्भ

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर अध्याय–6, श्लोक–3
2. तैतिरीय उपनिषद्, गीता, प्रेस, गोरखपुर वल्ली–2, अनुवाक–3, श्लोक–1–6
3. प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर प्रश्न–3, श्लोक–11
4. तैतिरीयउपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर अनुवाक–1–3
5. तैतिरीयउपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर भृगुबल्ली, अनुवाक–2–6
6. प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर षष्ठ प्रश्न
7. चरक संहिता, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी सं.–2016 पृ. 8
8. प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न–2, श्लोक 4–5, पृ. 34–35, गीताप्रेस, गोरखपुर
9. प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न–2, श्लोक 7–13, पृ. 37–42, गीताप्रेस, गोरखपुर
10. ईश्वास्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, मन्त्र–16–19, पृ. 40–41
11. कठ उपनिषद्, ईशादि नौ उपनिषद् गीता प्रेस, गोरखपुर, अध्याय–2, वल्ली–2, श्लोक–10, पृ. 127
12. वृहदारण्यकोपनिषद्, गीता–प्रेस गोरखपुर, अध्याय–5, श्लोक–3–5, पृ. 346–350
13. छान्दोग्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, अध्याय–5, खण्ड–1, श्लोक–6–14, पृ. 413–419
14. पातंजलयोगदर्शन, हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर अध्याय–2, श्लोक–50, पृ. 65
15. पदार्थ विज्ञान रविदास त्रिपाठी, चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली सं. –2016, पृ. 66–64
16. पदार्थ विज्ञान, रविदत्त त्रिपाठी, चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सं 2016, पृ. 68

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में निहित नैतिक मूल्य : एक दार्शनिक विवेचना

*प्रियंका यादव**

योग प्राचीन भारतीय परम्परा एवं संस्कृति की अमूल्य देन है। योग अभ्यास शरीर के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। मनुष्य जिन उद्देश्यों को समक्ष रखकर जीवन में अग्रसर होता है, धर्म, अर्थ, काम एवम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्ट्य में मोक्ष ही मानव–जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। योग दर्शन मानव आचरण, चरित्र और उसके मूल्य, उपयोगिता और महत्व के दिशा–निर्देशकों के रूप में कार्य करता है। नैतिक मूल्य हमारे व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को परिष्कृत करते हैं जिससे मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक रूप से अत्यधिक उत्कृष्ट होता है। महर्षि पतंजलि के अष्ट्रांग मार्ग के यम नियम हमे अपने जीवन को शुद्ध करने के अत्यंत अवसर प्रदान करते हैं। योगयाभ्यास से व्यक्ति अपने अंदर के नकारात्मक भावों को त्याग करके अपनी चेतना के अंदर शांति के लिए जगह बनाता है जिसके कारण वह क्रोध, हिंसा जैसे भावों से दूर रहता है। योग के अभ्यास से केवल शारीरिक एवम मानसिक शुद्धता नहीं होती है बल्कि अन्य जीवित प्राणियों के प्रति भावात्मक शुद्धता होती है। योग का लक्ष्य ही आंतरिक चेतना को प्रकट करना है, योग का अभ्यास मनुष्य के व्यक्तित्व में जो कुछ भी नकारात्मक और बुराई है उसे खत्म करना और उसमें जो कुछ भी है उसे विकसित करना है। महर्षि पतंजलि के योग में निहित नैतिक मूल्य के उपादेयता को इस लेख में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, नैतिकता गुण आधारित या कर्तव्य आधारित हो सकती है, गुण आधारित नैतिकता में हम में से प्रत्येक व्यक्ति किस प्रकार का व्यक्ति बनना चाहता है और कर्तव्य आधारित नैतिकता में नैतिक होने के लिए कौन

* *ICPR, JRF, दर्शन एवं धर्म विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

कौन से कर्तव्यों का पालन करता है। इस प्रकार से देखा जाए तो मनुष्य का जीवन नैतिक एवं मानवीय मूल्यों से परिपूरित है, व्यक्ति की जीवन पद्धति, आचरण, गुण कर्म, अनुभवजन्य, विकसित मूल प्रवितियां गुण–दोष, ज्ञान, तर्क–वितर्क, चिंतन शक्ति, बौद्धिक और भावनात्मक प्रवितियों मनुष्य के आंतरिक जीवन के प्रकाशक है। इन्ही मूल्यों के आधार पर सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।[1]

भारतीय नीतिशास्त्र एवं मानवीय मूल्यों की जड़े वैदिक साहित्य में हैं, जो संसार के सबसे प्राचीनतम दार्शनिक साहित्य है। वेद में एक सरल नीति संहिता की रचना मिलती है इसमें ऋत की अवधारणा का मुख्य स्थान है तथा सत्य सर्वोच्च सद्गुण है और असत्य एक दुर्गुण। मानवीय मूल्य एवं नैतिकता वस्तुत अन्योन्याश्रित है, मूल्य शब्द की रचना संस्कृत के मूल धातु से यत् प्रत्यय लगाने पर हुई है जिसका तात्पर्य कीमत या मजदूरी होता है परंतु दर्शन के अर्थ में समझा जाए तो इसका तात्पर्य है जो कुछ भी इच्छित है वही मूल्य है। मानवीय व्यवहार में मूल्य शब्द का अर्थ सहज जीवन, शुद्ध आचरण, आत्मसंयम, इंद्रिय निग्रह, आत्मशुद्धि से है। शील संतोष सत्य प्रेम अहिंसा नैतिकता लोकमंगल और लोक कल्याण की भावना भी मानवीय गुणों में भी सन्निहित है जो की मानवीय आवश्यकता की इच्छा की संतुष्टि के लिए प्रयोग में आता है। मूल्य शब्द का संबंध न केवल आध्यात्मिकता से है बल्कि सत्य,अहिंसा, शुद्धता, अच्छाई एवं सौन्दर्य से भी है।

प्रत्येक प्राचीन साहित्य में मनुष्य के नैतिकता एवं मूल्य की बात की गई है परंतु किसी में भी साहित्य में सहज एवं आदर्श उदाहरण प्रस्तुत नहीं किए गए जिससे पूरी तरह से सादा जीवन और उच्च विचार को चरितार्थ किया जा सके अर्थात् ये विचार योग दर्शन से लिया गया है। यह वास्तव में योग दर्शन का मुख्य आधार है यदि व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो मूल्य शिक्षा वास्तव में योग प्रणाली का ही दृष्टिकोण है। इसका महत्व इस तथ्य में निहित है कि योग मनुष्य के आंतरिक शक्तियों को विकसित करने में सहायक सिद्ध होता है। इसी सन्दर्भ में कहा गया है

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तरा भवति योगो हि प्रभवाव्ययौ।।[2]

अर्थात् इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग कहलाती है, क्योंकि ऐसी अवस्था में योग साधक प्रमाद रहित हो जाता है। परन्तु योग की अवस्था में उतार–चढ़ाव आते रहते हैं इसलिए साधक को योग का अभ्यास करते रहना चाहिए।

धर्म, जाति, लिंग, समय एवं काल से परे मानवीय मूल्य सार्वभौमिक मूल्य है। योग निहित मूल्य शिक्षा का लक्ष्य ही योग का प्रयोगात्मक एवं सैद्धांतिक शिक्षण–प्रशिक्षण इस रूप में देना की स्वास्थ्य एवं शारीरिक शिक्षा, रोगों के प्रति जागरूकता एवं मूल्यपरक शिक्षा से जुड़ सके और इनके प्रति पूर्ण समझ मनुष्य में जागृत हो सके, योग के विविध अभ्यास एवं विधियाँ मनुष्य के शारीरिक गठन एवं मांसपेशियों की सुदृढ़ता एवं मानसिक स्वास्थ्य में विशेष योगदान देते हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार मानव प्रकृति के विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक तत्वों पर नियंत्रण द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का व्यवस्थित प्रयास ही योग है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो– ऽष्टावङ्गानि।।[3]

योग के आठ अंग है – यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम एवं नियम पूरी तरह से आचरण एवं नैतिकता से संबन्धित है जिसको योग का सबसे कठिन चरण माना जाता है। इन आचरण सम्बंधी विषयों को सिद्ध करने के उपरांत प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, एवं संमाधि के उच्च एवं मानसिक अनुशासन से जुड़े चरण आसान हो जाते हैं किन्तु यदि कोई साधक इन दोनों मे ही पारंगत नहीं हो पाया तो इससे योग की राह मे बाधा उत्पन्न होता है, इससे सिद्ध होता है की नैतिकता एवं आचरण के लिए योग कितना महत्वपूर्ण है।[4]

योग के अनुसार यम एवं नियम का स्वरूप

अष्ट्रांग मार्ग में योग का पहला मार्ग यम है। यम हमें नैतिक, नैतिक अनुशासन मूल्य एवं सामाजिक मार्गदर्शन प्रदान करता है। यह मागदर्शन हमें सकारात्मक सोच एवं नवीन पथ प्रदान करती है जिससे हम मुक्ति के मार्ग में तल्लीन हो सके। यम मे कुछ गतिविधियाँ निर्धारित की गई है जिससे व्यक्ति को बचना चाहिए, नियम ने कुछ सिद्धांत निर्धारित किए गए हैं जिसका पालन करना चाहिए। इन दोनो से मिलकर नैतिकता के सिद्धांतों पूर्ण होते है जिसके अनुसरण से कोई भी जाति आध्यात्मिकता, पूर्णता के पथ पर आगे की यात्रा के लिए खुद को तैयार कर सकता है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।[5]

यम पाँच प्रकार के होते हैं – 1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. अपरिग्रह 5. ब्रह्मचर्य[6]

अहिसा : योग साधक को लिए हिंसा करना सर्वथा परित्याज्य है। हमें शारीरिक, मौखिक एवं मानसिक रूप से किसी भी चीज को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहिए। केवल वध न करना ही अहिंसा नही है अपितु समस्त प्राणियों

के प्रति मन वचन एवं कर्म से, मैत्री, करूणा आदि सद्भाव का पोषण भी अहिंसा के अन्तर्गत है। पतंजलि मानते है जो साधक अहिंसाप्रतिष्ठ होते है उनका समस्त प्राणियों में स्वाभाविक वैर त्याग हो जाता है। अहिंसा के अतिरिक् शेष चारों यम अहिंसामूलक ही है और उनका अनुष्ठान अहिंसा की निर्मलता के हेतु किया जाता है। अन्य सत्यादि यमों का अनुष्ठान न करने से असत्यादि द्वारा अहिंसा मलिन होने का भय रहता है।[7]

सत्य : मन, वचन एवं कर्म से सत्य का पालन और मिथ्या का त्याग ही सत्य है। सत्य के मार्ग पर चलना कठिन है, जब आप पतंजलि के यम का अनुसरण करते है तो सत्य मे जीना ही सभी जीवित प्राणियों के प्रति अखण्डता एवं समन्वय प्रदान करता है। योग पथ के उन उच्च सत्य को स्पष्ट रुप से देखने की दृष्टि भी प्रदान करता है।

अस्तेय : दूसरे के धन का अपहरण करने की प्रवृति का त्याग ही अस्तेय है अर्थात् दूसरे के स्वामित्व का अपहरण करना स्तेय है और उसका अभाव अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य : विषय–वासना की ओर झुकाने वाली प्रवृति का परित्याग। ब्रहाचर्य के द्वारा ऐसी इंद्रियों के संयम का आदेश दिया जाता है जो कामेच्छा से सम्बन्धित है।

अपरिग्रह : अपने स्वार्थ के लिए धन, सम्पत्ति एवं भोग सामग्री मे संयम न करना परिग्रह है और इसका अभाव अपरिग्रह है।

योग दर्शन में मन को सबल बनाने के लिए ये पाँच प्रकार के यम का पालन आवश्यक समझा गया है। इनके पालन से मानव बुरी प्रवृतियों को वश में करने से सफल होता है जिसके फलस्वरूप वह योग मार्ग मे आगे बढ़ता है।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।[8]

नियम – नियम 5 प्रकार के होते हैं –1. शौच 2.संतोष 3. तप 4. स्वाध्याय 5. ईश्वर प्राणिधान

शौच : शौच के अंदर बाहरी और आंतरिक शुद्धि समाविष्ट है। स्नान, पवित्र भोजन, स्वच्छता के द्वारा बाहरी शुद्धि तथा मैत्री, करूणा, सहानभूति, प्रशन्नता, कृतज्ञता के द्वारा आंतरिक अर्थात मानसिक शुद्धि को अपनाना चाहिए।

संतोष : इसे समझना मुश्किल नही है लेकिन इसका पालन करना कठिन है। कर्तव्य का पालन करते हुए जो प्राप्त हो उसमें संतुष्टि रखना या जो कुछ परमात्मा की कृपा से प्राप्त हो उसमे संतुष्टि रखना ही संतोष है।

तप : तप और तपस्या का अर्थ है कि मन और शरीर को अनुशासित रखना, सुख–दुख, सर्दी–गर्मी, भूख प्यास, जैसे द्वंध्वो को सहन करते हुए मन व शरीर को साधना भी तप है।

स्वाध्याय : स्वाध्याय में केवल वेद वेदान्तों का ही ज्ञान अर्जित करना ही नहीं बल्कि व्यक्ति को खुद के बारे में भी चिंतन करना जरूरी है, स्वयं का भी अध्ययन करना चाहिए, जिससे हम खुद में भी सुधार कर सकें। विचारों में शुद्धि और ज्ञान प्राप्ति के लिए विद्याभ्यास, धर्मशास्त्रों का अध्ययन, तथा सत्संग आदि का आदान– प्रदान स्वाध्याय है।[9]

ईश्वर प्रणिधान – ईश्वर के प्रति श्रद्धा और आस्था रखना ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है, इस नियम का पालन करने के पीछे सबसे बड़ी वजह है– मनुष्य का आंतरिक निर्माण ताकि अपने आप को हम बेहतर तरीके से जान सके, मन वाणी, और कर्म से ईश्वर के भक्ति के साथ उसके नाम, रूप, गुण, लीला आदि कीर्तन, श्रवण, मनन करने जैसे समस्त कर्म ही ईश्वर प्राणिधान है।

पतंजलि का योगसूत्र सामाजिक पहलुओं को समर्पित है। योग के सभी मार्ग आत्म जागरुकता, स्वतन्त्रता और मुक्ति की स्थिति तक पहुँचने के लिए आवश्यक आधार है योग के यम एवं नियम जैसे नैतिकता का मूल आधार है वैसे ही योग के अन्तिम अंगों को संयम के रूप में संदर्भित करते हैं और इसे चित्त और आत्म ज्ञान प्राप्त करने की तकनीक कहते हैं।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।[10]

जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है

इस प्रकार से देखा जाए तो महर्षि पतंजलि अपने योग दर्शन में नैतिक मूल्यों के माध्यम से सार्वभौमिक प्रेम और करुणा की कल्पना करते हैं यह अवधारणा मानवता के लिए एक सार्वभौमिक दृश्टिकोण है जो आज की दुनिया के लिए अत्यधिक प्रासंगिक है। पतंजलि ने स्पष्ट कहा है कि यम और नियम का अभ्यास किसी विशेष भौगोलिक या सामाजिक स्थिति के बाध्यता से बाहर है। योग दर्शन मानव आचरण और चरित्र के लिए दिशा निर्देश के रूप मे कार्य करता है और इसके नैतिक मूल्य हमारे व्यक्ति के विभिन आयामों को परिष्कृत करते है योग का अंतिम लक्ष्य आत्मबोध है जिसे एक प्रकार की स्वतंत्रा भी कहा जा सकता है। इस प्रकार यम और नियम हमे अपने जीवन की पवित्रता को अपनाने का

अनंत अवसर प्रदान करते हैं। यूनेस्को ने अपनी रिपोर्ट में उच्चतर आदर्शों के रूपों में learning treasure within में spirituality को भी समाहित किया है। इस प्रकार उपयुक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि योग एक सार्वभौमिक मूल्य है और प्रत्येक मानव के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को प्रतिपादित करता है।[11]

संदर्भ

1. योग सूत्र 2/29
2. योग सूत्र 2/30
3. योग सूत्र 2/32
4. डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव : पातज्जलयोगदर्शनम् ,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
5. महर्षि पतंजलि : योग सूत्र अनुवादक श्री नन्दलाल दशोरा, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार
6. एस.एन. दासगुप्ता : योग दर्शन, मोती लाल बनारसी दास
7. विमला कर्नाटक : पतंजलि योग दर्शनम, काशी हिंदू विश्वविद्यालय (भाग 1,2)
8. डा. नलिनी शुक्ला : पतंजलि योग सूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, शक्ति योगाश्रम
9. बह्मालीन मुनि : पातंजल योगदर्शन, , चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
10. प्रो.एच. पी. सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूप रेखा, मोतीलाल बनारसी दास
11. भगवतगीता 6/23

❑

ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक अभिनिर्देशित (Peer Reviewed)

UGC Care Listed Journal : Group-I , Sl. No. - 4

वर्ष-69, अंक-1, जनवरी-मार्च, 2023

स्वामी विवेकानंद की मानव–निर्माण शिक्षा : एक अध्ययन

*अंकित समाधिया**

प्रस्तुत शोध–आलेख में, स्वामी विवेकानंद की 'मानव–निर्माण शिक्षा' की चर्चा की गई है। शिक्षा व्यक्तित्व का निर्माण करती है। कुछ चिंतक शिक्षा के प्रकटीकरण के लिए बाह्य परिस्थितियों को प्रमुख उत्प्रेरक मानते हैं। कुछ इसे आत्मा में जन्मजात रूप से विद्यमान मानते हैं। विवेकानंद के कथनानुसार 'शिक्षा मानव में पहले से ही विद्यमान दिव्यता की अभिव्यक्ति' है। अद्वैत वेदांत के प्रति आस्था के कारण ही वे शिक्षा के सम्बंध में ऐसी धारणा रखते हैं। वेदांत व्यक्ति को स्वभावतः दिव्य मानता है। आत्मा में सारी शक्तियाँ पहले से ही विद्यमान हैं। उपयुक्त शिक्षा इनको प्रकट भर कर देती है। विवेकानंद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव–निर्माण है। मानव–निर्माण से उनका अभिप्राय ऐसे समग्र व्यक्तित्व से है, जिसमें बुद्धि, भाव और संकल्प की सभी शक्तियाँ जाग्रत हो चुकी हों। स्वामी विवेकानंद के अनुसार ''मानव में पहले से ही विद्यमान पूर्णता की अभिव्यक्ति, शिक्षा है।''[1] शुद्ध ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है, शिक्षा उस ज्ञान को अभिव्यक्त कर देती है। उनके शिक्षा–दर्शन की यह मूलभूत संकल्पना उन चिंतकों के शिक्षा–दर्शन की इस मान्यता से विपरीत है, जो ज्ञान के प्रकटीकरण के लिए बाह्य परिस्थितियों को प्रमुख उत्प्रेरक मानते हैं। शिक्षा में 'शिक्षक या गुरू की भूमिका' भी इसी से सम्बद्ध एक और विचारणीय बिंदु है। यदि पूर्णता आत्मा का सहज स्वभाव है तो गुरू का कार्य उस ज्ञान को बाहर लाना भर है। ज्ञान के अवरोधक या बाधा को दूर कर देना ताकि आत्मा अपने ज्ञान के प्रकाश को उद्‌भासित कर सके, जैसे एक कृषक पानी के बहाव के मध्य की बाधाओं को दूर

* *पीएच. डी. शोधार्थी, भारतीय दर्शन, साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, रायसेन (म.प्र.)*

कर देता है कि ताकि पानी अपने स्वभाव के अनुसार खेत में नीचे की ओर चला जाए।[2]

भारतीय संस्कृति में शिक्षा का व्यापक उद्देश्य निरूपित किया गया है। भारतीय पुरूषार्थ व्यवस्था मोक्ष को परम पुरूषार्थ निरूपित करती है। वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य इसी मोक्ष की प्राप्ति है। कौशल–विकास करके हमें जीवन–संग्राम में दक्ष बनाने वाली शिक्षा, एक दूसरा रूप है। शिक्षा के इन दोनों आयामों को विष्णु पुराण निम्नलिखित रीति से व्यक्त करता हैः–

''कर्म वही है जो बन्धन का कारण न हो और विद्या भी वही है जो मुक्ति की साधिका हो। इसके अतिरिक्त और कर्म तो परिश्रमरूप तथा अन्य विद्याएँ कला कौशल मात्र ही हैं।'' (तत्कर्म यत्र बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्।।[3]

मानव–निर्माण से उनका अभिप्राय ऐसे समग्र व्यक्तित्व से है, जिसमें बुद्धि, भाव और संकल्प की सभी शक्तियाँ जाग्रत हो चुकी हों।प्रायः एक ही व्यक्ति में कोई एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। ज्ञान, इच्छा और भाव आदि मानव–मन के घटक तत्व हैं। इनमें से किसी एक तत्व की किसी एक व्यक्ति में प्रधानता होती है। इसी से व्यक्तियों में परस्पर भेद होता है। इन भेदों को दृष्टिगत करते हुए, स्वामी विवेकानंद पृथक् से चार प्रकार के मन और संस्कार वाले लोगों का अग्रलिखित उल्लेख करते हैं –

''प्रथम कर्मठ व्यक्ति, जो कर्मेच्छुक हैं। उनके नाड़ीतंत्र और माँसपेशियों में विपुल शक्ति है। उनका उद्देश्य है काम करना, अस्पताल तैयार करना, सत्कार्य करना, रास्ता बनाना, योजना स्थिर करके संघबद्ध होना। द्वितीय, भावुक, जो उदात्त और सुन्दर को सर्वान्तःकरण से प्रेम करते हैं। वे सौन्दर्य की चिंता करते हैं, प्रकृति के मनोरम दृश्यों का उपभोग करने के लिए, और प्रेम करते हैं, प्रेममय भगवान की पूजा करने के लिए। .... तृतीय, योगमार्गी व्यक्ति, जो अपने का विश्लेषण करना और मनुष्य के मन की क्रियाओं को जानना चाहते हैं। .... चतुर्थ, दार्शनिक, जो प्रत्येक विषय की परीक्षा लेना चाहते हैं – और अपनी बुद्धि के द्वारा मानवीय दर्शन से जहाँ तक जाना सम्भव है, उसके भी परे जाने की इच्छा रखते हैं।''[4] इस विवरण में, इच्छा, भाव और ज्ञान के रूप में मानवीय मन के तीनों घटक समाहित हो जाते हैं। एक समग्र व्यक्तित्व में सारतः ये सभी गुण विद्यमान होना आवश्यक हैं।

विवेकानंद ऐसी शिक्षा के अभिलाषी हैं, जिससे चरित्र निर्माण होता हो, जिससे मन और बुद्धि की शक्ति बढ़ती हो। ऐसी शिक्षा में स्वावलंबन का

आवश्यक गुण उपस्थित होगा। जो जिज्ञासु को अपने पैरों पर खड़ा करने में सक्षम होगी।[5] ऐसी शिक्षा में आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार का ज्ञान शामिल होगा। यह जिज्ञासु को मोक्ष–प्राप्ति की ओर उन्मुख करने में सहायक होगी।

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रवर्तित 'मानव–निर्माण शिक्षा' के लक्ष्यरूप, मोक्ष तत्व की उपस्थिति बिल्कुल सोद्देश्य, युक्तियुक्त और प्रासंगिक है। भारतीय दार्शनिक परम्परा; दुःखों के आत्यन्तिक क्षय, कर्मबंधनों के क्षय, अविद्या–तिरोधान, आत्मसाक्षात्कार और जन्म–मरण संसरण से मुक्ति तथा आनंदस्वरूपता में अवस्थिति आदि को मोक्षावस्था निरूपित करती है। विवेकानंद को यह सभी मान्य हैं, किंतु वे भारतीयों की 'कर्मबंधनों के भय' और 'पुनर्जन्म से पलायन' की मनःवृत्ति की समीक्षा करते हैं। उनके अनुसार यदि जीवात्मा अज्ञानपूर्वक जन्म ग्रहण करती है, तो वह ऐसा ज्ञानपूर्वक भी कर सकती है। उनके विचार में मुक्ति की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। अतः आत्मा के अनंत विस्तार की सम्भावनाएँ सदैव विद्यमान रहती हैं।

मानसिक एकाग्रता या मनःनिग्रह के पूर्व शिक्षा का सारा उपक्रम व्यर्थ है। शिक्षा के आदर्शात्मक एवं व्यावहारिक प्रयोजन के लिए मनःसंयम का होना बहुत आवश्यक है। मानसिक प्रशिक्षण के अभाव में शिक्षा केवल कुछ सूचनाओं का श्रमपूर्ण संकलन मात्र है।[6] मानसिक एकाग्रता को अत्यधिक महत्व देने के कारण स्वामीजी के शिक्षा दर्शन मे योगाभ्यास का स्वयंमेव स्थान बन गया है। योग शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यधिक आवश्यक है।शिक्षा समाज–परिवर्तन की वाहिका है। स्वामी विवेकानंद तत्कालीन समाज सुधार के आंतरिक परिवर्तन से रहित, सतही सुधार को संदेह की दृष्टि से देखते थे। उनका आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा सामाजिक उत्थान में विश्वास था। इस कार्य के लिए वे ऐसे समर्पित–भावपरायण ब्रह्मचारियों एवं ब्रह्मचारिणियों से सहयोग की आकांक्षा रखते थे, जो आमजन को भौतिक शिक्षा के साथ–साथ आध्यात्मिक शिक्षा भी प्रदान करते। उनके अनुसार सामाजिक जड़ता को बनाये रखने वाली स्वार्थपरता, संकीर्णता, धन एवं सत्ता की लालसा को केवल प्रेम और करूणा की आध्यात्मिक शिक्षा से ही समाप्त किया जा सकता है। ऐसी धार्मिक या आध्यात्मिक शिक्षा अंधविश्वास से रहित तथा पूर्णतः तार्किक दृष्टि सम्पन्न होगी। समाज उत्थान के लिए आम जनता में ज्ञान के प्रचार के महत्व का दिग्दर्शन कराते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं –

''प्राचीन (भारत, मिश्र, रोम) और आधुनिक सभ्यताओं (यूरोप और अमरीका) के बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ जब से शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे–धीरे नीच जातियों में फैलने लगी। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस जाति की जनता में विद्या–बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह जाति उतनी ही उन्नत है।''[7] स्वामीजी के अनुसार आम जनता में ज्ञान के प्रचार से उनकी खोई हुई अस्मिता वापस प्राप्त होगी।

विवेकानंद के अनुसार महिला सशक्तिकरण के लिए उनके समक्ष पुरूषों के समान ही, समान अवसरों की उपलब्धता होना आवश्यक है। नारियों के शोषण को केवल उन्हें शिक्षा के अवसर देकर ही रोका जा सकता है। एक शिक्षित नारी ही समाज–उत्थान की मुख्य वाहिका है, क्योंकि ऐसी आदर्श नारी से ही सामाजिक जीवन के मूलभूत मूल्यों को सीखा जा सकता है। इसीलिए स्वामीजी ने ब्रह्मचारियों के साथ ब्रह्मचारिणियों का भी आह्वान किया, ताकि वे मातृसम अनासक्त भाव से समाज सेवा का जीवन–आदर्श अपना सकें।[8] शोषक और शोषित के भेद को भी उचित शिक्षा के प्रचार से समाप्त किया जा सकता है।एक समग्र व्यक्तित्व जिसमें ज्ञान, कर्म, मानसिक निग्रह और भक्ति का उचित सामंजस्य हो ही, मोक्ष के पुरूषार्थ की प्राप्ति करने में सक्षम है। ऐसा संतुलित व्यक्तित्व ही जीवन संग्राम में स्वावलंबन के सद्गुण को शिरोधार्य कर सकता है। शिक्षा के आदर्श को प्राप्त करने का साधन योग है, जिसमें मनः और देह संयम अंतर्निहित है। स्वामीजी को दोनों प्रकार की शिक्षा अर्थात् आध्यात्मिक और भौतिक, शिक्षा मान्य हैं। वे व्यक्ति के नैतिक उन्नयन को शिक्षा का एक अपृथक् अंग मानते हैं, इसलिए वह धार्मिक या आध्यात्मिक शिक्षा को बहुत अधिक महत्व देते हैं। शिक्षा के माध्यम के रूप में, वे मातृ–भाषा के पक्षधर हैं। समाज–उत्थान के लिए शिक्षा की भूमिका को अंगीकार करके ही उन्होंने, आम जन में विज्ञान की शिक्षा के प्रसार का विचार प्रकट किया। यही कारण है कि वह वेदांत–साहित्य को भी आमजन के लिए सुलभ बनाये जाने के पक्षधर हैं। जिसे शिक्षा की सबसे ज्यादा आवश्यकता है, उसे सबसे पहले शिक्षा उपलब्ध कराई जाना चाहिए। उन्होंने शिक्षा–प्रदान किए जाने के प्रचलित सीमित दृष्टिकोण के स्थान पर अत्यंत उदारवादी रूख अपनाया। यह दृष्टिकोण नारी–शिक्षा के क्षेत्र में परिलक्षित होता है। परिवार एवं बच्चे के पालन–पोषण में नारी का योगदान सबसे अधिक होता है। यही कारण है कि उनके शैक्षणिक अभिक्रम में नारी–शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है।

स्वामी विवेकानंद किसी ज्ञान को आत्मसात किए जाने पर अत्यधिक बल देते हैं। केवल बौद्धिक रूप से ही किसी बात को समझना, ज्ञान की अधूरी प्रक्रिया है। भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक आदि प्रत्येक आयाम पर किसी ज्ञान को कस लेना और धैर्यपूर्वक उसको आचरण में लाने से ही उसका वास्तविक मूल्य प्रकट होता है। स्वामी विवेकानंद, शिक्षा के निष्पादन में गुरू एवं शिष्य के प्रत्यक्ष जीवंत सम्बंध को आवश्यक मानते हैं। यदि मानव–निर्माण ही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य हो तो यह गुरू के प्रत्यक्ष जीवंत आदर्श के बिना संभव नहीं है। साथ ही वे नैतिक शिक्षा को शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग मानते हुए, इसमें शिक्षक की सर्वप्रमुख भूमिका को स्वीकार करते हैं। आज के तकनीकी युग में ऑनलाइन शिक्षा को कारगर माना जा रहा है।

सारतः स्वामीजी ने शिक्षा का प्रयोजन, 'मानव–निर्माण' निरूपित किया है, जो 'चरित्र–निर्माण' के रूप में प्रत्यक्ष होता है। यदि चरित्र में कुछ नैतिक–आध्यात्मिक सद्गुण दिखाई दें, तो कह सकते हैं कि व्यक्ति का चरित्र निर्मित हुआ है। 'मानव–निर्माण' से उनका आशय एक समग्र व्यक्तित्व–विकास है, जिसमें हृदय, ज्ञान एवं कर्म का समुचित विकास हुआ हो। इस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मनःनिग्रह है। इन लक्षणों से रहित ऐसी शिक्षा जो केवल परायी भाषा और भावों के प्रदर्शन तक ही सीमित हो, स्वीकार्य नहीं हो सकती। शिक्षा तो श्रद्धा और स्वावलम्बन प्रदान करती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उनके भाव, बुद्धि एवं कर्मशक्ति के त्रि–विकास का प्रयोग किया गया है।

संदर्भ

1. विवेकानंद साहित्य खंड–4 कोलकाताः अद्वैत आश्रम,ए 2001, पृ. 358
2. विवेकानंद साहित्य खंड–1 कोलकाताः अद्वैत आश्रम,ए 2001ए पृ. 291. 292
3. विष्णुपुराण 1/19/41
4. विवेकानंद साहित्य खंड– 3. कोलकाताः अद्वैत आश्रम,2006, पृ. 149
5. वही, पृत्र 334
6. विवेकानंद साहित्य खंड–6. कोलकाताः अद्वैत आश्रम,2004, पृ. 106
7. विवेकानंद साहित्य खंड– 6. कोलकाताः अद्वैत आश्रम,ए 2001, पृ. 38
8. देखिए 'विवेकानंद साहित्य खंड– 6, कोलकाताः अद्वैत आश्रम, 2004, पृ. 310

❑